

भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास
(BHARAT ME PRATIK PUJA KA ARAMBH AUR VIKAS)

भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास

लेखक
श्री लालबहादुर शास्त्री



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना

1(C) बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७४

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ९८

प्रथम संस्करण : फरवरी, १९७४

२,०००

मूल्य : रु० ११-०० (ग्यारह रुपये) मात्र

प्रकाशक :

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

कदमकुर्मी, पटना—८००००३

मुद्रक :

पाण्डेय प्रेस,

पटना—८००००४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार, विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्त-शासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरम्भ और विकास श्री सौमिल्या बिहारी लाल वर्मा की मौलिक रचना है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

अदितीनाथ दुधौ

पटना,

दिनांक २८-२-७४

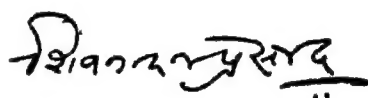
अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास श्री साँवसिया विहारी लाल वर्मा की मौलिक कृति है। साँवसिया बाबू बरिष्ठ विद्वान् और अनुभवी लेखक है। यह ग्रंथ इन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। आशा है, इस ग्रंथ से पाठको को यथोचित लाभ मिलेगा।

इसका मुद्रण-कार्य पाण्डेय प्रेस, पटना ने किया है। प्रूफ-स्पोषन का कार्य श्री रामकिशोर ठाकुर ने किया है। इसके आवरण-चित्र का निर्माण तथा उसकी छपाई नेशनल ब्लोक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, पटना ने की है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।



पटना,

दिनांक २८-२-७४

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी



इजन्त रमणीय डा० राजेन्द्र प्रसाद

समर्पण

भारतीय शील एवं संस्कृति
के प्रतीक

भारत के प्रथम राष्ट्रपति
देशरत्न स्वर्गीय

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
को

उनकी पुण्य स्मृति में
सादर समर्पित !

—लेखक

मेरे दो शब्द

लगभग पन्चीस वर्ष पूर्व 'विश्वधर्म-दर्शन' नामक ग्रंथ के प्रणयन के संदर्भ में मुझे चारों वेद, १७९ उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराणादि धार्मिक ग्रंथ तथा अवेस्ता, बाइबल, कुरान, मुसग्रंथ साहब आदि के अध्ययन-मनन का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्हीं दिनों भारत में 'प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरंभ और विकास' पर ग्रंथ लिखने की प्रेरणा जगी थी, किन्तु सन् १९६४ ई० तक कुछ ऐसी व्यस्तता रही कि उस प्रेरणा को मैं मूर्त रूप नहीं दे सका। व्यस्तता कोई जागतिक नहीं थी। 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' नामक एक प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजना था, संस्कृति-संस्थान, बरेली से प्रकाशित होनेवाले 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' को अंतिम रूप देना था तथा बदरीनाथ, रामेश्वरम्, द्वारिकापुरी आदि की यात्रा में अनुभूत भारत की धार्मिक गरिमा को 'भारत के तीर्थ और मंदिर' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध करना था। और, जब 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' प्रेस में प्रकाशनार्थ चली गई तथा 'भारत के तीर्थ और मंदिर' तथा 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' की पांडुलिपियाँ प्रेस के लिए तैयार हो गईं, तब वह गुप्त प्रेरणा पुनः अपनी पूरी शक्ति के साथ जगो और लगभग पाँच वर्षों के निरंतर अन्वेषण, अध्ययन तथा संयोजन के पश्चात् यह ग्रंथ पूरा हो सका।

अनेक भावुक हिंदुओं का विश्वास है कि मूर्ति-पूजा वेदकाल के आर्यों में प्रचलित थी। इस धारणा को पुष्टि के लिए कतिपय विद्वान् वेदादि प्राचीन ग्रंथों के मंत्रों तथा श्लोकों का मनमाने ढंग से अनुवाद कर मूर्ति-पूजा को वैदिक काल के आर्यों में प्रचलित प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। उनके ऐसे तर्कों में आस्था और भावना ही प्रबल है, ऐतिहासिक यथार्थ नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी ऐतिहासिक तथ्य एवं यथार्थ का सप्रमाण प्रतिपादन करने का प्रयास है।

इस ग्रंथ का अंतिम परिच्छेद, हिंदी के विद्वान् चितक, प्राचार्य श्री नवल-किशोर गौड़ (लगटसिंह महाविद्यालय, गुजपपरपुर) के सुकाव का परिणाम है। सीतामढ़ी आने पर उन्होंने इस ग्रंथ की पांडुलिपि देखी और पढ़कर प्रभावित हुए। उन्होंने सुभाष दिया कि यदि 'मूर्ति-पूजा का विश्वधर्म-दर्शन' नामक एक परिच्छेद जोड़ दिया जाता तो और भी

उत्तम होता । अतः इस ग्रंथ का अंतिम परिच्छेद उन्हीं के सुभाष का कलात्मक परिणाम है । इस सुभाष के लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

बिहार के लोकायुक्त डाक्टर श्रीधर बासुदेव सोहोनी, आई० सी० एस० (अवकाश-प्राप्त) भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ एवं विख्यात विद्वान् हैं । भारतीय संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वों के वे निष्णात पारखी हैं । अतः उपयुक्त व्यक्ति समझकर मैंने जब उनसे इस ग्रंथ की भूमिका लिखने के लिए अनुरोध किया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया । इस कृपा के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

यशस्वी कवि एवं गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी के विद्वान् प्राध्यापक डॉ० मदनमोहन पूर्णन्दु, डी० लिट्० ने अपने स्मरणीय किन्तु अबतक अप्रकाशित शोध-ग्रंथ (कला-विवेचन के सदर्भ में मध्ययुगीन हिंदी-काव्य) में विवेचित प्रतीक एवं बिंब-विधान के आधार पर इस ग्रंथ के कई स्थलों के लिए मौलिक सुभाष देकर इसका उपयोगिता बढ़ाई है । अतः वे मेरे स्नेह के विशेष अधिकारी हैं ।

मेरे जामाता श्री रामनारायण गौड़, बी० ए० ने प्रेम के लिए पांडुलिपि तैयार की है । अतः मेरी शुभकामनाएँ उनके लिए हैं ।

इस ग्रंथ में भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का जो चित्र दिया गया है, उसको बिहार-सरकार के जनसपर्क विभाग के वरिष्ठ कलाकार, मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री विजय कुमार वर्मा ने बनाया है । यही इस चित्र की विशेषता है ।

इस ग्रंथ के लिखने में वेदादि प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त कतिपय प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों एवं लेखों से मुझे सहायता मिली है । अतः मैं उन सबके लेखकों का आभारी हूँ ।

प्रस्तुत विषय पर मुझे कोई प्रामाणिक ग्रंथ हिंदी या अंग्रेजी में देखने को नहीं मिला । अतः इस महत्त्वपूर्ण विषय का मैंने संक्षेप में दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है । मेरा ज्ञान सीमित है, अतः मैं यह कहने की धृष्टता नहीं कर सकता कि मेरा विचार अकाट्य है । मेरा मुख्य उद्देश्य विद्वानों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करना है ।

श्री मथुरा प्रसाद स्मारक गीताभवन

सीतामढ़ी कोट

शैल शुक्ल रामनवमी, सं० २०३१ (१-४-'७४) साँवल्याबिहारी लाल वर्मा

भूमिका

I

मेरे ज्ञानबूढ़ सन्मित्र श्री साँवलिया विहारी लाल वर्मा जी ने गत ५० वर्षों से अधिक की अवधि में श्रीशारदा की उपासना की है, और ऐसे दीर्घकाल में, उनके अविरत परिश्रम के आधार पर उनकी लेखनी अस्खलित गति से चलती आ रही है। न केवल महाभारत (१९१५) और रामायण (१९६६) पर उनके ग्रंथ प्रसिद्ध हुए हैं, बल्कि धार्मिक यात्राओं के अनेक वर्णनात्मक ग्रंथ उन्होंने लिखे हैं—‘बद्री-यात्रा’ (१९४८), ‘दक्षिण-भारत की यात्रा’ (१९५६), ‘गमेश्वरम्-यात्रा’ (१९६०)। उनके दर्शन-विषयक ग्रंथ भी सुप्रसिद्ध हैं : ‘इस्लाम की झँकी’ (१९४८), ‘विश्वधर्म-दर्शन’ (१९५३) और लगभग चालीस उपनिषदों पर भाष्य (‘नई धारा’ में धारानाहिक)। उनके दो अप्रकाशित ग्रंथ भी मुद्रण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिनमें शंकराचार्य से लेकर डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तक, गीता का समन्वयवादी भाष्य प्रमुख है। इन कृतियों के अतिरिक्त उनका उल्लेखनीय ग्रंथ, ‘अंतर्राष्ट्रीय विधि’, सन् १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ, जो उनके व्यवसाय के व्यासंग में जो अध्ययन हुआ, उसका परिचय देता है। श्री वर्माजी का जीवन विधायक दृष्टिकोण के आधार पर बहुत प्रयत्नशील और क्रियाशील होने से दूसरों के लिए आदर्शभूत हो चुका है। कवि ने कहा है—‘न ह्येकस्मिन् अनिशयवतां सनिपातो गुणानाम्’। परन्तु श्री वर्माजी को इस नियम का अस्वाभाव मानना चाहिए। विशेषतः वर्तमान प्रसंग में यह दिखाई पड़ता है कि श्री वर्माजी के इस ग्रंथ की निर्मिति की भूमिका वर्षों से समृद्ध हो रही थी, और अपने सतुलित तथा गंभीर चिंतन और मनन से परिपूर्ण यह विश्लेषण उन्होंने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में उपस्थापित किया है।

इस ग्रंथ का नाम है ‘भारत में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरम्भ और विकास’, और इसमें तीन खंडों में बाँटे हुए सोलह अध्याय हैं। ग्रंथ के केवल नाम से इसके अंतरंग की पहचान नहीं होगी, क्योंकि ग्रंथकर्ता ने प्रतीक-पूजा का ही विचार नहीं किया है, बल्कि मूर्ति-विज्ञान, भारतीय धार्मिक पथ और संप्रदाय तथा यात्रा-स्थलों का भी विवरण दिया है। अंत में ५३ सदर्थ-ग्रंथों की सूची है।

II

किसी अन्य पशु-विशेष का जब मानव के रूप में कायापलट होकर उसकी बुद्धि का विकास होने लगा तब मानव-संस्कृति और सामाजिक जीवन का आरम्भ हुआ। परन्तु उस काल से अबतक ऐसी परिस्थिति कभी भी नहीं रही, जिसमें मानव-समूह में भिन्न-भिन्न स्तरों पर विचार, और उनसे बंधे हुए आचार, भिन्न-भिन्न प्रकार के नहीं रहे। मुँड़े-मुँड़े मतिभिन्ना—यह एक अकाट्य और चिरेक्षण अनुभव है; और यही कारण है कि किसी विशिष्ट कालखंड के लिए यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि उसके किसी विशिष्ट समाज के विचारों में एकवाक्यता थी या उनके आचार भी एक ही प्रकार के थे। इस कसौटी पर यदि हम वैदिक काल और समाज की ओर देखेंगे तो ऐसा कहना साहस होगा कि उस युग में मूर्तिपूजा कहीं थी भी नहीं। विद्वानों में इस विषय पर एकमत नहीं हुआ है जैसाकि स्वाभाविक ही है। इस विद्वत् पर चर्चा करते हुए डॉ० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने अभिप्राय दिया है कि वैदिक धर्म की प्राथमिक अवस्था में मूर्ति-पूजा को स्थान नहीं मिला। यह बात यदि स्थूल रूप में सही है, तो स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक वाङ्मय एक सीमित स्तर के लोगों के हाथ में था, जो उस काल के बुद्धिजीवी थे, और इन्हें छोड़कर अन्य स्तरों के लोगों के बारे में वैसा ही समझना भ्रम होगा (देखें *Development of Hindu Iconography*, pp. 66—6, 2nd edition, 1956)।

ग्रथकर्ता ने इस विषय पर यह निष्कर्ष निकाला है कि “वैदिक काल में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा आयों में नहीं थी। ज्ञान और कर्म-संपत्ति का, प्रभु-अनुग्रह के साथ, सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था” (पृ० १४)। जैसाकि मैंने ऊपर बतलाया है, वैदिक काल का अधिकांश वाङ्मय इस ग्रथकर्ता के सिद्धांत की पुष्टि अवश्य देता है, यद्यपि कहीं-कहीं मूर्तिपूजा के संकेत भी उसमें मिलते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में रुद्र की रगीन मूर्ति (II. xxxiii 9), वरुण का सोने का कवच (I. xxv. 13) तथा मातृतो की मूर्तियों (V LII. 155) के भी उल्लेख मिलते हैं। यह अनुमान निकालना सही नहीं होगा कि तत्कालीन मूर्तिपूजा केवल अनाथों में ही प्रचलित थी या वैदिक युग के पश्चात् साधारण जनता में ही स्वीकृत थी।

वैदिक संस्कृति तथा मोहंजोदड़ो या हड़प्पा-संस्कृति के बीच क्या संबंध थे और कितना कालांतर हुआ, यह भी एक अत्यंत विवादग्रस्त प्रश्न है। हो

सकता है कि वेदों में जो परिस्थिति दिखाई गई है वह मोहँजोदड़ो तथा हड़प्पा की संस्कृति के बहुत पहले के काल की होगी । ग्रंथकर्त्ता ने 'अनाई देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात्' नामक अपने द्वितीय परिच्छेद में इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है । उनका निष्कर्ष यह है कि 'सिंधु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्यधर्म में देवी की उपासना का आरम्भ हुआ' (पृ० ३६) । विद्वान् लेखक यह भी कहते हैं कि "सिंधु-घाटी के लोगों का आर्यजाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत में भविष्य और मृतियों की स्थापना आरम्भ हुई इस प्रकार देवास्य और उसमें स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रमणेश हुआ रुद्र की उपासना ने जो स्वल्प भारण किया उसमें लिंगोपासना डूब छो गई ... इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्न कोटि के लोगों ने कुछ नए देवी-देवताओं को अपनाया । ऐसे देवी-देवता असम्भ जवली अनार्यों द्वारा सर्वत्र पूज्य थे" (पृ० ३७) ।

मेरी अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार की है । जब आर्यों का आक्रमण भारत में हुआ तब सिंधु-घाटी-हड़प्पा संस्कृति से उनका संपर्क और संघर्ष तो हुआ ही । परन्तु इस प्रकार ये घटनएँ हुई कि तत्कालीन उस प्रदेश के भारतीयों के सब स्तर के लोग आर्यों के सब स्तरों के साथ संबंधित हुए, और ऐसा संपर्क या संघर्ष कई शतकों तक चालू रहा, जिससे उसके परिणामों का वर्गीकरण इसवी आसानी से नहीं किया जा सकता है । साथ-साथ यह भी मानना आवश्यक है कि पूर्वी भारत में केवल अंशही जातियाँ नहीं थी—वहाँ के लोग अनार्य तो थे ही, परन्तु सुसंस्कृत भी थे । अब उनके साथ आर्यों का संघर्ष भी सीमित नहीं रहा । सामाजिक परिवर्तन अल्प अवधि में नहीं होता है । दर्शन और कर्म-कांड के बारे में, इस परिस्थिति में, आर्यों और अनार्यों में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई, यह निश्चित रूप से कहना अभी तक कठिन ही रहा है । स्मरण रहे, स्वयं 'पूजा' शब्द, देववाणी का नहीं, बल्कि द्राविड भाषा का है । आर्यों के भारतीय आक्रमण के युग में, देश में सुसंस्कृत अनार्य अवश्य थे । नहीं तो व्रात्य स्तोम का प्रयोजन ही क्या रहता । व्रात्य संस्कृति में यक्षों की, वृक्षों की और पक्षियों की पूजा होती थी । अनेक कलाएँ परिणत अवस्था में थीं । व्रात्यो के पूजा-प्रतीकों से, निःसंदेह, आर्य-संस्कृति पर परिणाम हुआ है ।

ग्रंथकर्ता के तर्क के अनुसार रामायण-काल में, “मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति की कहीं झलक भी नहीं है” (पृ० ५२) । परन्तु विपक्ष में कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवताओं के मंदिरों के उल्लेख वाल्मीकि-रामायण में मिलते हैं । उदाहरण के लिए देखा जाए III, xii, 72-73, जहाँ ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेंद्र इत्यादि देवताओं के पूजा-स्थान का उल्लेख है और II iv. 30 में ‘देवतागार’ का ।

जहाँ तक महाभारत-काल का प्रश्न है, ग्रंथकर्ता ने स्व० श्री चित्तामणि विनायक वंश महोदय के विचार उद्धृत किए हैं, “महाभारत-काल में यद्यपि मंदिर और मूर्तियाँ भी रही हों तथापि आयों के आह्विक धर्मकृत्य में अवतक देवताओं की पूजा न थी । यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रों से भी निश्चित दीख पड़ती है । वैदिक देवता कुल ३३ माने गए थे । परन्तु तैत्तिरीय देवताओं में से बहुत की प्रतिमाएँ बनीं अथवा मंदिर तैयार हुए ।” परन्तु महाभारत में मूर्तिपूजा के विपुल उल्लेख मिलने हैं, उदाहरणार्थ वन-पर्व के ८२, ८३, एवं ८४ अध्यायों में । इस सब में मैकडोनेल का ग्रंथ ‘A History of Sanskrit Literature’, पृ० २१० भी देखा जाए ।

ग्रंथकर्ता का निष्कर्ष यह है कि पाणिनि के युग में भारत में भक्तिधर्म का उदय हुआ, जो इस देश के धार्मिक इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है, जिसका व्यापक परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर हुआ (पृ० ७४) । उन्होंने यह भी बतलाया है कि भक्तिधर्म के उदय का दूसरा प्रभाव, पूजा की पद्धति पर पड़ा, जो प्राचीन यज्ञविधि से सर्वथा भिन्न थी । ऐसे निष्कर्ष ग्रंथ-लेखक ने डॉ० वासुदेवदत्त अग्रवाल के ‘पाणिनिकालीन भारतवर्ष’ नामक शाब्द-प्रबन्ध के आधार पर दिए हैं । परन्तु, ऐसा तक निकालना अनुचित नहीं होगा कि व्याकरण-विषयक ग्रंथों में जो सामाजिक परिस्थिति प्रतिबिंबित होती है वह दीर्घकालीन उत्क्रांति का ही परिचय है—न कि उसी समय या दशक या शतक से उत्पन्न हुई परिस्थिति का ।

इसके पश्चात् जो कालखण्ड आता है, उसकी प्रतीक-पूजा-विषयक जानकारी प्राचीन मुद्राओं से, विशेषतः आहत मुद्राओं से, पर्याप्त मिलती है । हाल ही में, अगेथोक्लीज नाम के एक यवन राजा की रजतमुद्राएँ अफगानिस्तान में प्राप्त हुई हैं, जिनपर गगपति, कृष्ण तथा बलराम देखने में आते हैं । कुषाण-

सम्राटों की मुद्राओं पर देवताओं की मानो चित्रमाला ही अंकित हुई है। गुप्त-सम्राटों ने भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न किया और उनकी मुद्राओं पर अनेक देवताओं का चित्रण हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना एक महत्व रखता है। नीराजन-विधि के अनेक प्रसंग अंकित हुए हैं। सिंहवाहिनी दुर्गा है। नरसिंह का अवतार भी कुमार गुप्त (प्रथम) की मुद्रा की एक भाँति पर मुद्रित है। प्रत्येक राजवंश ने अपनी-अपनी मुद्राओं पर अपने निजी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार पूजनीय वस्तु, प्रतीक, चिह्न या देवी-देवताओं को अंकित किया है, जो अभ्यसनीय है।

भारतीय संस्कृति के सबंध में पुराणों के कालखंड में विस्तृत, मिश्रित और परिपूर्ण जानकारी मिलने लगी, और मूर्तिविज्ञान तथा मूर्तिपूजा—इन दो विषयों पर भी प्रभूत प्रमाण में पुराणों से प्रकाश पड़ता है। ग्रथकर्त्ता ने इस सामग्री का समुचित उपयोग किया है—यहाँ तक कि उनका निष्कर्ष है कि “पुराण ही वर्तमान हिंदू-धर्म की आधारशिला है” (पृ० ८६)। आगे चलकर उन्होंने पाशुपत मत, पाञ्चरात्र (भागवत) मत, वैखानस मत, शाक्त मत—इन महत्त्वपूर्ण मतों की चर्चा प्रतीक-पूजा के मद्दर्भ में की है। अवतारवाद के परिच्छेद में दशावतारों की चर्चा है। जैन तथा बौद्ध धर्मों में मूर्तिपूजा के स्थान के सबंध में सातवें तथा आठवें परिच्छेद में संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

ग्रथ के तीसरे खंड में सतमत और गुरुपूजा का विवरण है। ग्रथकर्त्ता का यह निष्कर्ष है कि “मनुष्य-मात्र की एकता और समता, तथा जातिवाद का खंडन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—सत-संप्रदाय का मौलिक आधार था” (पृ० १४६)। ग्रथकर्त्ता ने यह भी बतलाया है कि श्रीराम की उपासना श्रीकृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। किन्तु श्रीराम की भक्ति-भावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत में दसवीं शताब्दी के अनंतर ही हो पाया (पृ० १३०)।

ग्रथ का अवशिष्ट भाग वर्णनात्मक है। इतनी विपुल जानकारी इतनी कम संख्या के पृष्ठों में क्वचित् ही देखने में आती है। ग्रथकर्त्ता ने दक्षिण-भारत के एक विलक्षण मंदिर-मस्जिद का वर्णन दिया है। यह स्थान “दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नागपट्टिणम् बंदरगाह में छह मील दूर नागूर में स्थित है और ‘नागूर आडवन’ के नाम से प्रसिद्ध है। ‘आडवन’, तमिल का शब्द है,

जिसका अर्थ है, 'भगवान्' । '.....' इस मंदिर-मस्जिद के सात फाटक हैं । वे इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, बीमारी, बुढ़ापा और असत्य नामक सात द्वारों को पार कर ले, तो उसे भगवान् के दर्शन होंगे ।' श्री वर्माजी ने मार्मिक अभिप्राय लिखा है, "नागूर-आडवन, हिंदुत्व और इस्लाम को ही नहीं, उत्तर और दक्षिण भारत को भी जोड़ने-वाली कड़ी है" (पृ० २२५-२२६) । केरल प्रदेश की कुछ वर्तमान विशेषताएँ विद्वान् ग्रंथकर्त्ता ने जो पृ० २२८—२३१ पर दी हैं तथा दुर्योधन और रावण के मंदिर और उनकी पूजा के बारे में पृ० २३१-२३२ पर जो जानकारी दी है, वह प्रायः अन्यत्र दुर्लभ मानी जा सकती है ।

प्रतीक पूजा का भिन्न-भिन्न शिल्पकलाओं पर प्रभाव कैसे हुआ, यह तृतीय खंड के तीसरे परिच्छेद में मुद्दग ढंग से विवक्षित हुआ है ।

III

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्री वर्माजी ने निगम तथा आगम ग्रंथों का आवश्यक परिशीलन करने और दीर्घकाल के विचार-मथन के पश्चात् इस ग्रंथ की रचना की है । निगुण-निराकार का छोड़कर साकार-सगुण का आधार परमेश्वर के तत्त्व का माननेवाला व्यक्ति क्यों होता है, इसका उत्तर विष्णुपुराण में बहुत मुद्दर शब्दों में मिलता है—

ध्यात्वाकर्मण्डले विष्णुं वेदमंत्रैरभिद्धतम् ॥
 धार्यमाणे तथैवाग्नौ जुहुयात् कार्यसिद्धये ।
 तत्र यत्र केवलं ध्यानं वेदान्तोक्तमनाश्रयम् ॥
 न तत्रन्द्रियदोषं त्याज्यं कर्मस्थस्याधिकारिता ।
 यथा गिरितटाग्रस्थवनस्पतिफलेच्छया ॥
 उपायो वर्ततेऽश्रान्तस्तथामी यत्नमाचरेत् ।
 सर्वत्र क्रमवान् यत्नं कार्यो नैच्छेत् केवला ॥
 तत् कायवाङ्मनोवैर्गं क्रमादिच्छेत् परांगतिम् ।
 निराकारे तु या प्रवर्त्या पूजेष्टा ध्यानमेव वा ॥
 रमणीयमिवास्मति तदनर्थस्य कारणम् ।
 स्थूलभावप्रसङ्गीन जन्मनार्येन्द्रियाणि हि ॥
 सूक्ष्मार्थं न प्रपद्यन्ते चिराच्च किमुताचिरात् ।
 न च रूपं विना देवो द्यातुं केनापि शक्यते ॥

(५)

सर्वरूपनिवृत्ता हि बुद्धिः कुत्रास्य तिष्ठति ।
निवृत्ता ग्लायते बुद्धि निव्रया वा परीयते ॥
तस्माद् विद्वानुपासीत बुद्ध्या साकारमेव तम् ।
अस्ति तस्य परोक्षं तदिति किञ्चिद्वदन्स्मरेत् ॥
सर्वसाकारमुद्दिष्टं न परित्यज्य पण्डितः ।
परं देवमुपासीत मुक्तये वा कलाय वा ॥

—विष्णुपुराण २६ : ४९ब—५८

श्री बर्माजी ने अपने इस नवीनतम ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए प्रतीक-विज्ञान तथा पूजा से संबंधित प्रश्नों का ऊहापोह ऐतिहासिक काल-खंडों के आधार पर प्रस्तुत किया है। दर्शन और धर्म, संप्रदाय और पथ, रुढ़ि और आचार—इन सबकी आपस में प्रक्रियाएँ बयां होती रही, यह दिखाना अत्यंत कठिन काम है। श्री बर्माजी ने संबंधित वाङ्मय का अध्ययन करके यह सारगर्भित ग्रन्थ हिंदी वाचकों के सामने रखा है, जिससे हिंदी-साहित्य में एक नया प्राणन लोला गया है। हिंदी-जगत् इसका स्वागत करेगा, यह निस्संदेह है। मैं विद्वान् मनीषी का अभिनंदन करता हूँ और परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में भी उनकी प्रतिभा द्वारा उनकी कीर्तिलता के नए-नए अनेक प्रतान पल्लवित होते जाएँगे। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने मुझ यह भूमिका लिखने का अवसर देकर कृतार्थ किया है।

आदित्य वासुदेव सोहोनी

4, कोटिल्य मार्ग, पटना-1

5 ज्येष्ठ-शुक्ल, स० 2031

26 मई, 1974

विषय-सूची

पहला खंड

पहला परिच्छेद			पृष्ठ-संख्या
बैदिक काल	१—२२
दूसरा परिच्छेद			
अनाथ वेदता का वैदिक चर के साथ आत्मसात्	२३—३५
तीसरा परिच्छेद			
उपनिषद्-काल	३६—४५
चौथा परिच्छेद			
रामायण-महाभारत-काल			
रामायण-काल	४६—५२
महाभारत-काल	५२—५९
पाँचवाँ परिच्छेद			
सूत्रकाल	६०—६९

दूसरा खंड

पहला परिच्छेद			
पाणिनि-काल	७३—८१
दूसरा परिच्छेद			
पुराण और उनका मूर्तिपूजा पर प्रभाव	८२—८६
तीसरा परिच्छेद			
पाशुपत मत और प्रतीक-पूजा	८७—९२
चौथा परिच्छेद			
पाश्चात्त (भागवत) मत और प्रतीक-पूजा	९३—९९
पाँचवाँ परिच्छेद			
शाक्तमत और प्रतीक-पूजा	१००—१२२

छठा परिच्छेद

अवतारवाद और मूर्तिपूजा	१२३—१३०
सातवीं परिच्छेद		
जन-धर्म और मूर्ति-पूजा	१३१—१३३
आठवीं परिच्छेद		
बौद्धधर्म और प्रतीक-पूजा	१३४—१३९

तीसरा खंड**पहला परिच्छेद**

संतमत और गुरुपूजा	१४३—१४४
१. साहिब-पथ, २. नागी संप्रदाय, ३. सतमत-सत्संग, ४. राधास्वामी-मत, ५. रामाश्रम-सत्संग, ६. दहानो सत्संग, ७. सिक्ख-धर्म, ८. स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी ।		

दूसरा परिच्छेद

आधुनिक काल का महावलोकन	१९५—१९२
प्रमुख ऋतु, तीर्थ और तीर्थयात्रा, उत्सव और त्यौहार, विभिन्न देव-देवियों में समन्वय की भावना ।		

आधुनिक काल के देवता :

शिव, राम, कृष्ण, राधा, विष्णु, गणेश, सुब्रह्मण्यम्, (स्वामी कार्तिकेय), ब्रह्मा, सरस्वती, दुर्गा, सूर्य, हनुमान (महावीर), शाक्तमत ।

भारत के अन्य देवी-देवता

परशुराम, नर-नारायण, पक्षी-तीर्थ, काल-भैरव, विश्वकर्मा, शकराचार्य, रामानुजाचार्य, चैतन्य, महाप्रभु, गोरखनाथ, नारद, कपिल मुनि, करणी देवी, रानी सती, दिव्यधाम मंत्रालय, नागूर-आडबन का अद्भुत मंदिर, नदियाँ, केरल प्रदेश की कुछ विशेषताएँ ।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय प्रतीक-पूजा का चित्र, मूर्ति एवं

स्थापत्य-कला पर प्रभाव

....

.... २३३—२८५

चित्रकला : बौद्धधर्म और चित्रकला, अजंता की गुफाएँ, श्रीपुर नगर की कला, राजपूत-शैली, किशनगढ़-कलम, नाथद्वारा (उदयपुर) की पिछवाइयाँ, लेपाक्षी-मंदिर की भित्तिकला ।

मूर्तिकला : यूनानी कला से तुलना, मूर्तिकला और स्थापत्य-कला के कुछ प्रमुख स्थान — कोणार्क, लजपुराहो, एलोरा, दिलवारा, रामेश्वरम्, जैसलमेर, बोधगया, श्रवणबेलगोल, मीनाक्षी देवी, शिवखोरी, कु भकोणम्, बेलूर, त्रिपुरी, एकलिंग, चिदंबरम्, ग्वालियर, झुंदावन, दसपुर की अष्टमुखी शिव-मूर्ति, क्रिन्ची, एलिफेंटा, डिण्-पल्ली का मंदिर, नेपाल की अद्भुत शिल्पकला, सांची, भरहुत और मधुरा की शिल्प-कला, भुवनेश्वर ।

कुल सहायक संवर्धन-ग्रंथ

....

.... २८६—२८८

अनुक्रमणिका

..

.... २८९—२९४



पहला खंड

प्रथम परिच्छेद वैदिक काल

भारत में मूर्ति-पूजा का आरम्भ कब और किस अंश में हुआ, यह कहना कठिन है। भारत की सम्यता प्राचीनतम सम्यता मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि सिन्धु-सम्यतावाले प्रतीक(मूर्ति) पूजक थे। मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में एक प्रकार की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें पुरातत्त्व-शास्त्री मातृ-देवी की मूर्ति मानते हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः नग्न हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजियन प्रान्त से सिन्धु-प्रान्त के बाँच के सभी देशों—फारस (ईरान), मिस्र, सीरिया, इराक, ट्रासकास्पिया, लघु एशिया आदि में प्रचलित थी। इन देशों की मूर्तियों में इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रागैतिहासिक युग में मातृ-पूजा का भूमध्य सागर से भारत तक प्रचार था। बलूचिस्तान में भी कुछ मातृदेवी की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से हुई होगी। बेबिलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवी अनाज की बाल के ढंठल के साथ दिखाई गई है। मेसोपोटेमिया के लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी हर प्रकार से नगर-निवासियों की रक्षा करती थी। इन्हीं दृष्टिकोणों से सिन्धु-प्रान्त में मातृदेवी की पूजा होती रही। ऋग्वेद में मातृदेवी के लिए 'अदिति', 'प्रकृति' या 'पृथ्वी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इन खुदाइयों से ऐसी भी मुद्रा मिली है, जिसे पुरातत्त्व-पण्डित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं। इस आकृति में शिव के मुख हैं। शिवजी हाथ दोनों ओर घुटनों के ऊपर रखे हुए हैं, और पलथी मारकर पूर्णयोग की अवस्था में एक तिपाई पर बैठे हैं। तिपाई की दाई ओर चोते तथा बाई ओर गड़े और भैंस के चित्र हैं। शिवजी के सम्मुख द्विभ्रू गी हिरन खड़े हैं। शिवजी के सिर पर दो सींग हैं, जो सिरबन्द से बँधे हैं। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सम्भवतः, सिन्धु-प्रान्त के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हो सकते हैं। सर जॉन मार्शल की राय है कि ऐतिहासिक युग में यही त्रिभग प्रतीक त्रिशूल के रूप में आया।

मोहेंजोदड़ों की शिव-आकृति में सम्भवतः किन्हीं तीन देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया है। शिवजी को दूसरे प्रकार की मूर्ति एक ताम्रपात्र पर अंकित है। इसमें शिव योगासन में हैं।^१ शिवजी के दोनों घुटनों के पास दो भक्त बैठे हैं। दो सप सम्मुख बैठे हैं। शिवजी अपने गले में भी सप धारण किए हुए हैं। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें आधा भाग नारी का और आधा भाग पुरुष का है। इन्हें 'अर्धनारीश्वर' के नाम से पुकारा गया है। मोहेंजोदड़ों में लिंग और योनि की कई वस्तुएँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त इन स्थानों पर पत्थर के अनेक लिंग प्रतीक मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीकों के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने में कोई सन्देह नहीं है।^१

अतः सिन्धु-घाटी में जो कुछ पाया गया है, वह विशेष रूप से बड़े महत्त्व का है, क्योंकि उससे भारत के आय-पूर्व युग के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। किन्तु श्री पु० ना० ओक का कथन है कि "मोहेंजोदड़ों में शिव-पूजा की उपलब्धि एवं सिन्धु-घाटी की लिखावट में वेदों के नामों के स्मृत्यालंकारों ने पश्चिम के विद्वानों की मान्यताओं को पूर्णरूप से मूल-रहित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता है कि मोहेंजोदड़ों की सभ्यता द्रविड़ों की तथा वेद-पूर्व की थी।" मेरे विचार में मोहेंजोदड़ों की सभ्यता भले ही वेद-पूर्व न हो, किन्तु वह आय-सभ्यता नहीं थी, क्योंकि आय-सभ्यता में मूर्ति-पूजा का प्रचलन भारत में निश्चित रूप से पहले नहीं था। और, अनायों की लिंग पूजा का वेद के दो स्थलों पर उपहास किया गया है।^२ ज्ञात होता है कि आय-सभ्यता और मोहेंजोदड़ों की सभ्यता समकालीन सभ्यताएँ थी, क्योंकि आर्थ और अनायों के लक्षण का इतिहास जम्मा था और सव्य-काल में दोनों सभ्यताएँ विभिन्न अवस्थाओं में चलती-फूटती रही। केरल निश्चित रूप से द्रविड़ सभ्यता का प्रमुख अवलम्ब था। वहाँ अनादि काल से शिव तथा लिंग के प्रति श्रद्धा, नाग पूजा, अनाग पूजा, जीव-बलि तथा नरबलि आदि की प्रथा मोहेंजोदड़ों की सभ्यता से मेल खाती है न कि आय-सभ्यता से। सबसे महत्त्व की बात यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमें अप्रत्याशित सुराग मिले हैं, जो भारतीय धर्म और

1. *Swami Sankaranand* 'Pre-historians [ndus', Vol. I & II.

" " —Indus People Speak.

2. ऋग्वेद ७/२१/५, १०/९९/३

संस्कृति के बहुत-से ऐसे पहलुओं को समझने में सहायक हुए हैं। शैवधर्म के इतिहास के लिए तो इन सिन्धु-घाटों की खुदाई सम्बन्धी खोजों का महत्त्व है। इससे शैवमत के उन्हीं रूपों का समुचित समाधान हो जाता है, जिनका उद्भव हम वैदिक धर्म में नहीं पा सकते, और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नहीं जा सका है।

“सबप्रथम हम शैवमत के सबसे प्रमुख रूप लिंग-पूजा को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग-रूप में भगवान शिव की उपासना सबसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ में जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान ऐसा नहीं मानते और उन्होंने लिंग को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। उनके समस्त तर्कों का आधार यही है कि वैदिक युग के अपरकाल में लिंग का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं था और वैदिक धर्म में भी जननेन्द्रिय की उपासना का कोई संकेत बिल्कुल नहीं मिलता। परन्तु ये सब तर्क उन अखण्डनीय प्रमाणों के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ में लिंग जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। कुछ अति प्राचीन और यथार्थ रूपी बड़ी-बड़ी लिंग-मूर्तियाँ तो हमें मिलती ही हैं। इनके अतिरिक्त मनाभारत में स्फट और असदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंग-मूर्ति में भगवान शिव की जननेन्द्रिय का ही उपासना होती थी। प्राचीन पुराणों में भी लिंग-मूर्ति का जननेन्द्रिय सम्बन्धी माना गया और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गई हैं।”

जननेन्द्रिय की उपासना का प्राचीन समय ससार में बहुत प्रचलित था। प्रायः सभी देशों में लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा थी। एक आर मित्र ने उसकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथाश-रूपी लिंगों के जुलूस खुलेआम और बड़े समारोह के साथ निकाले जाते थे, तो दूसरी ओर जापान में भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थी और पूजा के लिए सड़कों के किनारे उन्हें स्थापित कर दिया जाता था। किन्तु, लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र पश्चिम एशिया था, जहाँ बेबिलोन और असीरियन लोगों की महान् सभ्यता की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फली-फली। ज्ञात होता है कि लिंग पूजा का प्रचलन दक्षिण पूर्व में ब्रह्मा अरब और ईरान में भी था।

किन्तु सन् १९५४ ई० में जब मुख्य भूमि और काठियावाड़ प्रायद्वीप को जोड़ने-वाले दालान का सर्वेक्षण किया गया तो लोथल के बन्दरगाह नगर का पता चला । इस स्थान पर सन् १९५५ से १९६१ ई० तक जो खुदाई हुई है, उससे हड़प्पा-कालीन संस्कृति की अनेक नई बातों पर प्रकाश पड़ा है । यह सम्यता ईसा से २,४५० वर्ष पूर्व की है ।

ऐसे पर्याप्त प्रमाण मिले हैं, जो यह बताते हैं कि यहाँ के निवासी किसी-न-किसी रूप में अग्नि-पूजक थे । लोथल के लोगो के धार्मिक कृत्य सिन्धु-घाटी के निवासियों के धार्मिक कृत्यों से बहुत भिन्न थे । लोथल में मातृदेवी की उपासना का बिल्कुल प्रचलन नहीं था, और न वहाँ तथाकथित लिंग-पूजा के चिह्न प्राप्त हुए हैं । लोथल में प्राप्त हुए मुहरो-ठप्पो पर किसी भी मानवीय अथवा दैवी आकृति का चित्रण नहीं है । इसलिए इनकी आकृतियों के साथ सिन्धु-घाटी की सम्यता के सांगवाले देवता का सामंजस्य स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

हड़प्पा, रोपड़ आदि की तरह लोथल में भी लोग मृतक को दफनाते थे, पर लोथल में अन्त्येष्टि-क्रिया की एक अद्भुत बात यह थी कि एक से अधिक मृतकों को एक साथ दफनाया जाता था । इस हालत में ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ सती-प्रथा प्रचलित थी । लोथल में पशु-बलि की प्रथा थी, इसका भी प्रमाण मिला है । इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत के सब अंचलों में आदि निवासियों में समान रूप से मातृ पूजा तथा लिंग पूजा प्रचलित नहीं थी । ऋग्वेद में आए दो मंत्रों का हवाला देकर कतिपय विद्वानों का कहना है कि भारत के अनाथों में लिंग-पूजा का प्रचलन था ।^१ अधिकांश पूर्वी एवं पश्चिमी इतिहासज्ञों तथा दार्शनिकों का मत है कि आर्यों में मूर्ति-पूजा का चलन जैन-बौद्ध काल में हुआ । पुराणों के आधार पर भारतीयों की धार्मिक भावना के अनुसार मूर्ति-पूजा भले ही अनादिकाल से चली आती हुई जान पड़ती है, किन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का संबंध है, इसका समय जैन-बौद्ध काल से पहले

१. न यातव इन्द्र-जुजुबुर्भो न बन्वता शविष्ठ वेद्याभिः ।

स शर्षवर्षो विजुषुस्थ अन्तोर्मा शिषनवेवा अपि मुश्रुतं नः ॥

ऋग्वेद, मण्डल ७, सूक्त २१, मंत्र ५

अर्थ—हे इन्द्र ! राक्षस हमारा घात-पात न करें । हे बलशाली वीर !

नहीं जाता । इस धारणा की पुष्टि का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि विभिन्न अचलो की खुदाई में बौद्ध और जैन-धर्म की मूर्तियों से प्राचीनतर किसी हिन्दू देवता की मूर्ति प्राप्त नहीं हुई है । मूर्ति-पूजा का प्रचलन जब कभी हुआ हो, आज अधिकतर हिन्दू किसी-न-किसी रूप में मूर्ति पूजक है । वेदों के मन्त्रों का अनुवाद मूर्तिपूजा के विरोधियों तथा समर्थकों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है । मुझे दोनों दृष्टिकोणों से अनुवादित वेदों के अनेक सस्करणों को पढ़ने का मुजबसर मिला है । मेरी धारणा है कि इस सम्बन्ध में स्थल-स्थल पर दोनों दृष्टिकोणों से किए गए अनुवाद पर वास्तविकता के बदले उनके अपने अपने दृष्टिकोण की छाप स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है । मुझमें क्षमता नहीं है कि किस अनुवाद को ठीक मानूँ । अतः उदाहरणार्थ कुछ मन्त्रों को, विभिन्न दृष्टिकोण से किए गए अनुवाद के साथ नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ । विज्ञ पाठक इससे स्वयं निर्णय कर सकते हैं :

बोधो मे अस्य वचसो यविष्ठ महिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।

पयोति त्वो अनुत्सो गृणाति वन्दारुस्ते तन्व बन्धे अग्नेः ॥

ऋग्वेद, १/१४७/२, वा० सं० १२/४२

हे युवा आर अन्नवाले अग्नि ! मेरी अत्यन्त पूज्य और अच्छी तरह से सम्पादित स्तुति का ग्रहण करो । कोई तुम्हारी हिंसा करता है और कोई तुम्हारी पूजा करता है । मैं तुम्हारा उपासक हूँ । मैं तुम्हारी मूर्ति की पूजा करता हूँ ।
(श्री रामगोविन्द त्रिवेदी)

वदन करके हमारे अन्दर रहनेवाले हमारे अन्तःशत्रु उनके जानने के साधनों से हमारा नाश न कर सकें । वह आय इन्द्र विषम मनुष्य-प्राणियों पर भी अधिकार चनाने की इच्छा करता है । धिश्न पूजक, ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले, हमारे यज्ञ के पास न आ जाएँ ।

स वाजं यातापदुष्यदा यन्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन् ।

अनर्वायियच्छतदुरस्य वेदो धन्त्रिच्छन्नवेर्वा अभि वर्पसा भूर ॥

ऋग्वेद, १०/९९/३

अर्थ

वह इन्द्र सुन्दर गति से जाकर युद्ध-क्षेत्र में अवस्थित होते हैं । वह अविचल होकर सी दरवाजीवाली शत्रु-सी से धन ले आते हैं और लिङ्ग-पूजक दुरात्माओं को अपने तेज से हराते हैं ।

हे अत्यन्त युवा अग्नि ! मेरे इस आदर योग्य स्तोत्र को सुनो । एक मनुष्य आपको पीढ़ा पहुँचाता है, एक स्तुति करता है । मैं तो आपकी स्तुति करने-वाला हूँ ।

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे धनवान युवा-रूप अग्नि ! मेरे इस महान बारम्बार कथन करने से श्रवण-पथ को प्राप्त हुए वचन के अभिप्राय को जानो । कोई तुम्हारी निन्दा करे, कोई पुष्प तुम्हारी स्तुति करे, यह मनुष्यों का स्वभाव है—परन्तु स्तुति करने के स्वभाववाला मैं तुम्हारे शरीर को प्रणाम करता हूँ ।

(ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा)

ऋग्वेद के अनुवादक एब० ए० विलसन ने इस मंत्र का निम्नोक्त अनुवाद किया है :

"Youthful (agni) to whom oblations are due, appreciate this my reverencing and earnest prayer one man *Evils* (thee), another propitiates (thee) ; I thy worship and glorify thy person."

आचार्य : ओ युवक अग्नि ! जिसको हवि माना है, हमारी आदर-सूचक और हार्दिक प्रार्थना को ग्रहण करो । कोई तुम्हारी निन्दा करता है और कोई स्तुति करता है । तुम्हारा पूजक मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ ।

यह मन्त्र ज्यो-का-त्यो शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में आया है । आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नोद्धृत प्रकार का अनुवाद करते हैं :

"जब कोई किसी को पढ़ावे वा उपदेश करे तब पढ़नेवाला ध्यान देकर पढ़े वा सुने । जब सत्य वा मिथ्या का निश्चय हो जाए तब सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे । ऐसा करने में यदि कोई निन्दा और स्तुति करे तो कभी न छोड़े और मिथ्या ग्रहण कभी न करे । यही मनुष्यों के लिए विशेष गुण है ।"

आर्यसमाज के दृष्टिकोण से वेदों के अनुवाद करनेवाले श्री जयदेव शर्मा इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं —

"हे युवतम् ! हे बलवान ! हे स्वच्छ शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! मुझ इस प्रार्थी के अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और उत्तम रीति से यथाविधि आप तक पहुँचाए गए वचन को यथावत जानो । इस न्याय-कार्य में कोई तेरी निन्दा करेगा और कोई दूसरा तेरी स्तुति करेगा ।

अथवा मेरे इस मन्त्र को एक काटे और दूसरा इसके पक्ष में कहे । इस प्रकार दोनों पक्षों को सुनकर आप निर्णय करें । और मैं बन्दना करनेवाला विनीत प्रार्थी हूँ । हे ज्ञानवान ! सत्य-असत्य के विवेक करनेवाले विद्वान ! राजन ! मेरे शरीर या विस्तृत शासन का गुणानुवाद करता हूँ । राजा का विवेकी विद्वान धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना मन्त्र, लिखित प्रार्थना-पत्र आदि उचित रीति से कहे । एक पक्ष में और एक बिम्ब में कहे । फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक बिदा हो ।”

अतः उपर्युक्त अनुवादों से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में मूर्ति-पूजा का भाव कही नहीं जाता जैसा कि श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने अनुवाद किया है ।

इस प्रकार ऋग्वेद में आए कुछ अन्य मंत्रों में भी त्रिवेदी जी को मूर्ति-पूजा की झलक मिली है । यथा—

ईमान्यिष्ठपुत्रे वपुस्त्वक् रयस्य येमधुः ।

पर्यन्त्या नाहृषा युगा मह नारणांति दीयधः ॥

ऋग्वेद, ५।७३।३

त्रिवेदी जी इस मन्त्र का निम्नांकित प्रकार से अनुवाद करते हैं :

“ हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य की मूर्ति को प्रदीप्त करने के लिए तुम दोनों ने रथ के एक दीप्तमान चक्र को नियमित किया है । अपनी सामर्थ्य से मनुष्यों के अहोरात्रादि काल को निरूपित करने के लिए अन्य चक्र द्वारा (तीनों) लोको में परिभ्रमण करते हो ।”

आचार्य श्रीराम शर्मा इस मन्त्र में कही मूर्ति का उल्लेख नहीं पाते और इस मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं :

“ हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य को प्रकाशित करने के लिए तुमने रथ के एक ज्योतिर्मन पहिए को योजित किया । तुम अपने पराक्रम से प्राणियों के लिए दिवस, रात्रि आदि को प्रकट करने के लिए अन्य पहिए द्वारा लोको में घूमते हो ।”

सनातनधर्मी उपर्युक्त श्रीराम शर्मा के अनुवाद के बाद दूसरा और अनुवाद देना व्यर्थ ज्ञात होता है ।

भारत के विख्यात सनातन-धर्मावलम्बी विद्वान श्री माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ “क्यो ?” के दूसरे खण्ड के पृष्ठ ४७२ पर मूर्ति-पूजा की चर्चा की है और प्रमाण में वेदों के कुछ मंत्रों का उल्लेख किया है । कतिपय उल्लिखित मंत्रों में

‘अर्चत’ या ‘प्रतिमा’ शब्द आया है और उन्हीं के आधार पर आप उन मंत्रों में मूर्ति-पूजा का समर्थन पाते हैं। किन्तु विभिन्न सनातन-धर्मावलम्बी विद्वानों के अनुवाद से भी आपके विचार का समर्थन नहीं मिलता।

वेदों में (ऋग्वेद ८। ५८।६६।८, सामवेद ३।६२, अथर्व २०।६२।५) मंत्र—अर्चत प्रक्षित प्रिये मेधासेः अर्चित आया है। माधवाचार्य जी इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं : “हे बुद्धिमान मनुष्यो ! इस प्रतिमा का पूजन करो, भलीभाँति पूजन करो।”

किन्तु अन्य सनातन धर्मावलम्बी विद्वान निम्नांकित प्रकार इसका अनुवाद करते हैं “हे अध्वर्युओं ! इन्द्र का पूजन करो।”

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

“हे अध्वर्युओं, तुमलोग इन्द्र की पूजा करो। विशेष रूप से पूजा करो।”

टिप्पणी—‘अर्चत’ शब्द का अनुवाद विद्वानों ने ‘पूजा’ किया है, किन्तु माधवाचार्य जी ‘अर्चत’ का अर्थ प्रतिमा-पूजा लगाते हैं। वेदों में अनेक वैदिक देवताओं की स्तुति आई है और उसी प्रकार का मंत्र यह भी है।

इसी प्रकार माधवाचार्य जी अथर्ववेद के मंत्र (२।१३।४) एहं श्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्) का अनुवाद करते हुए लिखते हैं—“हे परमात्मन ! तुम आकर इस पाषाण में बिराजमान हो। यह आपका शरीर बन जावे और सव देवता सैकड़ों वर्ष-पर्यन्त इसमें आपकी विभूति को स्थिर करें।”

किन्तु अन्य भाष्यकार इसका निम्नलिखित प्रकार से अनुवाद करते हैं

हे बालक ! अपने दक्षिण पाद द्वारा पाषाण पर चढ़ और इसी के समान दृढ़ तथा निरोग विश्वेदेवा तुझे शतायुष्य करें। (आचार्य श्रीराम शर्मा)
“यहाँ आ। इस शिला पर खड़ा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ़ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्ष की बनावें।”

— वेदज्ञ श्रीसातबलेकर

माधवाचार्य जी ने यजुर्वेद के मंत्र (१५।६५) सहस्रस्य प्रतिमा अस्ति का अनुवाद “हे परमेश्वर, आप सहस्रों की प्रतिमा, मूर्ति हैं।” किया है।

इस मंत्र का अनुवाद विभिन्न विद्वान निम्नांकित प्रकार से करते हैं।

“हे अग्ने ! तुम सहस्र इष्टकाओं के समान हो।”—आचार्य श्रीराम शर्मा

“हे अग्ने ! तुम सत्त्व इष्टकाओं का प्रमाण हो ।”

(ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा)

“हे विद्वान् पुरुष ! जिस कारण तू असंख्य पदार्थों से युक्त जगत के प्रमाण अर्थात् ज्ञान के तुल्य हो ।”

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

एक मन्त्र एतु प्राण एतु मन एतु चक्षुरथो बलम् (अथर्ववेद ५।३०।१३) का अनुवाद माधवाचार्य जी करते हैं कि “इस प्रतिमा में प्राण आवे, मन आवे, नेत्र और बल आवे ।” किन्तु किसी भी भाष्यकार के अनुसार प्रतिमा का भाव नहीं आता । यथा—

“प्राण इसको प्राप्त हो, मन और नेत्र इसको प्राप्त हो, मैंने इसकी देह को मन्त्र शक्ति से धृत्यवान् किया है । यह अपने पंरों पर खड़ा हो जाए ।”

—आचार्य श्रीराम शर्मा

“प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियाँ शरीर में फिर से निवास करें और यह शरीर अपने पाँव से खड़ा रह सके ।”

—वेदज्ञ श्रीपाद सातवलेकर

माधवाचार्य जी ने वेद में मूर्ति-पूजा के समयन में एक मन्त्र ऋषीणां प्रस्तरोग्नि नमोऽस्तु देवाय प्रस्तराय । (अथर्व १६।२।६) का अनुवाद “हैं प्रतिमे । तू ऋषियों का पाषाण है, तुमने दिव्य पाषाण के लिए नमस्कार” किया है । किन्तु दूसरे अनुवादकों का विचार देखिए—

“तुम ऋषियों का प्रस्तर है । देव-रूप प्रस्तर को नमस्कार ।”

—आचार्य श्रीराम शर्मा

अथर्ववेद के एक और मन्त्र (११।२।५६)

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षुर्वि ते भव ।

त्वचे रूपाय सदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥

का आप किस प्रकार अनुवाद करते हैं : “हे पशुपति शिव ! आपके मुँह को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, अंगों को, उदर, दाँतों को और नासिका को नमस्कार है ।” किन्तु अन्य अनुवादक आपसे सहमत नहीं हैं ।

“हे भवदेव ! तुम्हारे मुख, चक्षु, त्वचा और नील-पीत वर्ण को नमस्कार है । तुम्हारे समान रूपवाली दृष्टि को नमस्कार है । हे देव ! मेरा नमस्कार ग्रहण करो ।” —आचार्य श्रीराम शर्मा

“हे पशुपते ! हे भव ! तेरे मुख के लिए नमस्कार है, जो तेरी आँखें हैं ।
 उनको नमस्कार है । तेरे त्वचा-रूप, दर्शन और पीठ के लिए नमस्कार है ।
 तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुख के लिए नमस्कार है । तेरे दाँतों के लिए
 और तेरी गंध के लिए नमस्कार है ।”

(भी सातबलेकर जी)

वेदों में ईश्वर के स्वरूप की कल्पना की गई है, जिसकी पराकाष्ठा पुरुष-सूक्त में है । इसी प्रकार इस मंत्र में रुद्र के रूप की कल्पना है । इससे मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं होता । ‘तीन नेत्र’ का कही भाव नहीं है ।

श्री माधवाचार्य ने तैत्तिरीय अनु, ५ में आए हुए मन्त्र मा अस्मि प्रमा अस्मि प्रतिमा अस्मि का अर्थ किया है— “तुम ईश्वर की प्रतिमा हो ।” किन्तु किसी को ईश्वर की प्रतिमा का भाव नहीं आता । आपने ‘तीन नेत्र’ शब्द का व्यवहार किया है । किन्तु ‘त्र्यक्षुषि’ का अर्थ तीन नेत्र कदापि नहीं हो सकता । पौराणिक ग्रन्थों में शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है । अतः आपने जबदस्ती ‘त्र्यक्षुषि’ शब्द का अर्थ तीन नेत्र लगा लिया है । हाँ, एक मन्त्र में (ऋग्वेद ७।५६।१२, अथर्ववेद १४।१।१७; यजुर्वेद ३।६० ‘त्र्यम्बक’ शब्द आया है, जिसको लेकर भी विद्वानों में मतभेद है । यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्

उर्वारुकमिव बभूवुर्भूतयोर्भुवोर्भूमीय मामृतात् ॥

“हम सुगन्धि-प्रसारित पुष्टिकीर्ति और पुष्टिवर्द्धक, जगत् बीज वा आनमादि शक्ति-वर्धन त्र्यम्बक (ब्रह्मा, विष्णु और महेश को पिता वा आदि कारण) की पूजा या यज्ञ करते हैं । रुद्रदेव उर्वारक फल की तरह हमें मृत्यु-बन्धन (संसार) से मुक्त और अमृत (चिरजीवन या स्वर्ग) से मन-मुक्त करो ।”

(श्री रामसुन्दर त्रिवेदी)

“दिव्य गन्ध-युक्त मर्त्यवर्ध-हीन उभय लोको का फल देनेवाले धन-धान्यादि की पुष्टि बढ़ानेवाले पूर्वोक्त तीन नेत्रवाले शिव को हम पूजते हैं । वह हमको संसार के भरण से छुड़ावे, बन्धन से कर्करी फल के जैसा अर्थात् जैसे पका हुआ फल अपनी धुजी से छूटकर भूमि पर गिर जाता है, वैसे ही शिव की कृपा से मैं जन्म-मरण रहित हो जाऊँ ।”

(ऋ० कु० श्रीरामस्वरूप शर्मा)

“हम सुरक्षित, पुष्टिबर्धक त्र्यम्बक का पूजन करते हैं। हे रुद्र ! हमें मृत्यु के पाश से छुड़ाओ और अमृत से दूर जत रहो।”

—आचार्य श्रीराम शर्मा

“उत्तम यशस्वी पोषण-साधनों का संबन्धन करनेवाले, तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाले देव की हम उपासना करते हैं। यह देव ककड़ी को मुक्त करता है, इस तरह मृत्यु के बन्धन से हमें मुक्त करें, परन्तु हमें अमरत्व से कभी न छुड़ावे, परन्तु हमें अमरत्व से संयुक्त करें।”

—श्रीपाद रामोदर सातबकेकर

“हमलोग जो शुद्ध गन्धयुक्त शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ाने-वाला (त्र्यम्बकम्) जगदीश्वर है, उसकी निरंतर स्तुति करें। इसकी कृपा से जैसे खरबूजा फल पककर लता के सम्बन्ध से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हमलोग भी प्राण वा शरीर के बियोग से छूट जाएँ और मोक्ष-रूप सुख से श्रद्धा-रहित कभी न हो।”

—स्वामी हयानन्द सरस्वती

“(त्र्यम्बकम्) शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करें, जिससे मैं मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊँ और अमृत अर्थात् मोक्ष से दूर न होऊँ। परम पालक को प्राप्त करानेवाले इस ईश्वर की पूजा करें, जिससे हम इस देह-बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वंचित न रहें।”

आयंस्वमाजी भाष्यकार पं० अयदेवजी शर्मा

टिप्पणी—यजुर्वेद(वा०स०) में इस मन्त्र के साथ एक चरण और भी आया है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

अर्थ—वैसे ही इस रुद्र की कृपा से हम जन्म-मरण के पाश से मुक्त हों और स्वर्ग-रूपी सुख से विमुक्त न हो। मुझे दोनों लोकों का फल प्राप्त हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘त्र्यम्बक’, शब्द का अर्थ किसी ने तीन नेत्रवाला शिव, किसी ने तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाला, किसी ने शक्तित्रय से युक्त और श्री रामसुन्दर त्रिवेदी ने तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—के पिता या आदि कारण अर्थ लगाया है।

ईश्वर की प्रतिमा नहीं है, इसको स्पष्टतया यजुर्वेद (३.२। ३) घोषित करता है। इस स्पष्ट मन्त्र का अनुवाद भी विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। मन्त्र है—

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

उस महानारायण ुरुष का प्रतिमान उपमान कोई नहीं है, जिसका नाम महादेव महान है । अथवा जिसका प्रसिद्ध बड़ा यश है ।

—ऋ० कु० श्री रामस्वरूप शर्मा

उस ुरुष की कोई प्रतिमा नहीं है । उसका नाम ही अत्यन्त महान है । सबसे बड़ा उसका यश है । —आचार्य श्रीराम शर्मा

हे मनुष्यो ! जिसका (महत्) पूज्य बड़ा यश नाम स्मरण है, उस परमेश्वर की प्रतिमा परिमल उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकीर्ति मूर्ति या आकृति नहीं है । —स्वामी बयानन्द सरस्वती

श्री कृष्णमणि त्रिगौरी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'पुराण तत्त्वमीमांसा' (पृष्ठ ४३८—५३) में मूर्त-पूजा की चर्चा करने हुए वेदों के मन्त्रों से वैदिककाल में मूर्ति पूजा को प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है । सर्वप्रथम अग्ने अथर्ववेद के निम्नांकित मन्त्र (काण्ड १, सूक्त १३, मन्त्र १) का हवाला दिया है ।

नमस्ते अस्तु बिद्युते नमस्ते स्तनयित्तवे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने वृद्धाशे अस्थसि ॥

अर्थात्—मैं बिद्युत्-रूप इन्द्र को प्रणाम करता हूँ । मैं गर्जन-रूप इन्द्र को प्रणाम करता हूँ और मैं पाषाण-रूप इन्द्र को प्रणाम करता हूँ, जिस पापण से चोट लगती है ।

इस मन्त्र का अनुवाद विभिन्न वेदज्ञ निम्नावित प्रकार से करते हैं :

“दमकती हुई बिद्युत को मेरा प्रणाम पहुँचे । बिद्युत् की गडगडाहटकारी ध्वनि तथा अशनि को मेरा प्रणाम पहुँचे । आपके व्यापन-स्थान मेघ को मेरा नमस्कार पहुँचे । आप दुखदायियों एवं आततायियों पर वज्र प्रहार करके इन्हें दूर फेंकती हैं ।”

—आचार्य श्रीराम शर्मा

“हे देवि । ईश्वरी ! तू बिजली आदि में अपना तेज प्रकट करती है । मेघों में गर्जना कराती है और अपनी शक्ति से ओले भी बरसाती है । इन सब बातों से तू हमारे सब दुखों को दूर करती है । इसलिए, तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ।”

—वेदज्ञ श्री सातवलेकर

यजुर्वेद (अध्याय ३२, मन्त्र ३) में आया है —

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

हिरण्यगर्भेऽइत्येषः सा माहिसोवित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येष ॥

यद्यपि इस मंत्र से मूर्ति की झलक कहीं भी नहीं मिलती, जैसाकि सनातन-धर्मजिलम्बी टोकाकार श्रीराम शर्मा अथवा ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा की टीका से स्पष्ट है, तथापि हठान् त्रिपाठी जी को इस मंत्र में वेद में मूर्ति-पूजा का स्पष्टतया आभास मिलता है। आपका कथन है कि 'हिरण्यगर्भ' इस मंत्र में ईश्वर को सशरीरी बतलाता है। 'मामहिंसो' मंत्र में ईश्वर को संसार की मूर्तियों में व्यापक बतलाकर मूर्तिमान सिद्ध कर उससे रक्षा की प्रार्थना की गई है। 'यस्मान्जात' मंत्र में ईश्वर को व्यापक एवं मूर्तिमान बतलाकर वह दिखलाया गया है कि ईश्वर से उत्कट ज्ञानी कोई नहीं है। किन्तु इस मंत्र का मनगढ़न्त अर्थ करते हुए स्वयं शायद त्रिपाठी जी का अगले चौथे मंत्र एषो ह देवः प्रविशोऽजु सर्वा पूर्वा ह जात मऽ उ गर्भेऽमन्त । सऽ एव जातः स जनिष्यमाण प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख की ओर ध्यान नहीं गया। इस मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि वह प्रसिद्ध देव सब दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है। हे मनुष्यो ! सबसे पहले वही पुरुष प्रकट हुए हैं। गर्भ में यही स्थित होते हैं। जन्म लेनेवाले भी वही है। सब पदार्थों में व्याप्त और सब ओर मुख-वाले भी वही हैं।

अतः यदि हठ न कर निष्पक्ष भाव से देखा जाए तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगा कि इस तीसरे मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्ति नहीं है; क्योंकि जो कुछ दृश्य और अदृश्य है वह सब जगत् व्याप्त है।

अन्त में त्रिपाठी जी वेद के निर्मांकित मंत्र में मूर्तिपूजा करने का स्पष्ट आदेश पाते हैं :—

प्रक्षित प्रिय मेघासो अर्चत । अचिन्तु पुष्कर उत्पुटं न भृष्वर्चत ।

आप इस मंत्र का अर्थ करते हैं — हे अश्वधु आदि ! तुम स्तुति-विशेष से परमात्मा इन्द्र का पूजन करो। प्रिय मेघा के गोत्रवान् तुम पूजन करो और पुत्र भी विशेष रूप से इन्द्र का पूजन करें।

त्रिपाठी जी ने उल्लेख नहीं किया है कि उपर्युक्त मंत्र ऋग्वेद के किम् मण्डल या सूक्त में है। "ऋग्वेद-मन्त्राणाम् वर्णानुक्रम सूची" में खोजने पर भी मुझे इस मंत्र का उल्लेख नहीं मिला। अतः इस मंत्र का अन्य सनातनी वेदज्ञों का किया हुआ अर्थ देने में मैं असमर्थ हूँ। किन्तु जो अर्थ त्रिपाठी जी ने किया है, उसमें आए 'पूजन' शब्द से अर्थ नहीं निकलता कि इन्द्र की मूर्ति का

पूजन कहा है। वेदकालीन आर्य भगवान की प्रत्यक्ष विभूति अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि की उपासना करते थे। वह भी पूजा थी। निराकार ब्रह्म अथवा ब्रह्म स्वरूप ओ३म की उपासना भी पूजा की कोटि में आ जाती है।

पाठकों के भ्रम-निवारण के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक मालूम पड़ता है कि मैं स्वयं मूर्तिपूजक हूँ। हम वस्तुतः पत्थर नहीं पूजते, लेकिन पत्थर में मन्त्र द्वारा ईश्वर को सत्ता लाकर ईश्वर को पूजते हैं। भगवान ने गीता में स्पष्टतया कहा है कि निराकार की उपासना कठिन है। अतः जबतक प्राणी-मात्र में ब्रह्ममय भावना न हो जाय तबतक मन, वाणी और शरीर से मूर्ति में भगवान की भावना की उपासना करते ही रहना चाहिए। किन्तु जिस समय मनुष्य अम्यास करते-करते तत्त्वज्ञान का प्राप्त कर सारी सृष्टि में और जीव-मात्र में उसकी सत्ता का अनुभव करने लगे तो उस समय सिर्फ मूर्ति पूजन ही नहीं छूट जाता, बल्कि उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। अतः मूर्ति पूजा में आस्था रहने के कारण और निराकार ईश्वर की अनुभूति का साधन समझकर ही मैंने अनेक बार चारों धाम, सप्तर्षि तथा सुदूर अमरनाथ की यात्रा और पूजा की। अभी कुछ वर्ष पूर्व (सन् १९६६ ई० में) मैंने चौथी बार श्री बदरीनाथ की यात्रा की और पूजन किया। मूर्ति-पूजा की प्रथा बहुत ही लाभ-प्रद है और अनेक साधक मूर्तिपूजा द्वारा ईश्वरानुभूति प्राप्त करने में समर्थ हैं। सच्चे हृदय से प्रेमपूर्वक मूर्ति-पूजन करने से प्रत्यक्ष फल अवश्य मिलता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। किन्तु मूर्तिपूजा में आस्था रहने पर भी हमें भावना के आवेश में वास्तविकता को तिलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए। मूर्ति-पूजा की प्रणाली भले ही वैदिक काल में प्रचलित न हो, किन्तु लाभप्रद और भगवत्प्राप्ति का सुगम मार्ग होने के कारण सर्वथा ग्राह्य है। अतः इसे इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में प्रतीक-पूजा (मूर्ति पूजा) आर्यों में नहीं थी। ज्ञान और कर्म—सम्पत्ति का प्रभु अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था। धारणा थी कि स्तुति, प्रार्थना और उपासना-रूपी भक्ति-माग ही साधक को प्रभु के घर पहुँचा देता है—मुक्त कर देता है। वेद के शब्दों में इस घर पर पहुँचने के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वैदिक धर्म के दो मान्य अंग थे—ईश-स्तुति अथवा स्वाध्याय और यज्ञ। अतः वैदिक आर्य अग्नि में घी, यव आदि का हवन कर प्रभु को सर्वव्यापक समझते हुए उनकी किसी

विभूति की स्तुति एवं प्रार्थना करते थे। वह प्रभु निश्चित रूप से एक है। वह एक होकर भी अनेक नामों से पुकारा जाता है। ऋग्वेद (१/१६४/४८) में कहा गया है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गन्तमान आदि विविध नाम एक परमेश्वर के हैं। वेदों ने स्वयं इस तथ्य की घोषणा समय-समय पर प्रसंगवश करते हुए स्पष्ट कर दिया है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमातुरावो विभ्यः स सुपर्णो गन्तमान् ।

एकं सद्भिर्वा बहुधा वदन्त्यग्निं यम आतरिश्वाय मा : ॥

(ऋग्वेद १/१६४/४६)

यजुर्वेद में भी विभिन्न नामों में एक ही प्रभु की एकता दर्शाते हुए स्पष्ट-बया कहा गया है—

तवेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमा ।

तवेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽ आप स प्रजापति ॥

(यजुर्वेद ३२/१)

अर्थ—अग्नि वही है, आदित्य वही है, वायु, चन्द्रमा और शुक्र वही है, जल, प्रजापति आग सर्वत्र व्याप्त भी वही है।

इसी प्रकार अथर्ववेद (२/१/३) भी कहता है—यो देवानां नामश्च एक एव तं संप्रश्न भूवनायन्ति सर्वा ।

अर्थ—विभिन्न देवताओं का नामधारी वही एक ब्रह्म है। उसी उत्तम प्रकार से पूछने योग्य परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण भुवन पहुँचने हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद (३/३७/३)^१ की घोषणा के अनुसार ईश्वर का नाम एक वाणी में ही नहीं, किन्तु विविध वाणियों में विविध प्रकार का है।

कुछ विद्वानों के मत में भारत में मूर्ति-पूजा विदेशियों से सम्पर्क के बाद जल निकली। इतिहास से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में यूनान और मिस्र से भारत का सम्पर्क हुआ। इन दो देशों के निवासी बहुदेववाद में विश्वास रखते थे और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। अतः सम्भव है कि उन्होंने लोगों के सम्पर्क के बाद मूर्ति पूजा की प्रथा इस देश में फैली और सर्वप्रथम जैनधर्म के अनुयायियों ने अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ

१. नामानि ते क्षतक्रतो विश्वानिमीचिरीमहे ।

इन्द्राग्निमितिषाधाम् ॥

मन्दिरों में प्रतिष्ठित की। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के सैंकड़ों वर्ष बाद जब बौद्ध धर्मावलम्बियों के स्पष्टतया दो सम्प्रदाय—हनीयान और महायान—हो गए तब महायान, जो बुद्ध का ईश्वर के रूप में ध्यान और उनकी प्रार्थना करते थे, बुद्ध की मूर्ति की स्थान-स्थान पर मन्दिरों में स्थापित करने लगे और कुछ काल बाद हिन्दुओं ने इसका अनुकरण किया।

कुछ विद्वान् शिव को मूलतः सेमेटिक देवता मानते हैं, जिनको आर्यों के भारत-आगमन के पूर्व द्रविड़ों ने आत्मसात कर लिया था। इसी प्रकार गणेश को कुछ विद्वान् चीन की संस्कृति से प्रभावित समझते हैं। जो भी हो, यह ज्ञात होता है कि शिव और उनके परिवार के अन्य देवता—देवी, गणेश और स्कन्द—मूलतः अनाय देवता थे और कालांतर में आर्य और अनाय के सम्मिश्रण के बाद सम्मिलित हिन्दू राष्ट्र में देवकोटि में आकर वैदिक रुद्र से आत्मसात होकर आर्यों के देवता के सदृश पूजित हुए। पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राक्षसों (अनायों) के उपास्य देवता शिव थे और देवताओं के विष्णु थे। अनाय-देवताओं से वर प्राप्त कर अत्याचारी राजाओं का नाश करने के लिए विष्णु को विभिन्न अवतार लेने पड़े। इस सम्बन्ध में दक्षिण-भारत में सुब्रह्मण्यम् की प्रतिष्ठा और पूजा उल्लेखनीय है और इस सिद्धान्त पर कुछ प्रकाश डालती है। स्वामी कार्तिक का दक्षिणी नाम सुब्रह्माणियम है। उत्तर-भारत में सुब्रह्माणियम (स्वामी कार्तिक) का एक ही मन्दिर देखने को मिलता है, किन्तु दक्षिण-भारत में सुब्रह्माणियम के मन्दिरों को हम विष्णु और शिव के मन्दिरों के समकक्ष पाते हैं। दक्षिण के लोगों में सुब्रह्माणियम की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।१०) तथा यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में ईश्वर के विश्व-रूप का जो वर्णन है, उसके आधार पर अनेक लोग वेद में भगवान् की मूर्ति की कल्पना करते हैं। सूक्त बड़ा है, अतः यहाँ सिर्फ तीन मन्त्र सानुवाद दिया जाता है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो ब्रूताऽऽपतिष्ठद्ब्रह्माङ्गुलम् ॥

पुरुष एवेवं सर्वं यद्भूतं यच्च साध्यम् ।

उता मृतत्वस्थेशानो यद्यन्मेनातिरोहति ॥

एतावानस्य महिमास्तो ज्यायान्व पुरुषः ।

पादौऽस्य विजवाभूतानि त्रिपादस्यामृतं द्विवि ॥

अर्थ—विराट पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनन्त) शिरो, अनन्त अक्षुब्ध और अनन्त चरणों वाला है। वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुलि-परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर (पुरुष) ही है। वह देवत्व का स्वामी है, क्योंकि प्राणियों के निमित्त अपनी कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को प्राप्त करता है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। वह तो स्वयं अपनी महिमा से भी बड़ा है। इस पुरुष का एक पाद (अंश) ही यह ब्रह्माण्ड है। इसके अविनाशी तीन पाद तो दिक्लोक में हैं।

टिप्पणी यजुर्वेद के पाठ में थोड़ा मतभेद है। वहाँ पहले मंत्र में 'सर्वत स्पृत्वा' है।

इस मंत्र में परमात्मा को सहस्र शीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद अर्थात् हजारों शिर, हजारों आँख और हजारों पैरवाला अलंकार-रूप से वर्णित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों के शिर, आँख, पैर आदि उर्मी परमात्मा के अन्दर विराजमान हैं, इसी से उसे हजारों शिर, आँखों और पैरवाला कहा है।

अथर्ववेद के कुछ मंत्र ईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलंकृत भाषा में वर्णन करते हैं। यथा—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिअमृतोदरम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० १०।७।३२)

अर्थात् भूमि जिसका पैर है और अंतरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को मेरा प्रणाम।

वेद तथा वैदिक साहित्य में परमात्मा के विशाल रूप का ऐसी ही अलंकार-युक्त भाषा में अनेक स्थानों पर वर्णन आया है, किन्तु इससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नहीं होता। कतिपय विद्वानों ने वेदों में बहुदेवतावाद को माना है, किन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदों में मूर्ति-पूजा को प्रमाणित नहीं किया है।

उनिषदों में ईशोपनिषद् सर्वमान्य, प्राचीन और वेदकालीन माना जाता है। उसमें ईश्वर के निगाकारत्व का सर्वतः सिर्फ पोषण ही नहीं है, बल्कि साकारत्व का निषेध भी है।

मानव-जाति के इतिहास में सदा से देवतावाद का विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूल में देवतावाद एक प्रकार से मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर था। इसलिए प्रत्येक जाति के देवता या देवताओं के स्वरूप में उसके अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए क्रूर कर्मों में निरत जाति के देवताओं में क्रूरता प्रधान गुण और सौम्य जाति के देवताओं में दया, प्रेम जैसे सौम्य गुण देखे जाते हैं। वास्तव में किसी भी जाति के स्वरूप में और स्वभाव का बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओं के स्वरूप और स्वभाव के अध्ययन से किया जा सकता है। अग्ने जी में किसी लेखक ने कहा है—*Man creates God according to his own image.* अर्थात् मनुष्य ईश्वर की कल्पना अपनी विचारवारा के अनुसार करता है।

वैदिक देवताओं के विषय में सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुतों का प्राकृतिक आधार प्रायः स्पष्ट है। किन्तु उनके मूल में प्राकृतिक आधार होने पर भी, स्त्रोता की तन्मयता के आवेश के कारण उन-उन देवताओं में उनके पृथक् व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के अंतक पुरुष-विधित्व का आरोप भी प्रायः मंत्रों में देखा जाता है। देवताओं के हाथ, पैर आदि अंगों के साथ उनके वाहन, यहाँ तक कि उनकी पत्नियों का भी वर्णन मंत्रों में देखा जाता है। वैदिक देवता पाश्वरिक पूण सामाज्य से काम करते हैं। वे समस्त चराचर जगत की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (श्रुत) अपितु नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी पोषक और सरक्षक हैं। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ जगत के भद्र और कल्याण के लिए हैं। वे सतत कायशील हैं। इस लिए मनुष्यों का वास्तविक कल्याण देवताओं के साथ सवधा सायुज्य और तादात्म्य में है। किन्तु, इन सब वर्णनों से मूर्त रूप से इनकी पूजा का संकेत भी हमें कहीं नहीं मिलता।

१. उह नो लोऽमनोर्ष विद्वान्त्स्ववञ्ज्योतिरहम् स्वस्ति ।

अध्वात् इन्द्र स्थविरस्य बाहू उदस्थेयाम् शरणा बृहन्त ॥

(ऋग्वेद, २।४७।८)

अर्थ—इन्द्र, तুম ज्ञानी हो। हमें विस्तीर्ण लोक में सुखमय और भूशून्य आलोक में भी निविष्ट ले जाना। तুম प्राचीन हो। हम तुम्हारे मनोज्ञ और बृहत् वाहनों के ऊपर रक्षा के लिए आश्रित हैं।

वेदां में जहाँ-तहाँ ईश्वर की विभूति के रूप में विभिन्न नामधारी देवताओं के स्वरूप का वर्णन आया है, किन्तु उपनिषद् में भगवती उमा का हमें दर्शन होता है, स्वरूप का कहीं वर्णन नहीं मिलता। उपनिषदों में दस उपनिषदें (१) ईशा, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रण, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक सर्वमान्य हैं। ये दस उपनिषद ब्रह्मसमाज के एकमात्र प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। आर्यसमाज को भी सिर्फ ये ही दस उपनिषद मान्य हैं। श्री शंकराचार्य ने इनपर भाष्य लिखा है। इनका स्थान प्रस्थान-त्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—में है। किन्तु ईश्वतास्वेतम् उपनिषद् की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसपर शांकर भाष्य भी मिलता है। उपयुक्त ग्यारह उपनिषदें ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य में बहुत ऊँचा और मान्य स्थान है। इन उपनिषदों में हम ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एवं साकारत्व का सर्वथा निषेध पाते हैं। इसकी पूर्ति के लिए कनिषय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, न मनो, न विद्वो, न विजानीमो,
यथेतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादयो अविवितथि। इति शुभ्रम् पूर्वेणां
ये नस्तद् व्यचचक्षिरे। (केन० १।३)

अर्थ—न वहाँ आख पहुँचती है, न वाणी जाती है और न मन, इसलिए उसको नहीं जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके, वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक् है और अज्ञात में भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमका उसका उपदेश करते हैं।

उपयुक्त उपनिषद्-वाक्य में यह सुस्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि परमात्मा आकार-रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है।

अशरीर शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा शरीरो न शोचति ॥

(कठ १।२।२२)

देवानां भद्रां मुमतिश्च ज्ञायतां देवानां रातिरभि नो नि वर्त्तताम् ।

देवानां सख्यमुप सविम वयं देवा न आयुः प्र निरंतु जीवसे ॥

(ऋग्वेद, १।८६।२)

अर्थ—यजमान-प्रिय देवता लोग कल्याण-वाहक अनुग्रह हमारे सामने ले आवें और उनका दान भी हमारे सामने आए। हम उन देवों का अनुग्रह प्राप्त करें और वे हमारी आयु बढ़ाएँ।

अर्थ—वह परमात्मा लोगों के शरीर में रहते हुए भी स्वयं शरीर-रहित है। बदलनेवाली वस्तुओं में एकरस है। उस महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक-मुक्त हो जाते हैं।

अव्यक्तास्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।

मज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।

(कठ २।३।८)

अर्थ—जीव और प्रकृति में भी सूक्ष्म परमात्मा है, जो कि व्यापक और चिह्न-रहित निराकार है। जिसको जानकर मनुष्य दुःखों से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गृह्यायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति बीतशोको धातुप्रसादान्महिमान्मात्मनः ॥

(कठ १।२।२०)

अर्थ—ब्रह्म सूक्ष्म में भी अत्यन्त सूक्ष्म है। बड़े में भी बड़ा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है। उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम एवं शोक-रहित प्राणी देखता है।

न संदशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनेनम् ।

हृदा मनोषा मनसाभिकल्पो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(कठ २।३।६)

अर्थ—इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नहीं है और न आँखों से कोई देख सकता है। यह हृदय, मन तथा बुद्धि में ज्ञात होता है। जो लोग इसे जानते हैं, वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तद्वरे इयमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्रं

तदपाणिपादम् ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्यय यद्भूतयोर्नि परिपश्यन्ति धीराः ॥

(मुण्डक १।१।६)

अर्थ—जो परमात्मा न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ, न पाँव हैं, वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

विद्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यान्तरो ह्यक्षः ।

अप्रमाणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥

(मुण्डक २।२।२)

अर्थ—वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्ति-रहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्म-रहित, प्राण-रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रवृत्ति और जीव से सूक्ष्म है ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यदेवंस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानम्रावेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डक ३।१।८)

अर्थ—वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियो से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है । अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर ध्यान करता हुआ ही उस कला-रहित ब्रह्म को देख सकता है ।

तिलेषु तैलं दधनीषु सपिरापः स्रोतःस्वरणीषु वाग्निः ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽतो सत्येनेन तपसा योऽनुपश्यति ॥

(इबेताइबेतर १।१५)

अर्थ—जिस प्रकार तिलो में तैल, दही में घी, स्रोतो में जल और काष्ठ में अग्नि पेरने, विलोने, खोदने और रगड़ने से प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बार-बार देखने का प्रयत्न करता है, उसे यह आत्मा आत्मा में दिखाई देती है ।

अपाणिपादो ज्वनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

(इबेताइबेतर ३।१६)

अर्थ—वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करनेवाला तथा बिना पाँव के बेश्वराला है । बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है । वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है, पर उसका अंत जाननेवाला कोई नहीं । ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान् पुरुष कहते हैं ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्थ मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेककृपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिषं ज्ञान्सिमत्यन्तमेति ॥

(इबेताइबेतर १।१४)

अर्थ—वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत और इसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। उसी ने इस विश्व और इसके रूपवाले पदार्थ को रचा है। वह सारे ससार को घेरे हुए है। उसी कल्याण-स्वरूप प्रभु को जानकर मनुष्य अत्यन्त शांति को प्राप्त होता है।

उपयुक्त समस्त उपनिषद्-वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं, वहाँ यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अन्तःकरण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार वेद और उपनिषद् परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं और यह घोषित करते हैं कि जीवात्मा शुद्ध अन्तःकरण से ध्यान द्वारा उसको प्राप्त कर सकता है। साकार वस्तु के लिए स्थान की जरूरत होती है, परन्तु वेद और उपनिषदों के वर्णन से परमात्मा के किसी स्थान का कही उल्लेख नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में साकार ईश्वर की भावना जाग्रत नहीं हुई थी, जो मूर्ति-पूजा के लिए आवश्यक है।

डॉक्टर राघवेन्द्र वाजपेयी का विचार है कि भारतीय मूर्तिकला में अपनी परिपक्वता तथा पूर्णता शुभकाल तक पहुँच चुकी थी। लखनऊ संग्राहालय में मथुरा से प्राप्त बलराम की संग्रहीत प्रतिमा ही ब्राह्मण धर्म की प्रथम प्राप्त प्रतिमा मानी जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह “हिन्दूधर्म का प्रथम प्राप्त चिह्न है। भीटा से प्राप्त शिव का पञ्चमुखी लिंग भी लगभग इसी काल (ई० पू० दूसरी शती) का है।”

ई० पू० दूसरी सदी में पतञ्जलि ने मूर्तियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। आपने वसुदेव, शिव, विष्णु तथा आदित्य का उल्लेख किया है। इन देवताओं की प्रारम्भ से ही प्रतिमाओं के माध्यम से पूजा हुई है, जबकि वेदकालीन प्रकृति के देवता—इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, सूर्य आदि—की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं।

अतः स्पष्ट है कि वेदकालीन हिन्दू मूर्ति-पूजक नहीं थे और प्रकृति के देवताओं की उपासना मन्त्रों द्वारा किया करते थे।



द्वितीय परिच्छेद

अनाय-देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात

वैदिक आय निश्चित रूप से प्रतीक-पूजक नहीं थे।¹ जब वे पूर्व की ओर बढ़े तब उनका अनायों के साथ सम्पर्क भी बढ़ा। अनेक युद्ध हुए, जिनका वर्णन हमें ऋग्वेद में और उसके बाद पुराणों में मिलता है। अन्त में आयों की विजय हुई। विजित पर तो विजेता की संस्कृति का रंग चढ़ा ही, परन्तु विजेता भी अच्छे ने न बच सके। संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि पराजित अनाय विजेता आयों के साथ घुल-मिल गए और उनका पृथक् व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप की सम्य जातियों का सम्मिश्रण था, क्योंकि ऋग्वेद के मंत्रों तथा मित्र-घाटी की खुदाई से स्पष्ट है कि जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सम्यता आयों की सम्यता से कुछ आगे ही बढ़ी हुई थी। अतः स्वभावतः इस सम्मिश्रण में दोनों जातियाँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं। कुछ विद्वानों का विचार है कि अथर्ववेद का सकलन आय अनाय सम्मिश्रण के बाद हुआ और इसलिए पहले के कुछ ग्रन्थों में सिर्फ तीन वेदों का ही उल्लेख है।

अनायों का वैदिक आयों के साथ सम्मिश्रण का सबसे प्रमुख परिणाम यह हुआ कि वैदिक आयों के देवताओं ने अनाय देवताओं को आत्मसात कर लिया। सिन्धु-घाटी में पाई गई एक मूर्ति पुरुष देवता के दोनों ओर व्याघ्र, घोड़ा और भैंसा दिखाए गए हैं और सिंहासन के नीचे दो हिरनों का चित्र भी है। इस प्रकार वह देवता पशुपति के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। ज्ञात होता है कि जब आयों और अनायों का सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। “अतः जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ तब लिंगोपासना रुद्र की उपासना में समाविष्ट हो गई। पहले-पहन तो यह बात जरा विचित्र-सी

1. (a) *Max Muller* : Chips From a German Workshop,
Vol. I, P. 38

(b) *Macdonell* . Vedic Mythology, pp. 17—19.

लगती है कि आर्यों ने जिस प्रथा को गृहित समझा था (ऋग्वेद ७।२१।५; १०।१६।३) उसी को उन्होंने अपने देवता की उपासना का अंग बन जाने दिया। लिंगोपासना एक बड़ी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रबल थी और जिन लोगों में इसका प्रचार था, उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि आर्य सम्भवतः इसका पूषण रूप से दमन नहीं कर सके। इसके साथ स्वयं आर्यों की अपनी उर्वरता-सम्बन्धी विधियाँ थीं और स्रष्टा भी उर्वरता के देवता थे। अतः आर्यों के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषतः उन वर्गों ने, जिनमें ऐसी उर्वरता सम्बन्धी विधियों का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-घाटी के लोगों से सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, इस प्रथा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति में सम्मान था, जो आर्यों से कम सम्य नहीं थी, और फिर उर्वरता सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आर्यों के जनसाधारण के धार्मिक आचार-विचार के सव्याप्रतिकूल नहीं थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आर्यों में प्रचार हुआ।

“आर्यों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचारधारा का पृष्ठभूमि न रहने के कारण आर्य धर्म में प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ-न-कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाह्य आकार को तो बनाए रखा, तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गए। लिंग-मूर्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़ि-यत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना भी नहीं जा सकता था, और अन्त में सगवान शिव का लिंग एक प्रतीक-मात्र होकर रह गया—उनके निगुण स्वरूप का केवल एक संकेत।”

भारतीय अनाय भले ही शिव-पूजक रहे हों, किन्तु वैदिक साहित्य के पठन से स्पष्ट होता है कि भारतीय सम्यता और सुस्कार का आधार इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मविद्या और ब्रह्मचर्य रहा है। शिव-पूजा संव्यास इसके विपरीत और घृणास्पद है। प्राच्यविद्या के विद्वान् ए० एम० हैबेल का कथन है कि असम्यों की

शिश्न-पूजा को शिव-लिंग के साथ मिलाना अनुचित है। अनः जब उत्तर वैदिक काल में अनेक सघर्षों के बाद आर्य अनार्य झुल-मिल गए और अनार्यों के देवता का आत्मसात वैदिक रुद्र से हो गया तब स्वभावतः दृष्टिकोण में आसूल परिवर्तन हो गया और लिंग शिश्न का रूप न रहकर ब्रह्म का प्रतीक बनकर विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होने लगा।

अतः परवर्ती संस्कृत साहित्य और विशेषकर उपासना तथा साधना में 'लिंग' और 'योनि' शब्द का प्रयोग साधारणतः वस्तु के बोधक चिह्न और उत्पत्ति स्थान के अर्थ में हुआ, जन्तुओं की प्रजननेन्द्रिय के अर्थ में इसका बहुत संकुचित और समीति प्रयोग हुआ। कोष-ग्रन्थ शब्दों के अर्थ और प्रयोग का निर्धारण करते हैं। 'लिंग' शब्द का अर्थ मेदिनीकोषकार इस प्रकार करते हैं—

लिङ्गचिह्नाज्नुमाने च साङ्ख्योक्तप्रकृतावपि ।

शिवमूर्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम् ॥

अर्थ—'लिंग' शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—चिह्न, अनुमान, साध्य की प्रकृति, शिव की एक प्रकार की मूर्ति और शिश्न के अर्थ में भी। यह नपुंसक लिंग का शब्द है। इस श्लोक में आए शब्द 'अपि' से लेखक का मतव्य है कि शिश्न के अर्थ में भी कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। किसी कारण से उत्तर भारत में आज इस 'कभी-कभी' या 'भी' ने साधारण प्रयोग का रूप ग्रहण कर लिया है और इसके चिह्नादि व्यापक अर्थ में बोलचाल की भाषा में गौण और प्रायः अप्रयुक्त हो गए हैं।

अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान काल में लिंग की पूजा शिश्न-पूजा है अथवा ब्रह्म के प्रतीकरूप में पूजा है। इसपर अनेक विद्वानों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। यूरोप के कतिपय देशों—आयरलैंड, इंग्लैंड, ग्रीस—तथा मिस्र, जापान आदि सभी देशों में शिश्न-पूजा का प्रचार था। उसी के आधार पर मिस्टर केनेडी ने अपने ग्रन्थ 'Hindu Mythology' (हिन्दू मिथोलॉजी) के पृष्ठ ३८ पर लिखा है कि भारत में भी लिंग-पूजा के नाम पर शिश्न पूजा और वेदी के रूप में स्त्री-योनि की पूजा होती थी। श्रीगोपीनाथ राव केनेडी के मत से सहमत हैं। गुड्डिमलम में अति प्राचीन और यथार्थ-रूपी लिंग-मूर्ति मिली है। स्पष्टतया वह शिश्न की मूर्ति है। शिश्न की मूर्ति वहाँ कैसे और कहाँ से

आई और इसके खानेवाले कौन थे, यह कहना कठिन है। किन्तु यह ज्ञात होता है कि “जननेन्द्रियों की उपासना का प्राचीन सम्य ससार में बहुत प्रचारा था। आदिमानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदिमानव के अप्रौढ़ विवेक ने मधुन-कर्म और पशुओं तथा घान्य की उर्वरता के बीच एक कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इसी से लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियों की उपासना है।”^१

जो भी हो, वर्तमान काल में भारत में जो लिंग-पूजा होती है, वह शिक्षन के रूप में नहीं, किन्तु शिवजी के प्रतीक के रूप में। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, भारत के मान्य और प्रतिष्ठित साहित्य में लिंग विभिन्न अर्थ में लिया गया है और कुछ पुराणों को छोड़कर, जिनपर हम आगे विवेचन करेंगे, कहीं भी शिक्षन-देव के रूप में नहीं आया। निम्नांकित उद्धरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है

वेदान्त-सूत्र का भारतीय धर्म ग्रन्थों में एक प्रमुख और मान्य स्थान है। इस ग्रन्थ में बोधक शब्द के अर्थ में ‘लिंग’ शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है, और उनमें कहीं चिह्न या प्रमाण के अर्थ में और कहीं लक्षण के अर्थ में आया है। यथा—

अत्रियत्वा वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।

यहाँ लिङ्गात् क्षत्रियत्व-सूचक चिह्न या प्रमाण का बोधक है। कहीं-कहीं (१/१/२३; १/१/३१; १/४/१६; २/३/१३, ३/२/११; ३/२/२६; ३/३/४४; ३/४/३४; ३/४/३६; और ४/३/४) लक्षण के अर्थ में आया है। उदाहरणार्थ—तद्वामध्यामौबबतु तालिङ्गास्तः (२।३।१३) अर्थात् उन तत्त्वों का भलीभाँति चिन्तन का कथन होने में तो वह परमात्मा ही उन सबको रचना करता है, क्योंकि उक्त लक्षण उसी के अनुरूप है। उपयुक्त स्थलों में एक स्थान पर भी सूत्र में आए हुए ‘लिंग’ शब्द का कहीं भी शिक्षन के रूप में व्यवहार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनेक सूत्रों (४८, ७५, ७८, १०५, १८२, और ३४६) ‘लिंग’ में शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म तथा चिह्न के रूप में हुआ है। उदाहरणार्थ—वेदा लिङ्गाय (१८२) अर्थात् वेदों में चिह्न

पाए जाने से । सतालिल्ङ्गात्मावात् (१०५) अर्थात् कोई लिंग (चिह्न) वहीं पाया जाता, जिससे शब्द को अविनाशी वा नित्य मान सके ।

उपनिषदों में भी चिह्न, प्रमाण या लक्षण के रूप में 'लिंग' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

अत्यक्तत्त्वं परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव ।

यज्ज्ञात्वा मृष्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

(कठोपनिषद् २।५।८)

अर्थात् अव्यक्त प्रवृत्ति से पुरुष श्रेष्ठ है, जो सर्वव्यापक और अलिंग (चिह्न-रहित) है, जिसको जानकर प्राणी मुक्त होता है ।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न ज्ञेयता नैव च तस्य लिङ्गम् ।

न कारणम् करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

(इवेताइवेतरोपनिषद् ६।६)

अर्थात् न उसका कोई पति है, न शासक, न लिंग (चिह्न), न कारण, न कारण के स्वामी का स्वामी, न अधिक और न उत्पन्न करनेवाला ।

शिवोपनिषद् तथा सदानन्दापनिषद् में—जिनकी गणना मुक्तिकोपनिषद् में वर्णित १०८ उपनिषदों में नहीं है—भी लिंग का जो उल्लेख आया है, उससे शिवनदेव का अर्थ नहीं निकलता है । यथा—

हृदयान्तःकरण ज्ञेयं शिवास्यायतनं परम् ।

हृत्परम वेविका तत्र लिङ्गमोङ्कारमिष्यते ॥

(शिवोपनिषद् १।२४)

अर्थात् हृदय में अन्तःकरण (मन) ही शिव का सर्वश्रेष्ठ निवास-स्थान है । वहाँ हृदय-कमल वैदिक ॐ है और ऊँकार लिंग है ।

यद्दि लिङ्गं सकलं सकलं निष्कलं निष्कलं च स्थूलं सूक्ष्मं च तत्परम्, स्थूले स्थूले । सूक्ष्मे सूक्ष्मे कारणं तत्परं च ।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं यच्चोत्तरायणम् ।

ध्याननिर्मथनादेव पाशं बहति मानवः ।

अन्तर्बहिश्चतुर्लिङ्गं विषयं यस्तु ज्ञादवतम् ॥

(सदानन्दोपनिषद्)

1. आद्वार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशित "अप्रकाशिता उपनिषदाः",

पृ० क्रमशः ३२६ तथा ३८८-८९

अर्थात् यह जो लिंग है, वह साकार, साकार-निराकार और निराकार है । स्थूल, सूक्ष्म और उससे परे है । स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म में सूक्ष्म और इनसे परे अर्थात् इनका कारण है ।

टिप्पणी—यहाँ लिंग ब्रह्म का बोधक है ।

आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि-मन्थन का काष्ठ) और ऊँकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान से मथने पर मनुष्य बन्धन को जला देता है । इसे 'लिंग' कहा जाता है ।

लिङ्गराज ने भी शिवन को देव के रूप में नहीं माना है । यथा—

रूपं गच्छन्ति भूतानि संहरे निखिलं यतः ।

सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्मात्लिङ्गमुवाहृतम् ॥ (६६।८)

अर्थात् प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टि-काल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं ।

आध्यात्म रामायण (अरण्य सर्ग ३/२५-२६, अयोध्या १/२०-२१; किष्किन्धा ३/२३-२५,) में 'लिंग' शब्द आया है । किन्तु कहीं भी शिवन का बोधक नहीं है । यथा—

त्वदाभासोदितान्नानमध्याकृतमितीर्यते ।

तस्मान्महास्ततः सूत्र लिङ्गं सर्वात्मक ततः ॥

अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।

लिङ्गं मित्युच्यते प्रार्ज्ज्वन्मृत्युसुखादिमत् ॥

अर्थात् (नारद गम से कहते हैं) तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित अज्ञान अध्याकृत कहलाता है । इससे सूत्र रूप सर्वात्मक लिंग, उससे अहकार, बुद्धि, पञ्च प्राण और पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । बुद्धिमान लोग इन्हे लिंग कहते हैं । जन्म, मृत्यु, सुख इत्यादि इनके साथ लगे हुए हैं (अयोध्या, सर्ग १, श्लोक २०-२१)

बुद्धीन्द्रियादिसामोप्यावात्मनः ससृतिर्बलात् ।

आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्यत तदुद्भवान् ॥

किष्किन्धा, सर्ग ३।२३-२४

अपनी सृष्टि, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि की समीपता के कारण आत्मा अपने लिंग, मन का ग्रहण करके कामोपभोग करती हुई गुणों के बश में पड़ जाती है ।

संत्रालोक (आहिक ४, कारिका १३१) में 'लिंग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

लिङ्गशब्देन विद्याद्विः सृष्टिसंहारकारणम् ।

सयादागमनाच्चाहुर्भवानां यद्व्यवयवम् ॥

एकस्य स्पन्दनस्यैवा त्रेधा भेदव्यवस्थितिः ।

अत्र लिङ्गं यदा तिष्ठेत् पूजाविधान्तितत्परः ॥

अर्थ—विद्वान् कहते हैं कि 'लिंग' शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है । ल से लय और ग से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अवयव पद का बोधक है । पूजा में स्थिर होकर जब लिंग पर मन स्थिर होता है, तब (बोध होता है) कि एक ही स्पन्दन के तीनो भेद इसमें स्थिर हैं । अतः मनीषिगण कहते हैं—

लाभ गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः ।

सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्मात्लिङ्गमुदाहृतम् ॥

(लिंगपुराण ६६।८)

प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टिकाल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं ।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार बोधक चिह्न के अर्थ में हुआ है और वह ब्रह्म-बोधक चिह्न माना गया है, न कि शिवन । ब्रह्मोपासना के प्रधान साधन के रूप में पुराणादि में लिंग की नाना प्रकार से प्रशंसा की गई है और इसके द्वारा उपासना का विधान भी किया गया है । यथा—

आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम् ।

(सौर पुराण ४२।४९)

लिंग का आदि, मध्य और अन्त नहीं है । यह संसार-रोग के रोगियों के लिए भेषज (दवा) है ।

प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेत्सिङ्गमूर्धनि ।

(सौर पुराण ४२।४२)

लिंग के मस्तक पर ऊँ कार से पूजा करें ।

शिवोपनिषद् (२।३९) में लिंग के निर्माण और स्थापना की विधि दी गई है । उससे शिवन की तनिक भी झलक नहीं मिलती । कहा है—

अधोभागे स्थितः स्कन्धः स्थिता देवी च मध्यतः ।

उर्ध्वं रुद्रः क्रमादपि ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः ॥

एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणा ।

एत एव त्रयो वेदा एत अन्याश्रितं त्रिधा ॥

(लिंग के) निम्न भाग में स्कन्द रहते हैं, बीच में देवी रहती है और ऊपर के भाग में रुद्र हैं। अतः यह क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों गुण हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपों में वर्तमान है। ओंकार के अ, उ, म रूप में ब्रह्मा का स्थूल रूप माना गया है और इसीलिए ओम् की उपासना ब्रह्मा की उपासना कही गई है। लिंग के तीनों भाग ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप से ओंकार के प्रतीक है।

ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार विभिन्न रूप और अर्थ में आया है, यथा—इन्द्र लिंग, आग्नेय लिंग, याम्य-लिंग, ऐन्द्र-लिंग, वायु-लिंग, वरुण-लिंग, कुबेर लिंग, वैष्णव-लिंग, देह-लिंग, बोध-लिंग, देवी लिंग, पार्थिव लिंग आदि-आदि।

निराकार और ओंकार-स्वरूप ब्रह्मा के कल्पित रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए इस पर मुख बना दिया जाता है। कहीं इसपर एक, कहीं दो और कहीं तीन और कहीं पाँच मुख बना देते हैं। ब्रह्मैक्य के प्रतीक स्वरूप एक मुख बनाया जाता है। तीन मुख त्रिगुणान्मक स्वरूप के प्रतीक है। इसमें सामनेवाला एक मुख कुछ खुला हुआ रहता है। यह ग्जागुण है और यह सत्त्व और तमोगुण को जगाए रहता है। इसकी बाईं ओरवाला मुख प्रशान्त मुद्रा में दिखाया जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दाहिनी ओर-वाला कराल रूप में दिखाया जाता है। यह सहायक तमोगुण का चिह्न है। बिना शिवलिंग के यह मूर्ति त्रिमूर्ति कहलाती है। पाँच मुखवाले शिवलिंग चार मुख चारों ओर बने रहते हैं और पाँचवाँ मुख प्रायः नहीं बनाया जाता है। इसका वणन इस प्रकार दिया गया है—

मुखलिङ्गं त्रिवक्त्रं स्यादेकवक्त्रं चतुर्मुखम् ।

सन्मुखं चैकवक्त्रं स्यात् त्रिवक्त्रं पुण्ड्रके नहि ॥

पश्चिमात्यं स्थितं शुभं कुकुभा मे तथोत्तरे ।

याम्यं कृष्णकरालं स्यात् प्राच्यां दीप्तनिसन्निभम् ॥

पञ्चमं च तत्वेज्ञानं योगिनाम्प्यनोचरन् ।^१

किन्तु एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात कर लेने की रीति देवकथाओं में कोई असाधारण घटना नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार में जब कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनौतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जब कोई दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थी, तब देवताओं का इस प्रकार एक-दूसरे द्वारा आत्मसात अनिवार्य रूप से हो जाता था। अतः जब वैदिक आर्यों ने आर्येतर जातियों को अपने अन्दर मिलाना आरम्भ किया और फलस्वरूप स्वभावतः दोनों के जनसाधारण का ही आपस में सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, तब आर्यों के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात किया। यह बहुत सम्भव है कि आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली सबसे पहली आर्येतर जातियाँ हिमालय की उरत्यकाओं में बसनेवाली जातियाँ थी, क्योंकि वे ही उत्तरी पंजाब और काश्मीर के पहाड़ों में वैदिक आर्यों के निवास स्थान के समीप थी। इन्हीं जातियों में पूज जाने-वाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ सर्वप्रथम आत्मसात हुआ। ज्ञात होता है कि इसी कारण रुद्र का वह रूप बना, जो अश्वक्-होम में दिखाई देता है। अश्वक्-होम यजुर्वेद के सामान्य यज्ञ-विधान से पृथक् एक विशेष विधि है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के मूक्तों के निर्माण-काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तों के संकलन से पूर्व किसी समय आर्य-देवता रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात हो गया था। सम्भवतः हिमालय की उरत्यकाओं में बसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थीं। महाभारत के किशकिजुनीय प्रसंग से हमें आभास मिलता है कि भगवान् शिव का किरातो के साथ सम्बन्ध था। उत्तर-वैदिक काल में शिव का निवास-स्थान हिमालय के उत्तर कनारस पर्वत पर होना तथा यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में वर्णित रुद्र स्त्रात्र से भी इस विचार की पुष्टि होती है। यह निर्विवाद है कि वेदों में सबसे पुराना ऋग्वेद है और उसमें भी २ से ९ मण्डल सबसे प्राचीन माने जाते हैं। बाद में पहले और दसवें मण्डल का संकलन हुआ। कालान्तर में जब

१ भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ११५

यहाँ आर्य-जीवन का प्रमुख अंग हो गया तब उस सम्बन्ध के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता हुई, और ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के साथ अन्य मन्त्रों को जोड़कर यजुर्वेद का संकलन हुआ। यजुर्वेद का संकलन दो रूपों में—(१) शुक्ल और (२) कृष्ण—प्रचलित हुआ। शुक्ल यजुर्वेद में सिर्फ मन्त्र हैं, किन्तु कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण भाग भी सम्मिलित हो गया है।

वेदों के बाद ब्राह्मणों ग्रन्थ का स्थान आता है। जिस ग्रन्थ में वेदों के मन्त्रों का अर्थ-निर्णय किया गया है, जिसमें याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिए गए हैं, उसका नाम ब्राह्मण-ग्रन्थ है। उसमें नाना विषयों के आख्यान-उपाख्यान कहे गए हैं। तपोधन और त्यागमूर्ति ब्राह्मणों ने इसका संकलन, रसमर्ण और सृजन किया, इसलिये इसका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ करने की विधि विस्तार से दी गई है। इसी विधि विधान को व्यक्त करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद के स्वतन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ-ब्राह्मण की रचना हुई, जो सौ अध्यायों में विभक्त है और उसका स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वप्रथम है। उसको तात्कालिक विश्वकोष कहना अनुचित न होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में का रुद्र विशेष आवास उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा में कहा गया है। (ऐतरेय ५।२।६; कौश्रीतकी २।२; तैत्तिरीय १।६।१०; शतपथ ५।४।२।१०) और एक स्थान पर (ऐतरेय ५।२।१७) उत्तर दिशा से आने-वाले एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन आया है। इन सब आधारों पर डॉ० यदुवर्णी का विचार है कि "रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में आर्यतर अशों के मिल जाने के कारण उनमें और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक सकेत ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं। त्र्यम्बक-होम में रुद्र का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है। स्केत एक ही ओर है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक् समझा जाने लगा था। वैदिक काल के सामान्य देवगण से रुद्र के इस पृथक्करण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास में बहुत महत्व है। ब्राह्मण-काल में जब वैदिक कर्मकांड अपनी प्रौढावस्था को पहुँचा और उसका रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओं में से अधिकांश का व्यक्तित्व धीका पड़ गया, और वे सर्वशक्तिमान् आह्वान-मन्त्र से सज्जित स्त्रोता के संकेत-मात्र पर चलने

बासे होकर रह गए । रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद है और वह है—विष्णु । परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है, और उससे प्रस्तुत विवेचन का कोई संबंध नहीं है । रुद्र पुरोहितों के इस कर्मकाण्ड की जकड़ में नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढ़ती गई, इनकी उपासना में कुछ ऐसी बातें भी आ गईं, जो किंचित् आपत्तिजनक थीं; परन्तु वे संभवतः उन्हीं लोगों तक सीमित रही, जिनमें वे प्रारम्भ में ही प्रचलित थी । किन्तु दूसरी ओर, इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे, जो कृत्रिम कर्मकाण्ड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे । वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे और संभवतः इस मनोभाव का परिणाम श्वेताश्वेतरोपनिषद् की रचना और उसका व्यापक प्रचार था ।

गुह्य-यजुर्वेद के १६वें अध्याय में जो शतरुद्रिय सूक्त आया है, उसके ६६ मंत्रों में रुद्र के विभिन्न नाम आए हैं, जिनमें नौसर्ग्रीव, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिगम, पशुपति, शम्भु और शक्र प्रमुख हैं । ५१वें मंत्र में तो मृगचर्म पहने तथा त्रिशूल धारण किए शिव का वर्णन भी है । यथा—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव । परमे वृक्षऽआयुधं

निधाय कृत्ति वमानऽआचरपिनाक बिभ्रदागहि ।

अर्थ—हे शिव ! तुम अत्यन्त कल्याण के करनेवाले हो । तुम हमारे निमित्त शान्त और श्रेष्ठ बनवाले होओ । हमसे दूर स्थित ऊँचे वृक्ष पर तुम अपने त्रिशूल को रखकर, मृगचर्म को धारण करते हुए आओ । तुम अपने धनुष को धारण किए चले आओ । (आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे अत्यन्त पराक्रम-युक्त, अतिकल्याणकारी, सेना के पति, आप हमारे लिए प्रसन्न चित्त से मुखकारी हो । खड्ग, भूशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों का ग्रहण कर मृगचर्मादि की आंगरखी को शरीर में पहिने आत्मा के रक्षक धनुषवा वस्तु आदि धारण किए हुए हमलोगों की रक्षा के लिए आइए । (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि इस रुद्र-स्तुति का संकलन रुद्र के अनार्य-देवता से आत्मसात होने के बाद हुआ; क्योंकि अनेक नाम तथा मृगचर्म

रुद्र को पर्वतों और जंगलों से सम्बन्धित करते हैं। इनके अतिरिक्त 'क्षेत्रपति' और 'वर्णिक' शब्द भी आए हैं। ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता वीर्य पड़ते हैं, किन्तु यजुर्वेद में आकर महान् देवता हो जाते हैं और उपयुक्त उपाधियों से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद का वर्णन भयंकर देवता के रूप में आया है। देवता तक उनसे डरते हैं। रुद्र-स्तुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्राचीन स्वरूप की स्मृति उस समय तक शेष थी और इसी कारण इस सूक्त में रुद्र के भयावह बाणों का डर स्तोत्र-कर्त्ता के मन में अधिक है और वह अनेक प्रणसामूचक उपाधियों से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है।

ऋग्वेद (७।५९।१२) तथा यजुर्वेद में एक ओर महत्त्वपूर्ण नाम 'त्र्यम्बक' आया है। पुराणों में शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है और वेदों में आए हुए त्र्यम्बक शब्द को पौराणिक शिव का ही स्पष्ट उल्लेख मानते हैं। शिवपरक टीकाओं में इसका अर्थ तीन नेत्रवाला भी माना गया है।^१ यह मन्त्र आज महामृत्युञ्जय मन्त्र के रूप में आदर पाकर साधकों के जप का एक प्रमुख मन्त्र बन गया है। वैदिक साहित्य और परवर्ती साहित्य में 'अम्ब' का अर्थ है पिता। अतः यदि इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो त्र्यम्बक का अर्थ होना चाहिए, जिसके तीन पिता हैं। वैदिक देवताओं में केवल एक ही देवता ऐसा है, जिस पर यह वर्णन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मों का—पृथ्वी, आकाश और द्यु—वैदिक साहित्य में बहुधा उल्लेख मिलता है। चूँकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है, इसलिए सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव में अग्नि से चलकर रुद्र के पास आई। कालान्तर में 'अम्ब' शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गए और अम्ब के दूसरे अर्थ नेत्र को लेकर इसकी धारणा पौराणिक शिव के एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख स्वरूप की उत्पत्ति हुई और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।^२

अतः रुद्र कभी भी बिशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड के देवता नहीं थे, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक एक प्रमुख देवता बन गए थे, जिसका अपना वास्तविक

1. इस 'त्र्यम्बक' शब्द का विभिन्न विचारधारा से किया हुआ अर्थ प्रथम परिच्छेद में महामृत्युञ्जय मन्त्र की व्याख्या में प्रस्तुत है।

2. शिवमत

व्यक्तित्व था । वे वैदिक ऋत के मूर्तिमान् स्वरूप बन गए, जबकि अन्य देवता सर्वव्यक्तिमान् यज्ञ-विधि के समक्ष क्षीण होते जा रहे थे । इस प्रकार रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओं में ऊँचा हो गया और वे वास्तव में महा-देव बन गए । इसी कारण जब अथर्ववेद का संकलन हुआ तब उसमें ऋग्वेद की अपेक्षा उनका स्थान बहुत अधिक प्रमुख हो गया । अनेक सताब्दी बाद पौराणिक काल में शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अंश वैदिक रुद्र के स्वरूप और उपासना से ही लिए गए । ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक रुद्र का आवास उत्तर और उत्तर-पश्चिम कहे जाने के फलस्वरूप पौराणिक काल में शिव का निश्चित वासस्थान कैलास बन गया और उसी के चारों ओर अनेक कथाओं की रचना हुई ।

वैदिक आर्य बड़ी यज्ञ-वेदियों और कुछ अस्थायी मण्डपों से अधिक नहीं बनाते थे । इन दोनों में से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नहीं होता था । यज्ञ-समाप्ति के बाद उनकी भी समाप्ति हो जाती है—जैसा कि आज-कल यज्ञोपवीत या विवाह के समय बनते हैं । किन्तु जब वैदिक देवता रुद्र का एक ओर हिमालय के आदिबानियों के देवताओं से तथा दूसरी ओर सिन्धु-प्रदेश के अनाय शिशुनोपासकों के देवता से आत्मसात हो गया, तब संभवतः आरम्भ में लिंग-पूजा सीमित रूप में सिर्फ निम्नकोटि के आर्यों में प्रचलित होती है । ज्ञात होता है कि इन दो विभिन्न अन्तर्लोके के लोगों के सम्पर्क के बाद स्थायी उपासना-भवनों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी । जैसा कि प्रथम परिच्छेद में लिखा गया है, जहाँ तक मूर्तियों का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मूल आर्यों ने कभी देव-मूर्तियाँ बनाईं, यद्यपि देवताओं की कल्पना वे पुरुष-विध से करते थे । समस्त वैदिक धर्म में मन्दिर में मूर्ति-पूजा की विधि का कहीं उल्लेख नहीं है और न प्राचीन उपनिषदों की धार्मिक विचारधारा को उपासना की स्थायी भावना की अपेक्षा थी । सब तो यह है कि भारतवर्ष में सदा से ही धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसी को माना गया है, जिसमें मन्दिरों और मूर्तियों जैसे बाह्य साधनों की आवश्यकता ही न पड़ी । अतः जब हम देखते हैं कि अपर-वैदिक धर्म में मन्दिरों और मूर्तियों—दोनों का बड़ा महत्त्व है तब हमें यह मानना पड़ता है कि यह महान् परिवर्तन न केवल वैदिक धार्मिक विचारधारा और उपासना-विधि का स्वाभाविक विकास-मात्र है, अपितु किसी प्रबल बाह्य प्रभाव का परिणाम है, ।

यद्यपि अनायों से सम्पर्क के बाद आर्य-अनाय के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का आरंभ तो हो गया तथापि दीर्घकाल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा । ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो दोनों जातियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं । किन्तु इन ग्रन्थों में रुद्र देवता का सिन्धु-घाटी के देवताओं और प्रमुखतः शिव-देव के साथ आत्मसात किए जाने का कोई संकेत नहीं मिलता । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक सम्मिश्रण पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हुआ था । इससे यह धारणा प्रबल हो जाती है कि लिङ्ग-पूजक सिन्धु-घाटीवालों के सम्पर्क में आने पर भी अनेक शताब्दियों तक आर्यों ने यद्यपि हिमालय प्रदेश के अनायों के देवता से आत्मसात कर लिया, तथापि शिव-देव की पूजा, जिसका बड़े अपमान के साथ ऋग्वेद में (७।२१।५, १०।९९।३) उल्लेख किया गया है, आत्मसात नहीं कर सके थे, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण-काल तक आर्यों ने शिव-देव की पूजा को अपना लिया और तब इसके स्वरूप को ही बदल दिया जिसका हम पहले कह चुके हैं । इसी के परिणाम-स्वरूप जब मूर्ति-पूजा की प्रथा आर्यों में चल पड़ी तब शिव की पूजा साथ-ही-साथ अपनी-अपनी मनोभावना के अनुसार, मूर्ति के रूप में अथवा लिङ्ग के रूप में प्रचलित हुई, यद्यपि आज मूर्ति के रूप में शिव की पूजा लुप्तप्राय हो गई है । द्वादश ज्योतिर्लिंगों की महिमा इस बात की पुष्टि करती है ।

सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्य-धर्म में देवी की उपासना का आरम्भ हुआ । वैदिक रुद्र का 'अम्बिका' नामक एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था । अतः जब रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता को आत्मसात किया तब यह स्वाभाविक था कि सिन्धु घाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाए । वैदिक साहित्य में अम्बिका रुद्र की बहन है, स्त्री नहीं । यह बात हमारे अनुमान में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती, क्योंकि देवताओं के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही बदल जाते हैं । इस प्रकार सिन्धु-घाटी की देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी । इन दो देवताओं के समीकरण में सबसे बड़ी सुविधा यह हुई कि 'अम्बिका' शब्द का अर्थ है माता और सिन्धु-घाटी की देवी भी माता मानी जाती थी तथा दोनों का सम्बन्ध उर्वरता से था । कालान्तर में रुद्र की पत्नी के रूप में इस देवी का पद वैदिक देवताओं की पत्नियों से सर्वथा भिन्न हो गया । अन्य देवताओं की पत्नियों का अपना व्यक्तित्व बहुत कम विशिष्ट था, उनकी ख्याति अपने

पतिदेव के कारण ही थी, किन्तु रुद्र की पत्नी को एक स्वतंत्र देवता के रूप में बहुत ऊँचा स्थान मिला ।

स्वतंत्र रूप से उनकी उपासना से भारतवर्ष में शक्ति अथवा तांत्रिक मत का सूत्रपात हुआ । इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तृत रूप से प्रकाश डालेंगे ।

सिन्धु-घाटी के लोगों का आय-जाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत में मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना आरम्भ हुई । सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण होने पर तथा इन दोनों के देवताओं का परस्पर आत्मसात होने पर सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवताओं के मन्दिर, रुद्र की सहचरी देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे । इस प्रकार देवालय और उसमें स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रोगणेश हुआ ।

सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के एक हो जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, उससे लिंगोपासना दृढ़ हो गई । सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और आज सारे भारत में कन्याकुमारी से लेकर सुदूर अमरनाथ तथा केदारनाथ तक एक रूप से शिव की उपासना प्रचलित है और इसकी तुलना में मूल अनार्य-देवता विष्णु तथा उनके प्रमुख अवतार श्री राम और श्रीकृष्ण की उपासना भारत के विभिन्न अंचलों में ही मुख्य रूप से प्रचलित है ।

इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्नकोटि के लोगों ने कुछ नए देवी-देवताओं को अपनाया । ऐसे देवी-देवता असम्य जगली अनार्यों के द्वारा सवत्र पूज्य थे । इनकी आकृति पशु-पक्षियों की-सी होती थी या प्रेत-पिशाच-जैसे मुँह और दाँत हाँते थे । ऐसे देवी-देवता प्रायः क्रूरकर्मा होते थे । आज भी बहुत-से गाँवों में ऐसे ग्रामदेवों की मिट्टी या लकड़ी की मूर्तियाँ मिलती हैं, और भाँति-भाँति की पूजा द्वारा उन्हें शांत किया जाता है । अपने अनाय पड़ोसियों के सम्पर्क से आर्यों में नाग, गदहों पर सवार होनेवाली शीतला देवी और कुन्ने पर चढ़नेवाले भ्रंश के साथ मूषक-चाहन पर आरुढ़ हस्ति-मुख गणेश की भी पूजा प्रचलित हो गई ।



तीसरा परिच्छेद

उपनिषद्-काल

एक जाति का दूसरी जाति के सम्पर्क में आने पर परिस्थितियों के अनुसार कभी कम और कभी अधिक समय तक, सम्मिश्रण की प्रक्रिया के जारी रहने पर भी, दोनों जातियों को अपने-अपने अलग अस्तित्व का बोध रहता है। यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो धीरे-धीरे होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अतः इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना मभव नहीं है। सिन्धु-घाटी के लोगो तथा हिमालय-प्रदेश के आदिनिवासियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो उसी समय हो गया होगा जब उनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ, किन्तु ज्ञात होता है कि दीर्घ काल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। आर्य विजेता थे। अतः स्वभावतः उनमें बड़प्पन का अभिमान था। सती-दाह की कथा से हमें इस सम्बन्ध का एक प्रबल सूकेत मिलता है। ज्ञात होता है कि जब अनेक शताब्दियों के मध्य के पश्चात् आय और अनाय विवाह-सूत्र में बंधन लगे तब उसी सिलसिले में आय-नरेश दक्ष प्रजापति की पुत्री सती का विवाह गन्धर्व देश (तिब्बत)-निवासी शकर से हुआ, जो कालान्तर में वैदिक देवता रुद्र में विलीन हो गए। विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर भी आय-मम्यता और सस्कृति की महानता को दक्ष भूल नहीं सके थे, पूर्व सस्कार-पूर्ण रूप से मौजूद था। अनायों को बराबर का अधिकार और सम्मान देने के लिए वे प्रस्तुत नहीं थे। अतः यज्ञ में शकर को न तो मर्यादापूर्ण स्थान दिया और न निकटतम सम्बन्धी होने पर भी उन्हें निमन्त्रण ही दिया। किन्तु बिना निमन्त्रण पाए, इस धारणा के अनुसार कि 'मित्र, प्रभु, पितु, गुरु गेहा। जाइए बिनु बोले रुदेहा ॥'—सती बिना बुलाए पति-गृह चली गई। यद्यपि वहाँ उनका स्वागत नहीं हुआ, तथापि अपने अपमान का उन्हें क्षोभ भी नहीं हुआ। किन्तु, जब सती ने अपने पूज्य पति की वहाँ अवमानना देखी तब पति के अपमान के प्रतिकार में तथा आर्य-सस्कृति के अभिमान के फलस्वरूप दोनों जातियों के बीच के मनोमालिन्य को दूर करने के उद्देश्य से इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध करने के उपरान्त यज्ञ-कुण्ड में कूद कर आत्म-बलिदान किया। इसके फलस्वरूप आर्यों और अनायों का उत्तर-

भारत में संघर्ष बुझती हुई दीप-शिखा की तरह अन्तिम बार प्रज्वलित होकर अन्त में स्यायी रूप से आर्य-अनार्य के संघर्ष को सदा-सर्वदा के लिए दूर कर उन्हें स्नेह-सूत्र में बाँधने में समर्थ हुआ। आगे चलकर इसी धारणा ने श्रीराम-चन्द्र को दक्षिण-भारत में आर्य-संस्कृति के विस्तार का सुअवसर दिया। यह घटना स्पष्टतया ब्राह्मण-काल में हुई ज्ञात होती है, क्योंकि वैदिक यज्ञ के संबंध में ही यह घटना हुई थी। इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल तक यह सम्मिश्रण पूर्ण रूप से पुष्ट और व्यापक नहीं हुआ था। इस घटना से हम उस समय का अनुमान लगा सकते हैं, जब सम्मिश्रण की प्रक्रिया हो रही थी। पहले-पहल दो जातियों के लोगों के उन दलों में इक्के-दुक्के व्यक्तियों का मेल होता है जो सबसे अधिक एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और यदि कोई प्रतिबन्ध न लगा तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के पल व्यक्त होने में काफी समय लगता है। अतः आर्यों का अनार्यों के साथ सम्मिश्रण की प्रक्रिया तो आर्यों और अनार्यों के सम्पर्क के साथ-साथ आरम्भ हो गई होगी, किन्तु दीर्घ काल तक, यानी स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-काल तक, उनका अलग-अलग अस्तित्व बना रहा। इसी कारण ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण का प्रमाण मिलता है, किन्तु अनार्यों की लिंग-पूजा को आत्मसात करने का कही सकेत नहीं मिलता। ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल में ही रुद्र की मूर्ति की स्पष्ट कल्पना हो चुकी थी, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (६।१।३, १-८) में रुद्र-जन्म की कथा आई है, किन्तु कही भी उनकी मूर्ति की स्थापना और पूजा का उल्लेख नहीं है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद वैदिक साहित्य में आर्यों की विचार-पद्धति को दर्शाने वाले ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषद् मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के जो अश अरण्य या विपिन में पठित और उपविष्ट हुए, उनका नाम 'आरण्यक' है। इन आरण्यकों के भाग या खण्ड गहन, गंभीर और सूक्ष्म मनन-चिन्तन से परिपूर्ण हैं और उनमें अश का नाम उपनिषद् है। उपनिषदों में परमात्मा के संबंध की निगूढ आलोचना है।

उपनिषद् अनेक हैं। १०८ उपनिषदों का उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् में आया है। अधिकांश विद्वान् इन्हो १०८ उपनिषदों से परिचित हैं। किन्तु इन १०८ उपनिषदों के अतिरिक्त ७१ उपनिषदों को 'अप्रकाशित उपनिषद्' के नाम से आद्वयार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशन हुआ है। इसमें एक 'अल्ला-उपनिषद्'

भी है, जिसके कुछ अंश तो अरबी भाषा में हैं और कुछ संस्कृत में। इस उपनिषद् की रचना बादशाह अकबर के समय में 'दीन-इलाही' मत की पृष्ठि के लिए की गई थी। यह उपनिषद् छोटी है। इसमें सिर्फ उन्नीस पक्तियाँ (लाइन) हैं। उदाहरणार्थ कुछ पक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं :

दिव्यानि घत्ते घत्ते दिव्यानि घत्ते । घत्त इलल इलले घत्ते घत्त इलले ।
घत्त इति घत्ते । इलले वरुण इलल इलले वरुणः । इलल इति इलले ।

इसमें ज्ञात होता है कि उपनिषदों का निर्माण जो वैदिक काल में शुक्ल-यजु-वेद के चालीसवें अध्याय में ईशावास्योपनिषद् के रूप में आरम्भ हुआ, अबाध-गति में मुगल बादशाह अकबर के शासन-काल तक चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदों की रचना हुई।

किन्तु सर्वमान्य सिर्फ दस उपनिषदें हैं—(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक। इन दस उपनिषदों का स्थान प्रस्थान-त्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—में है। शंकराचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने इन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त श्वेताश्वेतोपनिषद् की भी काफी मर्यादा है। शंकराचार्य ने इसपर भाष्य भी लिखा है। यद्यपि दशोपनिषद् ब्रह्म-परक है और उनमें देवी-देवताओं का उल्लेख नहीं है तथापि बृहदारण्यक^१ (१।८।११, २।२।२) और प्रश्नोपनिषद्^२ (२।६) में प्रसंगवश रुद्र का उल्लेख आया है।

१ ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् एकमेव । तवेक सन्न व्यभवत् । तत् श्रेयोरूप-
मत्यसृजत क्षत्र यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण सोमो रुद्रः
पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ।

अर्थ—प्रारम्भ में एक ब्रह्मा था। वह विभूतियुक्त कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हुआ, क्योंकि वह उस समय अकेला था। उसने कल्याण-स्वरूप क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया एवं देवताओं में क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि की रचना की।

१. (क) तथा इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभि रैन रुद्रोऽन्वायसोऽथ ।
(बृहदारण्यक २।२।२।)

अर्थ—सात रुद्रादि देवता नेत्र-स्थित प्राण की रक्षा करते हैं, जिनमें जो ये नेत्र में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा रुद्र इस मध्यम प्राण के अनुगत हैं।

२. इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता । (प्रश्नोपनिषद् २।६।)

उपनिषदों में मैत्रायणी उपनिषद् की भी मर्यादा है। अनेक विद्वान् दशोप-
निषद् के साथ प्राचीन उपनिषदों में श्वेताश्वेतर, कौषितकी और मैत्रायणी का
भी उल्लेख करते हैं। श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी पर शंकराचार्य का भाष्य
मिलता है। किन्तु इन उपनिषदों के विषयों के चयन से ज्ञात होता है कि ये
उपनिषद दशोपनिषद् के बाद त्रिदेव ब्रह्म की भावना के पूर्णरूपेण पुष्ट होने के
पहले की हैं, क्योंकि रुद्र का सम्बन्ध स्पष्टतया तमोगुण से किया गया है और
आर्यों के उपास्य और रक्षक विष्णु का सतोगुण से। मैत्रायणी उपनिषद्
से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना का अन्त नहीं हुआ
था। इस उपनिषद् के चौथे प्रपाठक में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को परमात्मा का
सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। किन्तु इन तीनों को परमात्मा का
पर्यायवाची कहकर ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु को क्रमशः परमात्मा का रजोगुण,
तमोगुण और सतोगुण का अंश कहा गया है। इसमें तात्पर्य यह निकलता है
कि तीनों मिलकर पूर्ण परमात्मा का स्वरूप है।¹ इस उपनिषद् के अंत में
शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्तृप्ता (ब्रह्मा), हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस,
विष्णु, नागयण, अर्क, सविता, धाता, सन्नाट, इन्द्र और चन्द्र सबको नियन्ता
और पर्यायवाची कहा है।²

अर्थ—हे प्राण ! तू इन्द्र है, तेज के कारण तू ही रुद्र है।

1 ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्ययमोह खलु बाबास्य राजसोऽशोऽसौ
स योज्यं ब्रह्माऽय योह खलु बाबास्य तामसोऽशोऽसौ स सोऽयं रुद्रो-
ऽय योह खलु बाबास्य सात्त्विकोऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा
एव एकस्त्रिधा भूतः । (मैत्रायणी उप०-४।५)

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र (रुद्र) को परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ
शरीर कहा गया है। उसपर परमात्मा के रजोगुण का अंश ब्रह्मा है, तमोगुण
का अंश रुद्र है और जो सतोगुण का अंश है, वह विष्णु है। इस प्रकार वह
एक ही परमात्मा तीन रूपों में प्रकट हुआ है।

2. एव हि खल्व्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्व
सृष्टिहरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणो-

रुद्र सम्बन्धी उपयुक्त उपनिषदों की कमी श्वेताश्वेतर उपनिषद् पूरी कर देती है। इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम महेश्वर, शिव, ईशान आदि नाम से रुद्र सम्बोधित हुए हैं। वेदों में रुद्र का उग्र देवता के रूप में परिचय आया है, किन्तु श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सिर्फ एक श्लोक (३।६) में उनकी प्राचीन उग्रता का उल्लेख मिलता है।

ब्राह्मण-ग्रंथों के समय में रुद्र के पद का कितना उत्कर्ष हो चुका था, यह इस उपनिषद् में स्पष्ट झलक जाता है। वे मोक्षान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय हो जाते हैं, और उनको स्रष्टा ब्रह्म, परमात्मा माना गया है। रुद्र की स्तुति में वेद के पुरुष-सूक्त के भी कुछ मन्त्र ज्यों-कै-त्यों इस उपनिषद् में (३।१४-१६) आ गए हैं। इस प्रकार, इस उपनिषद् में रुद्र के साथ पूर्ण रूप से ब्रह्म का

ऽकः सविता धाता मन्त्राजिन्द्र इन्द्ररिति य एष तपस्य-

तिना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्यमयेनान्देनैष वाव

विजिज्ञासितघ्नोऽन्वेष्टव्यः ।

(मंत्रायणी ५।८)

अर्थ—यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शांत, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, मन्त्राट, इन्द्र और चन्द्र है। जो इस अग्नि के रूप में तपता है और हजारों के नेत्र-रूप में प्रकाशमय आनन्द में व्याप्त है, वही जानने योग्य है।

1. यमिषु गिरिशन्त हस्ते विमर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्रतां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥

अर्थ—हे गिरिशन्त ! जीवों की ओर फेंकने के लिए तुम अपने हाथ में जो बाण धारण किए रहते हो, हे गिरित्र ! उन्हें मंगलमय करो, किसी जीव या जगत् की हिंसा मत करो ।

मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः ।

वीरान्मो रुद्र मामिनो वधीर्हविन्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥

अर्थ—हे रुद्र ! तुम कुपित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गो और अश्वों का क्षय न करना और हमारे वीर सेवकों का भी वध न करना। हम हव्य-सामग्री से युक्त होकर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं ।

तादात्म्य किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद्, काल की दृष्टि से दशोपनिषद्-काल के बाद की और रुद्रहृदयोपनिषद् सहस्र शेष उपनिषदों के बहुत पहले की रचना है। उसमें रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् की रचना के समय तक रुद्र का उत्कर्ष पूर्ण रूपेण हो चुका था और वे सिर्फ जनसाधारण के देवता ही नहीं थे, अपितु आर्यों के सबसे अधिक आराध्य देव बन गए थे।^१ इस उपनिषद् में रुद्र को योगी, चिन्तक और शिक्षक-रूप में भी कल्पना की गई है। इस उपनिषद् में पहली बार रुद्र का विश्व की सक्रिय सृजना-शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है और उसको परब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा वह विविध रूप से विश्व की सृष्टि करता है।^२ इसी उपनिषद् में पहली बार शिव को

१ तदेवाग्निस्तदावित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्ल तद्ब्रह्म तदापस्तप्रजापतिः ॥ ४।२

अर्थ—वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्ल (गुद्ध) है, वही ब्रह्म है, वही जेता है और वही प्रजापति है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः ।

सर्वव्यापी स मगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ ३।११

अर्थ—वह भगवान् समस्त मुखीवाला, समस्त शिरोवाला और समस्त ग्रीवाओवाला है। वह सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरणों में स्थित और सर्वव्यापी है, इसलिए सर्वगत और मगलमय है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मरन्त रयियोन

ज्यायोऽस्तिकश्चित् । वृक्षइव स्तब्धो बिबि तिष्ठत्येक-

स्तेनेनं पूर्णपुरुषेण सर्वम् ॥ ३।६

अर्थ—जिसमें उन्कट और कोई नहीं है तथा जिसमें छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है, वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव में स्थित है। उस पुरुष ने ही इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है।

२. एको हि रुद्रो न द्वितीयो तस्म्यं इमांस्लोका

नीशत ईशनीभिः । प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुको-

चातकाले संसृज्य विश्वामुवनानि गोपाः ॥ (३।२)

परब्रह्म माना गया है। इसी में सांख्य और सांख्य प्रकृति का पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है।¹

किन्तु रुद्र-सम्बन्धी उल्लेखों में भरपूर रहने पर भी इस उपनिषद् में संकेत में भी कहीं रुद्र की मूर्ति की पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् के रचना-काल तक लिङ्ग-पूजा आयों में आरम्भ नहीं हुई थी, अन्यथा रुद्र के सम्बन्ध में विशद वर्णन में भी कहीं-न-कहीं उसका उल्लेख आ ही जाता। यहाँ जो कुछ आया है वह सिर्फ रुद्र के निराकार रूप को व्यक्त करता है।

केनोपनिषद् में—जिसकी गणना दस अति प्राचीन उपनिषदों में होती है—कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्मज्ञान उमा हैमवती नामक एक देवता ने कगया (३।१२)। इस उपनिषद् में अपर-वैदिककालीन देवता उमा का वैदिककालीन सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र में साक्षात् एक अद्भुत घटना है।²

अर्थ—क्योंकि एक ही रुद्र है, इसलिए (ब्रह्मविद्) उसमें भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिए अपेक्षा नहीं करते। वह अपनी (ब्रह्मादि) शक्तियों द्वारा इन लोको का शासन करता है, वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है और सम्पूर्ण लोको की रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें मकुचित करता है।

1 नित्यो नित्याना चेतनश्चेतना नामे को बहूना यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगि गम्य ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥ (६।१२)

अर्थ—जो नित्यो में नित्य, चेतनो में चेतन है, अकेला है। बहुतों को भोग प्रदान करता है, सांख्य योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर उस समस्त बन्धनों में मुक्त हो जाता है।

2. सतस्मिन्नेवाकाशे स्थित्य माजगता बहुशोभना
उमा हैमवती ता हो वाच किमेतच्च यक्षामिति ।

(केनोपनिषद् ३।१२)

अर्थ—इन्द्र ने अत्यन्त सुशोभित और सुवर्ण के आभूषणों को पहने हुए हिमाचल की कन्या उमा को आकाश में बिद्या-रूप से प्रकट हुए देखा। इससे यक्ष (ब्रह्म) के वृत्तान्त का पता लगेगा, ऐसा समझकर देवराज इन्द्र उसके समीप जाकर पूछने लगा कि वह यक्ष कौन था।

क्योंकि जहाँ वेद में इन्द्र की कल्पना ब्रह्मा (ईश्वर) के रूप में की गई है, और जिसकी स्तुतियों में ऋग्वेद भरपूर है, उपनिषद्-काल तक इनकी मर्यादा इतनी गिर गई ज्ञात होती है कि इन्हें हम उमा से ब्रह्मोपदेश पाते देखते हैं । पुराणों के अनुसार सती का दक्ष-यज्ञ में अपने को बलिदान कर देने के अनेक काल बाद उमा का हिमाचल के घर में जन्म हुआ और बाद में शिव से विवाह हुआ । अतः इस उपनिषद् की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत बाद की ज्ञात होती है; क्योंकि ब्राह्मण-काल में इन्द्र की मर्यादा अक्षुण्ण दीख पड़ती है और दूसरी बात यह है कि उमा नाम और हैमवती उपाधि से हमें तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का स्मरण हो जाता है, जिसका नाम उमा था और वह हिमवान् की पुत्री थी । यहाँ यदि उमा की उपाधि हैमवती न रहती तो शिव की पत्नी होने का ख्याल भी नहीं होता, क्योंकि हैमवती का अर्थ सुवर्ण-वर्ण अथवा सुवर्णमय भी है । अतः यह भी सम्भव है कि अपर वैदिककाल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगने पर केन-उपनिषद् में सुवर्ण-वर्ण उमा का वर्णन आने के बाद शिव की पत्नी पार्वती का नाम उमा भी पड़ गया हो, क्योंकि लक्ष्मी और सरस्वती के सदृश शिव-पत्नी सिर्फ एक नाम में प्रसिद्ध न होकर कालान्तर में अनेक नामों—दुर्गा, काली आदि—में प्रसिद्ध हुईं और विभिन्न नाम और रूप से उनकी पूजा आज होती है । कुछ भी हो, उनके साक्षात् उपस्थित होने के फलस्वरूप हमें एक देवता का साक्षात् दर्शन होता है, किन्तु इससे किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा का संकेत नहीं मिलता ।

इन प्राचीन उपनिषदों के अतिरिक्त रुद्र का उल्लेख अन्य उपनिषदों में भी आया है । किन्तु निश्चित रूप से वे आधुनिक हैं, अतः उनपर विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है ।

सुतरा बृहदारण्यक प्रश्न, मैत्रायणी, केन और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर उपनिषद् में जो रुद्र-सम्बन्धी वर्णन आया है, उसमें संकेत-रूप में भी उस काल में किसी भी रूप में प्रतीक-पूजा का आभास नहीं मिलता । अतः ज्ञात होता है कि यद्यपि उपनिषद्-काल तक वैदिक देवता रुद्र का अनायों के देवता से आत्मसात हो चुका था और रुद्र समान रूप से आयों और अनायों के उपास्य हो चुके थे, तथापि आयों में प्रतीक-पूजा को उस काल तक अपनाया नहीं था ।



चौथा परिच्छेद

रामायण-महाभारत-काल

रामायण-काल

रामायण का ठीक-ठीक समय निश्चित करने के संबंध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण में वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से काफी पहले घटी थी। उस समय तक वैदिक मर्यादा तथा आर्य-संस्कृति का ह्रास नहीं हुआ था। किन्तु रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मासाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो चुकी थी, जिनके परिणाम-स्वरूप ऋषियों के यज्ञों को मासादि से अपवित्र करने के कारण राम को ताड़का और सुबाहु का वध करना पड़ा। वास्तव में यही बात राम के वन-गमन का कारण बनी।

इस समय रामायण-सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उन सबका आधार ऋषि वाल्मीकि-कृत रामायण ही है। किन्तु जितनी भी वाल्मीकीय रामायण मिलती है, उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक-संख्या विभिन्न तथा अनेक अप्रासंगिक एवं प्रकृति-नियम-विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह प्रायः सर्वमान्य हो गया है कि अन्य ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री भरपूर है।

भारतवर्ष में अनेक मतान्तरों के प्रचार तथा उनके अनुयायियों के द्वारा (मुद्रणालय-युग के पहले जब हस्तलिखित पुस्तकों का युग था) समय-समय पर श्लोक बनाकर मिलाए गए। यही कारण है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों एक-दूसरे में नहीं मिलती। कहा जाता है कि मूल रामायण की श्लोक-संख्या ६,६८० थी, किन्तु आज जो वाल्मीकि रामायण प्राप्य है, उसका कलेवर इतना बढ़ गया है कि उसमें २४ सहस्र श्लोक हो गए हैं।

आज वाल्मीकि-कृत रामायण में तीन पाठ मिलते हैं - (१) दाक्षिणात्य, (२) गौडीय और (३) पश्चिमोत्तरीय। इनमें दाक्षिणात्य पाठ अपेक्षाकृत विस्तृत होने के साथ साथ अधिक प्रचलित है। बम्बई, पूना, प्रयाग, पारडी (सूरत)

आदि स्थानों से प्रकाशित जो रामायण उत्तलब्ध हैं, वे सब दक्षिणात्य पाठ हैं। पश्चिमोत्तरीय पाठ दयानन्द महाविद्यालय मस्कृत-ग्रथमाला से प्रकाशित तथा वेद-प्रतिष्ठान, होशियारपुर, पंजाब से प्राप्य है। गौडीय प्रति मुझे खोजने से कहीं नहीं मिली। प्रत्येक के पाठ में बहुत-से श्लोक ऐसे मिलते हैं, जो अन्य पाठों में नहीं पाए जाते हैं। दक्षिणात्य, पश्चिमोत्तरीय तथा गौडीय पाठों की तुलना करने पर देखा जाता है कि प्रत्येक पाठ में श्लोकों की लगभग दो-तिहाई संख्या समान रूप से मिलती है। इसके अतिरिक्त जो श्लोक तीनों पाठों में पाए भी जाते हैं, उनका पाठ भी एक नहीं है और इनका क्रम भी अनेक स्थलों पर भिन्न है।¹

पश्चिमोत्तरीय संस्करण में श्लोकों की बार्ह और गौडीय पाठ के श्लोकों की संख्या दो गई है और दाहिनी ओर दक्षिणात्य पाठ के श्लोकों की। जहाँ इन दोनों संस्करणों में कोई श्लोक नहीं आया है, वहाँ संकेत-चिह्न N दे दिया गया है। सर्गों का सिलसिला भी एक-सा नहीं है। उदाहरणार्थ बालकाण्ड के पश्चिमोत्तर पाठ के एकादश सर्ग का श्लोक दक्षिणी पाठ के १६वें सर्ग में आया है और गौडीय पाठ के १४, १५ और १६वें सर्ग में।

रामायण के भिन्न-भिन्न पाठों की तुलना करने पर स्पष्ट है कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड बाद के लिखे हुए हैं। वस्तुतः बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड वाल्मीकि-कृत रचना में विद्यमान नहीं थे। वाल्मीकि-कृत आदिरामायण (काण्ड २—६) तथा प्रचलित रामायण में जो अन्तर पाया जाता है, इसके लिए बहुत काल की आवश्यकता है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में राम का वर्णन स्पष्ट-तथा विष्णु के अवतार के रूप में आया है, किन्तु अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक राम स्पष्टतया पुरुषोत्तम ज्ञात होता है, यद्यपि अयोध्याकाण्ड के आरम्भ में (१/७) और युद्धकाण्ड के अन्त में (सर्ग ११७ और ११९) स्पष्टतया राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। प्रसंगवश सुन्दरकाण्ड में भी एक जगह (५१/३९-४२) कहा है कि युद्ध में त्रिलोक-स्वामी राम के सामने गन्धर्व, देवता, दैत्य, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, सर्प, सिद्ध किन्नर और पक्षी आदि सब प्राणियों में सर्वत्र किसी काल में भी कोई ऐसा नहीं हो सकता, जो विष्णु-मुल्य पराक्रमी राम का सामना करे। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण में अनेक स्थल

1. रामायण : रेवरेण्ड डॉ० कामिल बुल्ले ।

प्रक्षिप्त हैं, जिनमें अयोध्याकाण्ड के सर्ग १०९।३४ में गौतम बुद्ध का उल्लेख प्रक्षिप्त होने का ज्वलन्त उदाहरण है। वेदवाणी कार्यालय, आजमगढ़ पेंसेस, वाराणसी से वाल्मीकि-रामायण के सुन्दरकाण्ड तक का सानुवाद संस्करण छप चुका है। इसमें विद्वान सम्पादक ने प्रक्षिप्त अक्षो को छोटे अक्षरो में दिखाया है। किन्तु इस संस्करण में स्पष्टतया आर्य-समाज के दृष्टिकोण से प्रक्षिप्त अक्षो का उल्लेख है।

आर्य विद्वान पं० प्रेमचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर ने मूल वाल्मीकि-रामायण की श्लोक-संख्या ६,३८२ निर्धारित की है और इसी दृष्टिकोण से वाल्मीकि-रामायण के २४ सहस्र श्लोकों को छानकर जो संस्करण सम्पादित किया है, उसकी श्लोक-संख्या ६,३८२ है। यह ग्रंथ गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली में प्रकाशित हुआ है।

स्पष्ट प्रक्षिप्त भागों के होने हुए भी समस्त रामायण में सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञों तथा सध्या-वन्दन का वर्णन है। मूर्ति-पूजा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। मूर्ति-पूजा विषयक श्लोकों का सर्वथा अभाव यह सिद्ध करता है कि जिस काल में प्रक्षिप्त अंश जोड़े गए, उस समय भी मूर्ति-पूजा जारी नहीं थी।

उत्तरकाण्ड बहुत बाद का जोड़ा हुआ है और इसका प्रमाण भी पर्याप्त है। युद्धकाण्ड के अंत में (सर्ग १२८, श्लोक १०५-२२) जो फल-स्तुति मिलती है, उससे यह प्रमाणित होता है कि रामायण की परिसमाप्ति वही हो गई। इसके अनिर्गुण उत्तरकाण्ड और युद्धकाण्ड में परस्पर-विरोधी बातें भी मिलती हैं।

बालकाण्ड के आरम्भ में महर्षि वाल्मीकि महर्षि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस संसार में सर्वशुण-सम्पन्न, धर्मज्ञ, कृत्यज्ञ, सत्यवादी, सुदृढव्रत, उदार आचरणवाले, सब भूतों में स्थित, जिन-क्रोध, वीर्यवान और धृतिमान कौन है? उत्तर में नारद राम-चरित्र का वर्णन करते हैं। इसमें अयोध्याकाण्ड की घटना में लेकर युद्धकाल तक की घटना का समावेश है। न उसमें बालकाण्ड की घटना है और न उत्तरकाण्ड की। ज्ञात होता है कि यही अनुक्रमणिका मूल रामायण के आरंभ में थी, किन्तु बालकाण्ड की रचना हो जाने पर यह अनुक्रमणिका अयोध्याकाण्ड के आरंभ से हटाकर नवलिखित बालकाण्ड के आरंभ में जोड़ दी गई। सर्वेपरि महाभारत में वर्णित रामोपाख्यान में भी

बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड का विषय नहीं मिलता । इसलिए उत्तरकाण्ड में मूर्ति-पूजा सम्बन्धी निम्नांकित श्लोक स्पष्टतया बहुत बाद का ज्ञात होता है । यदि यह श्लोक मूल रामायण में हो भी तो भी यह एक अनार्थ से सम्बन्ध रखता है, जो स्पष्टतया मूर्ति-पूजक था ।

यत्र यत्र प्रयाति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।

जाम्बूनवमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म गोचरे ॥

अर्थात्—रावण जहाँ जहाँ जाता है, अपने साथ सुवर्णमय लिंग ले जाता है ।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि—

बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावण ॥

अर्थात्—बालू की वेदी पर रावण ने लिंग को स्थापना की ।

प्रथम तो ये श्लोक उत्तरकाण्ड के हैं, जो विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त भाग सिद्ध हो चुका है, किन्तु यदि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त न भी माना जाए तब भी वह अनार्थ-कृत है और यह निर्विवाद है कि अमायों में लिंग-पूजा अनादिकाल से प्रचलित थी । किन्तु एक बात इन प्रक्षिप्त अशो में ज्ञात होती है कि प्रक्षिप्त काण्ड लिखने के समय तक भी आर्यों ने लिंग-पूजा को अपनाया नहीं था अन्धथा कही भी किसी मूर्ति और उसकी पूजा का वर्णन प्रसंगवश आ ही जाता । जान पड़ता है कि इसी वर्णन के आधार पर मूर्ति-पूजा और अवतारवाद की मर्यादा कायम हो जाने पर अनेक ग्रन्थों में भगवान राम द्वारा रामेश्वर-स्थापना का वर्णन मिलता है । सर्वोपरि एक लोककथा प्रचलित है कि रामेश्वर की स्थापना के समय वैर-भाव को भूलकर राम के निमंत्रण पर शिव भक्त और वेदज्ञ ब्राह्मण होने के कारण रावण ने ही पुरोहित का कार्य-सम्पादन किया ।

वाल्मीकि-रामायण से ज्ञात होता है कि प्रातः एव साथ सध्यापासना तथा अग्निहोत्र किया जाता था । अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख आया है । किन्तु मूर्ति या मूर्ति-पूजा की कही झलक भी नहीं मिलती । उदाहरणार्थ (बाल० १।० १८।२३) विश्वामित्र ने राम तथा लक्ष्मण से कहा 'स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम । अर्थात् हमलोग स्नान करेंगे और जप-हवन करेंगे । उसी प्रकार अयोध्या-काण्ड (२०।४८) में आया है—

ततश्चोरोत्तरास्तङ्गः सध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।

जलमेवावहे शोभ्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ५०।४८

तदनन्तर रामचन्द्र ने नीर ओढ़कर सायंकालीन स्नाना की और ब्रह्मण का लाया हुआ जल भी ग्रहण किया ।

सीता महारानी भी स्नाना करती थी । हनुमान सीता की खोज करते हुए अशोक-वाटिका के सरोवर को देखकर कहते हैं

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।

नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यायै वरवर्णिनी ॥

(सुन्दरकाण्ड १४२।५०)

अर्थात् सन्ध्याकाल में मनवाली देवी सीता स्नाना करने के लिए इस शुभ जलवाली नदी पर जाएगी ।

रामायण-काल में भी मूर्ति-पूजा प्रचलित थी । इसके समर्थन में दो-एक श्लोक बालकाण्ड से उद्धृत किए जाते हैं । यथा—

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।

अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥

(बालकाण्ड ७७।१३)

अर्थ—उन सब (वाहुओं) ने शीघ्र ही देवताओं की पूजा की । तत्पश्चात् सब राजपुत्रियों ने अभिवादन-योग्य व्यक्तियों का अभिवादन किया ।

यह श्लोक आगे और पीछे के श्लोकों से मेल नहीं खाता, क्योंकि १२वें श्लोक में आया है कि कुशध्वज की दोनों पुत्रियों को राजा की पत्नियों ने ग्रहण किया । मार्गलिक वस्तुओं के आलेपन से सुशोभित रेशमी वस्त्र धारण किया, और के १४वें श्लोक में है कि सब प्रसन्न हुई (राजपुत्रियों) ने एकान्त में (अपने) पतियों के साथ रमण किया । (इसी प्रकार) ससार के वराक्रम-अप्रतिम (अतुलनीय) महात्मा राजकुमारों ने भी रमण किया । सारा बालकाण्ड ही वात्मीकि-कृत नहीं है और यह श्लोक स्पष्टतया प्रक्षिप्त है; क्योंकि यहाँ अप्रासंगिक वर्णन है और इसका समर्थन वात्मीकि रामायण में अन्यत्र कही नहीं मिलता ।

वात्मीकि-रामायण में इतना वर्णन है कि लका में विमान द्वारा लौटते समय राम ने एक स्थान दिखलाते हुए सीता से कहा कि वहाँ उन्होंने महादेव की कृपा से समुद्र में उल बाँधा था ।

एतत् बुध्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।

सेतुबन्ध इति क्वातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥

एतत्प्रवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादनं करोद्विभुः ॥

(युद्धकाण्ड, सर्ग १२३।२०-२१)

अर्थ—इसी स्थान पर प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे । तीनों लोको में पूरित मेतुबन्ध-तीर्थ इसीका नाम है । यह स्थान महाप्रवित्र तथा महापातको का नाश करनेवाला है ।

दुष्क-विमान ने सीता को मेतुबन्ध का पुल दिखाते हुए राम ने कहा कि इस पुल के बाँधने में नल ने बड़ा परिश्रम किया । यह हिरण्यनाभ मैनक पहाड़ है, जो हनुमान के ठहरने के लिए स्वयं सागर से प्रकट हुआ था । यह सेना के ठहरने का प्रथम तट है । इसी प्रसंग में राम ने महादेव (भगवान) की कृपा का उल्लेख किया, क्योंकि बिना महादेव की कृपा से वह दुष्कर कार्य संभव नहीं था । अगर राम ने शिवलिंग की वहाँ स्थापना की होती तो वे प्रथमतः विमान से उतरकर सीता के साथ दर्शन और पूजन करते; अथवा कम-से-कम शिवलिंग की ओर सीता का ध्यान आकर्षित कर बता देते कि इसकी स्थापना उन्होंने की थी । इस बात से भी यह अंश प्रक्षिप्त ज्ञात होता है, क्योंकि १९वें श्लोक में वनत समुद्र से हनुमान के ठहरने के लिए मैनक पहाड़ का सहसा निकल आना अनहोनी-सी घटना है ।

मूर्ति पूजा के समर्थन में प्रकाण्ड विद्वान श्री माधवाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ “कथो ?” के दूसरे अध्याय के पृष्ठ ४७ पर शास्त्रीय विवेचन करते हुए लिखा है कि “रामचन्द्र जी का स्थापित किया हुआ रामेश्वर नामक शिवलिंग सतुबन्ध में अभी तक विद्यमान है । वाल्मीकि-रामायण के युद्ध-काण्ड (युद्ध-सर्ग १२५) में इसका उल्लेख मिलता है । किन्तु सर्ग १२५ में संकेत-मात्र में भी उसका उल्लेख नहीं है । इस सर्ग में भरद्वाज-आश्रम से विदा होने पर अयोध्या के सन्निकट आने का वर्णन है । शिवलिंग-स्थापना का उल्लेख तो रामायण में नहीं मिलता । सिर्फ १२३वें सर्ग के २०वें श्लोक में भगवान राम ने मेतुबन्ध की ओर सीता का ध्यान आकर्षित करते हुए सिर्फ इतना ही कहा है कि इसी स्थान पर प्रथम प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे । इससे संकेत-रूप में भी मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं होता ।

वाल्मीकि-रामायण में उपासना तथा पूजादि का विशद वर्णन है, किन्तु कहीं भी मन्दिर या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है, यद्यपि स्थान-स्थान पर संख्या-

बन्दना, होम, यज्ञ आदि का वर्णन आया है। इन्हीं सब बातों को देखकर निष्पक्ष विद्वानों की राय है कि रामायण-काल में प्रतीक-पूजा का प्रचलन आर्यों में नहीं था।

सुतरा, रामायण में जीवन का जीता-जागता सत्य है, व्यवहारों में जाने-वाला धर्म है, परिवार को सुखी और सम्पन्न बनानेवाले आदर्श हैं, कठोरता से पालन किए जानेवाले युद्ध-नियम है, बन्धु, स्त्री, मित्र, शत्रु, सेवक, देवता और दानव के चरित्र हैं। प्रजा के प्राणप्रिय राजा का देवता-रूप में दर्शन है। किन्तु मन्दिर और उसमें स्थापित मूर्ति की कही भलक भी नहीं है।

महाभारत-काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्षों से कुछ ऊपर माना जाता है। यह काल रामायण-काल से बहुत बाद का है। ज्ञात होता है कि रामायण-काल में वैदिक मर्यादा का पालन होता था। राम-रावण-युद्ध में भी युद्ध-सम्बन्धी नियमों का पालन उभय पक्ष ने किया था, किन्तु महाभारत-काल में वैदिक मर्यादा की खुले रूप में अवहेलना हुई थी। तप और त्याग का स्थान भोग-विलास लेते जा रहे थे। जुआ खेलना पाप नहीं समझा जाता था। जुए में भाइयों को नहीं, बल्कि विवाहित भार्या को भी दाव पर लगाना असोमनीय नहीं समझा जाता था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं था, मनुष्य का स्थान नीचों गुलामों की कोटि का था, जहाँ बड़ा भाई जुग के दाव पर बिना किसी सकोच के भाइयों तथा स्त्री को रखकर गेबा सकता था। और, इस प्रकार का दुष्कर्म करनेवाले को 'धर्मगज' कहा जाता था। कौगवों की सभा को छोड़कर संसार के इतिहास में कही भी राजसभा में मद्र महिला को निर्वस्त्र करने की बात नहीं मिलती है। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में दोनों पक्षों की सम्मति में युद्ध-नियम बनाए गए थे, किन्तु दोनों पक्षों ने खुलेआम उनकी अवहेलना की, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अभिमन्यु, भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन का वध है। यही नहीं, मुप्तात्त्वस्था में अश्वथामा द्वारा घृष्टबुध्न, पाण्डव-पुत्रों आदि को नृशस हत्या तक की गई थी।

महाभारत में अनेक ऐतिहासिक कथाएँ एक साथ ग्रथित हैं। इसके रचयिता व्यास मुनि माने जाते हैं। किन्तु, महाभारत के वर्णनानुसार इसके तीन

संस्करण हुए हैं, जिनके तीन रचयिता—(१) व्यास, (२) वैशम्पायन और (३) सीता थे। ज्ञात होता है कि युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की, जिसमें कौरव-पाण्डव-युद्ध का विस्तृत वर्णन है। उसको व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने पाण्डवों के प्रपौत्र जनमेजय को सर्प-यज्ञ के अवसर पर सुनाया। वहाँ उस कथा को सुनकर सूत लोमहर्षण के पुत्र सीता उग्रश्रवा ने उन ऋषियों को सुनाया, जो नैमिषारण्य में सत्र कर रहे थे। आदिपर्व और स्वर्गरोहण-पर्व में कहा है—जयो नामेतिहासोऽयम्, अर्थात् 'जय' नाम का यह इतिहास है। आगे चलकर वैशम्पायन द्वारा दूसरे संस्करण के बाद 'भारत' नाम पड़ा और अन्त में गौतम बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद 'सीता' के तृतीय संस्करण के कलेवर में अपार वृद्धि हो जाने के कारण इसका 'महाभारत' नाम पड़ा। अतः महाभारत के आरम्भिक श्लोक में ही 'जय' ग्रन्थ का उल्लेख है। यथा—

नारायणं नमस्कृत्य नरं जैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं जैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

महाभारत के तीन रचयिता होने का दूसरा प्रमाण यह है कि इसका आरम्भ तीन स्थानों में होता है; यथा—

मन्वादि भारतं केचिदास्तिकादि तथा परे ।

तयोः परिवराहन्ते बिप्राः सभ्यगन्धीयते ॥

अर्थात् कितने विद्वान् महाभारत को 'नारायण नमस्कृत्य' (आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक १) में प्रारम्भ करके पढ़ते हैं। कितने ही इसको आस्तिक चरित्र से प्रारम्भ करते हैं (आदिपर्व, अध्याय १३) और कितने ही उपरिष्कार की कथा (आदिपर्व, अध्याय ६३) से इसका प्रारम्भ मानते हैं।

तीसरा प्रमाण यह है कि व्यास ने अपने 'जय' नामक ग्रन्थ में जो पर्व बनाए थे, वे भिन्न हैं। वे छोटे हैं और उनकी संख्या १०० है। बाद में सीता ने अपने ग्रन्थ को अठारह पर्वों में विभक्त किया। कोई भी ग्रन्थकार अपने एक ही ग्रन्थ में एक ही नाम का छोटा और बड़ा विभाग नहीं करेगा। उदाहरणार्थ सभापर्व में सभापर्व, सौप्तिक पर्व में सौप्तिक पर्व आदि। यह महाभारत (आदिपर्व, २।८३-८४) से स्पष्ट है।

एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।

यथावत्सूतपुत्रेण श्रीमहर्षिना ततः ।

उक्ताणि नैमिषारण्ये पर्वारण्यष्टादशैव तु ॥

अर्थ—इस प्रकार महात्मा श्री व्यास ने १०० पर्वों की रचना की। सूत-मन्दन उग्रश्रवा सीती ने इन्हीं पर्वों को अठारह महापर्वों में क्रमानुसार सुसम्बद्ध कर नैमिषारण्य में उपस्थित ऋषि-वृन्दों को सुनाया था।

विद्वानों की राय है कि व्यास-कृत 'जय' के श्लोकों की संख्या ८८००, वैशम्पायन के 'भारत' के श्लोकों की संख्या २४,००० और वर्तमान महा-भारत की श्लोक-संख्या लगभग एक लाख है। महाभारत-मीमांसा के विद्वान लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य की राय है कि ईसवी सन् से पहले ३०० से २०० वर्ष तक के समय में वर्तमान महाभारत का निर्माण हुआ।

अतः प्रश्न उठता है कि बीबीस हजार श्लोकों के 'भारत' के श्लोकों में वृद्धि कर उनकी संख्या एक लाख क्यों की गई? उस समय भारत में दो नए और प्रबल धर्म—जैन और बौद्ध-उत्पन्न और प्रचलित हो नहीं हो चुके थे, वरन् जनता पर उनका काफी प्रभाव पड़ चुका था और जनता बहुत अधिक संख्या में इन धर्मों की ओर आकृष्ट हो रही थी। इन दोनों धर्मों ने वेदों और तत्कालीन प्रचलित वैदिक हिंसा-यज्ञों का विरोध किया था और अहिंसा का प्रचार किया था। इनके लिए धर्म का आचरण केवल नीति के आचरण के सिवा और कुछ नहीं था। महावीर तीर्थंकर और बुद्ध के निर्वाण हुए कई शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थी और जन तथा बौद्ध मतावलम्बियों में क्रमशः जैन तीर्थंकरों एवं भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा का प्रचलन भी हो चुका था। हिन्दूधर्म के कुछ लोग तो वैदिक देवताओं के स्थान पर विष्णु को प्रधान देवता मानकर 'पाञ्चरात्र मत' का पालन करते थे और कुछ लोग शंकर को प्रधान देवता मानकर पाशुपत मत का आश्रय ले रहे थे। कुछ लोग परमात्मा के रूप में देवी की आराधना करते थे और कुछ सूर्य के उपासक थे। इन विभिन्न मतावलम्बियों में आपस का झगडा भी था। वेदान्त और सांख्य का दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न था। वर्तमान मनुस्मृति का उस समय पता नहीं था। जनता को हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट करने और हिन्दूधर्म की गौरव-गरिमा को स्पष्ट रूप से दिखानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं था ॥ बौद्ध और जैन धर्म के आक्रमण का प्रतिवाद करने का कोई साधन नहीं था।

ऐसी अवस्था में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें आनुवंशिक रीति से तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजनीति, नीति, प्रतिभा-युजन आदि अनेक विषयों का समावेश हो।

वैष्णव और शैव मतों के विरोध को दूर करने के अभिप्राय से सीता ने महाभारत में शिव-स्तुति विषयक अनेक उपाख्यान दिए। महाभारत में स्पष्ट वर्णन आया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओं पर जगत के तीन काम—उत्पत्ति, पालन और नाश—नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है। इसके अतिरिक्त सीता ने वेदान्त, सांख्य योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत मत आदि अनेक मतों के एकीकरण का सफल प्रयत्न किया। यज्ञ-तन्त्र मन्दिर और मूर्ति की मर्यादा का भी प्रतिपादन किया। परिणाम यह हुआ कि महाभारत ग्रन्थ वर्तमान हिन्दूधर्म की सब शाखाओं—शैव, वैष्णव, शाक्त, वेदान्त, योग आदि—के लिए समान रूप से मान्य है।

इस प्रकार महाभारत सच्चे अर्थ में प्राचीन भारतवर्ष का दिग्दर्शक है। भारतीय जन और उसकी कीर्ति, सामाजिक क्रान्ति, राजनीति, अर्थनीति आदि का सुन्दर विवेचन महाभारत में है। जहाँ एक ओर यह प्राचीन धर्म और नीति का अमूल्य भाण्डार है, वहाँ दूसरी ओर, प्राचीन गौरव-गरिमा का गान करनेवाला अपूर्व ग्रन्थ है। इसके महान् चरित्रों की जमर कथाएँ देश-देशान्तर में फैली हुई हैं। इसमें वर्णित अपने पूर्वपुरुषों की चरितावली सुनने अथवा पढ़ने पर हमारे मन में स्वाभाविक उमंग उद्भूत होती है। इसके अनेक पात्रों की वीरता, कर्मपरायणता, न्याय-नीति एवं धर्मनिष्ठा देखकर मन आनन्द से गद्गद हो जाता है।

इसमें स्पष्ट दृष्टि पड़ता है कि सभी आर्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—प्रतिदिन संध्या एवं यज्ञ किया करते थे। भारतीय योद्धाओं के वर्णन में भी इस बात की कहीं कमी नहीं है। जिस तरह रामायण से स्पष्ट मालूम होता है कि राम और लक्ष्मण कभी संध्या करना नहीं भूलते, उसी प्रकार समझीते के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण का जो वर्णन महाभारत में आया है, उसमें उनके प्रातःसायं संध्या करने का वर्णन करने में कवि ने भूल नहीं की है। (उद्योग-पर्व, अध्याय १३) महाभारत-युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातःस्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रणभूमि में जाते थे।

संध्या के साथ-साथ होम करने की परिपाटी भी महाभारत-युद्ध-काल में प्रचलित थी। उदाहरणार्थ उद्योगधर्म के अध्याय ८ में आया है—

कृत्वा पौर्वाहिक कृत्यं स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।

उपतस्थे विदस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने संध्या स्व होम करके ब्राह्मण को दान दिया इत्यादि।

वर्णन आया है कि रात को भी एक दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकों ने युद्ध-भूमि में ही आगम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रातः काल होने से पहले युद्ध छिड़ गया था, तब सूर्य निकलने पर समस्त सैन्य में युद्ध रुक गया, और सभी क्षत्रियों ने रणायन में ही संध्या अर्थात् सूर्योपासना की (दोषपर्व, अध्याय १८६)।

उपयुक्त वर्णन में स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध-काल में सूर्य और अग्नि की उपासना यानी उपस्थान एवं आहुति, दोनों काम प्रत्येक आर्य को करने पड़ते थे। अतः यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कहीं भी मूर्ति या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्विक क्रियाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है, तथापि इसमें किसी देवता की घातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति की पूजा का वर्णन नहीं है। वैद्य महोदय का कथन है कि “निश्चयपूर्वक अनुभव होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महाभारत-काल-पर्यन्त आर्यों के आह्विक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट नहीं हुई थी। किसी घर में देवता की मूर्ति रखकर उसकी पूजा आरम्भ नहीं हुई थी। भिन्न-भिन्न गृह-सूत्रों में भी देवताओं की पूजा का विधान नहीं पाया जाता। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवपूजा की आह्विक विधि महाभारत-काल के सैकड़ों वर्ष बाद प्रचलित हुई। मूर्ति-पूजा का उद् म भारत में कबसे हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का और गूढ़ है। कुछ लोगों की धारणा है कि बौद्धधर्म के प्रचार होने के पश्चात् मूर्ति-पूजा चल पड़ी।”

बौद्धधर्म के प्रचार के फलस्वरूप वैदिक देवताओं का लोप हो चला था। बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद अनेक वीढ़ों ने बुद्ध को ही भगवान् मानकर उनकी छोटी-बड़ी प्रतिमाएँ गढ़ना आरम्भ कर दिया। इस कारण

एक समय ऐसा आया जब हिन्दुस्तान में बुद्ध की इतनी अधिक मूर्तियाँ प्रचलित हुई कि जहाँ देखो, वही बुद्ध की मूर्तियाँ और मन्दिर देख पड़ते थे। बौद्धधर्म बाहर के देशों में भी फैला जा। इस कारण विभिन्न देशों में बौद्धों के अनेक मन्दिर और हज़ारों प्रतिमाएँ हो गई थीं। जिस समय इस्लाम फैला, मुसलमानों ने मूर्तियों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप पहले हिन्दुस्तान के बाहरी देशों में बने हुए हज़ारों बौद्ध-मन्दिरों की मूर्तियाँ तहस-नहस हो गईं। मुसलमानों की भाषा—अरबी-फारसी—में 'बुद्ध' शब्द मूर्ति के अर्थ में प्रचलित हो गया, जो कालान्तर में 'बुत' हो गया। मुसलमानों ने बुत (बुद्ध)-शिकन और बुत-परस्त—ये दो भेद कर दिए, अर्थात् मूर्ति तोड़नेवाला और मूर्ति पूजने वाला।

आरम्भ में तो बुद्ध की देह के अवशिष्ट केश, मल, हड्डियों आदि पर पत्थरों का ढेर बनाकर पूजा आरम्भ हुई थी और कालान्तर में वह बुद्ध की मूर्ति में परिणत हो गया। देखा-देखी अज्ञ जनता को आकृष्ट करने के लिए हिन्दुओं ने विष्णु, शिव, स्कन्द (स्वामी कार्तिक) आदि देवताओं की मूर्तियों की स्थापना मन्दिरों में करना आरम्भ किया। परिणाम-स्वरूप तंजौर के मन्दिर में आज लाखों शिवलिंग पाए जाते हैं, जिनमें अनेक काल के प्रवाह में नष्ट-भ्रष्ट होते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में सीती ने जो तीन अध्यायों को 'भारत' में जोड़कर उसका कलेवर बढ़ाया, उसमें मन्दिरों और मूर्तियों का वर्णन किया, क्योंकि उस समय तक मूर्तिपूजा चल पड़ी थी। किसान-न-किसी समय शिव, विष्णु, दुर्गा, दत्तात्रेय और स्कन्द आदि देवताओं की उपासना प्रचलित हो गई थी। दत्तात्रेय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को त्रिमूर्तियों के अवतार माने जाने लगे थे। गणेश और स्कन्द मानव-शक्तियों के अधिपति माने जाते थे। उदाहरण स्वरूप भ्रंशमूर्तियों के आरम्भ में मन्दिरों और देव-प्रतिमाओं का वर्णन है। वर्णन पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया है; क्योंकि वहाँ आया है कि देवताओं की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुख से रुधिर बमन करती हैं, देह से पसीना निकाल रही हैं।¹

1. देवताः प्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च ।

बमन्ति रुधिर आसृयात् सीदन्ति प्रपतन्ति च ॥ (भीष्मपर्व, २२।२६)

प्रतीक के रूप में पूजा के अतिरिक्त महाभारत (वनपर्व ३९-४०) में अर्जुन का शिव के साथ साक्षात् दर्शन, युद्ध तथा स्तुति का वर्णन आया है। लिखा है कि शिव किरात-वेष धारण करके घनष-बाण लिए नाना वेषधारी भूतों, सहस्रो स्त्रियों और भगवती उमा के साथ वन में अर्जुन के समीप गए और उन्हें मारने की बात में लगे हुए 'यूक' नामक बराह-रूपधारी दानव को अर्जुन और शंकर ने एक साथ ही बाण मारा। बाद में अर्जुन के साथ शिव के विवाद और युद्ध का वर्णन है। किरात वेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराजित होने पर अर्जुन ने शिव की पार्थिव मूर्ति की पूजा की और उसे माला पहनाई। किरात के गले में अपनी चढ़ाई हुई माला देखकर अर्जुन पहचान गया कि वह शिव है और उनके चरणों पर पड़ गया तथा स्तुति की। अर्जुन को शंकर ने पाशुपत अस्त्र दिया। उसी प्रकार शान्तिपर्व में भी हम पाते हैं कि दक्ष के शरणागत होने पर हवनकुण्ड से साक्षात् प्रकट होकर उनपर कृपा की (शान्ति० २८४।१५-६०) इसपर दक्ष ने सहस्रनाम द्वारा स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर वरदान देने के बाद शिव अन्वर्धन हो गए (शान्ति० २८४।१८२-९१)। सौप्तिक पर्व के १७वें अध्याय में कुपित होकर शिव द्वारा अपने लिंग को काटने की कथा आई है। कहा गया है कि इस प्रकार भूमि पर डाला गया वह लिंग अग्नि-रूप में प्रतिष्ठित हो गया। (अनुशासन-पर्व, अध्याय १४)

उपमन्यु ने अपनी माता से शिव की महिमा सुनकर उनकी आराधना की। तपस्या, भक्ति, स्तुति, प्रार्थना आदि पर शिव प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हुए और उपमन्यु को वरदान दिया।

इस प्रकार विष्णु की पूजा से सम्बद्ध वर्णन भी (अनु० पर्व १०९) में आया है। शिव-पत्नी उमा का पूजन और कीर्तन का वर्णन (वनपर्व ३७।३३) में आया है। युधिष्ठिर ने इनके दुर्गा-रूप के स्तवन पर दर्शन और वर प्राप्त किया (विवाह पर्व, ६)। उमा ने दुर्गा रूप में अर्जुन को प्रत्यक्ष दर्शन देकर वर दिया (भोष्पपर्व, २३।४-१६)। इस प्रकार अनेक स्थानों पर विभिन्न देवताओं के प्रत्यक्ष उपस्थित होने और वरदान देने की कथा स्थान स्थान पर आई है। इन कथाओं का प्रभाव स्वभावतः अज्ञ जनता पर पड़ा और मूर्ति-पूजा की ओर

अर्थ—देवताओं की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुँह से छधिर वमन करती हैं, बेह से पसीना डाल रही हैं।

उसकी अभिरुचि बढ़ी। अतः सोता-कृत महाभारत में सिर्फ मूर्ति-पूजा का ही उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि विभिन्न देवताओं के साक्षात् दर्शन का प्रसंग भी मिलता है। लिंग-पूजा का भी उल्लेख आया है। यथा—

विग्रहं पूजयेद्यो वै लिङ्गं चापि महात्मनः ।

पूज्यमाने सदा तस्मिन् जोदते स महेश्वरः ॥

यह निश्चित है कि सोती-कृत महाभारत के रचना-काल में मूर्ति-पूजा बल निकली थी, क्योंकि इसीके समकालीन ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में मन्दिरों और मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु इस विद्यास ग्रन्थ में यत्र तत्र मूर्ति-पूजा के विरोध के भी श्लोक मिलते हैं। यथा—

मृच्छलाभातुदाब्धिं मूर्तावीश्वरबुद्धयः ।

विलयन्ति तपसा भूताः परां शान्तिं न यान्ति ते ॥

अर्थ—मूर्ख लोग मिट्टी, पाषाण, चातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः इस सम्बन्ध में वैद्य महोदय का विचार है कि "महाभारत-काल में यद्यपि मन्दिर और मूर्तियाँ भी रही हो तथापि आर्यों के आह्विक धर्म कृत्य में अबतक देवताओं की पूजा न थी। यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रों से भी निश्चित दोख पड़ती है। बरिदक देवता कुल ३३ माने गए थे। परन्तु तैत्तिरीय देवताओं में से बहुत थोड़े की प्रतिमाएँ बनीं अथवा मन्दिर तैयार हुए।"



पाँचवीं परिच्छेद

सूत्रकाल

“श्रौतसूत्र ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड का साराश-मात्र है और कर्मकाण्ड के मुख्य यज्ञों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचारों में जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रों में दिखाई देती है। वह प्रायः वंसा ही है जैसा ब्राह्मण-ग्रन्थों में। रुद्र अनेक देवताओं में से केवल एक देवता है। और पहले की तरह उनके अनेक नाम— रुद्र, भव, शर्व आदि का उल्लेख हुआ है और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि अनेक नामों का उल्लेख है। मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए रुद्र की प्रार्थना की जाती है। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है; और साथ साथ रोग नाशक औषधियाँ देनेवाला। रुद्र और अग्नि के तादात्म्य की स्मृति भी अबतक शेष है और रुद्र को एक बार (लाट्ट्यायन सूत्र ५।३।२ में) अग्निस्विष्टिकृत कहा गया है।”

इस समय ध्यान देने योग्य बात यह है कि शाखायन श्रौतसूत्र में रुद्र का जो एक स्वरूप दीख पड़ता है, उसका ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। इसमें हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के स्वरूप का विकास किस प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचरी देवता का उल्लेख। इसको भवानी, शिवानी, ईशानी, रुद्राणी और आगे की कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र है। यज्ञ के इस स्त्री-देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिसमें सिद्ध होता है कि इस समय तक स्त्री-देवता की, आर्यों के देवगण में विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही उसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रन्थों में रुद्र-पत्नी का यह प्रथम उल्लेख है। अतः हम कह सकते हैं कि शाखायन श्रौतसूत्र के समय तक सिन्धु-घाटी की देवी की उपासना का, रुद्र की उपासना में समावेश हो गया था।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप श्रौतसूत्रों में मिलता है, लगभग वही स्वरूप धर्म-सूत्रों में भी है, जो समकालीन हैं। बोधायन धर्म-सूत्रों में भी, जो समकालीन हैं, रुद्र की सहचरी स्त्री-देवता के अतिरिक्त दो

नये देवताओं—विनायक और स्कन्द—का उल्लेख मिलता है। पौराणिक काल में ये दोनों देवगण शिव के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हुए। विनायक आगे चलकर गणेश नाम से विख्यात हुए। इस धर्म-सूत्र में इन देवताओं को विधिबद्ध मान्यता प्रदान की गई है और इनके लिए तर्पण का विधान भी किया गया है। बाद में विनायक वक्रतुण्ड, एकदन्त, लम्बोदर और विघ्न-विनायक आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। आज गणेश का देवगणों में अग्रगण्य स्थान है। सिर्फ पंचदेवों—(१) विष्णु, (२) शिव, (३) दुर्गा, (४) सूर्य और (५) गणेश—में इनकी गणना ही नहीं है, बल्कि ये आदिपूज्य हो गए हैं।

न बोधायन धर्मसूत्र में और न आरण्यक में ही इस देवता का उल्लेख मिलता है। हाँ, तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१) के एक श्लोक में, जो प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र के ढग पर बना है, किसी देवता का वक्रतुण्ड और दन्ति कहकर वर्णन आया है। गृह्यसूत्रों से ज्ञात होता है कि आरम्भ में इस देवता को विघ्नो और बाधाओं का देवता माना गया है। विनायक विघ्नकर्त्ता थे, अच्छे कामों में भी बाधा डालते थे, अतएव प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में उनको मनाया जाता था। कुछ भेंट करके उनका विसर्जन कर दिया जाता था और नव मूल कृत्यों का आरम्भ किया जाता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कालान्तर में विनायक का कार्याकल्प हो गया। वह जहाँ विघ्नराज थे, वहाँ धीरे-धीरे मंगलकर्त्ता बने। जहाँ पहले भावी विपत्ति टालने के लिए उन्हें प्रसन्न किया जाता था, वहाँ आज उससे सिद्धि मांगी जाती है। समय की प्रगति से विनायक-पूजा मंगल-कार्य का अनिवार्य अंग हो गई। लिखने-पढ़ने का कार्य भी आज अनेक हिन्दू श्री 'गणेशाय नमः' से आरम्भ करते हैं। स्वभावतः इस परिवर्तन में सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। अतः विनायक के विकास का इतिहास रोचक और ज्ञानवर्धक है; क्योंकि कालान्तर में गणेश बौद्धधर्म के भी अंग हो गए और सुदूर बाली, तिब्बत, चीन, जापान, तुर्किस्तान आदि देशों में भी आराध्य हुए। श्री सम्पूर्णनिन्द के शब्दों में—'पृथ्वी-भर में किसी दूसरे उपास्य के जीवन की गणेश-चरित्र के साथ तुलना नहीं हो सकती। आज बुद्ध, ईसा और मुहम्मद के अनुयायी देश-विदेश में करोड़ों की संख्या में हैं, किन्तु उनके पद एवं स्वरूप में कोई परिवर्तन या वृद्धि नहीं हुई है। विघ्नकर्त्ता ग्रामदेव का अपदेव से उठकर सर्वदेवाग्रगण्य बनना, फिर परमात्मा और ब्रह्म-दृष्टि से मान्यता-लाभ करना, विदेशों में पहुँचकर वैरोचन और अबसोकितेस्वर बोधिसत्त्वों में तादात्म्य प्राप्त

करके योग के अनिवार्यनीय रहस्यों का प्रतीक हो जाना गणेशजी का ही काम है। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है।^{११}

आज गणेश के उपासकों का एक पृथक् गणपत सम्प्रदाय हो गया है, और उनको परमात्मा से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। पुराणों और तन्त्रों में गणेश के सम्बन्ध में विशाल बाड़ मय भरा-पड़ा है। भारत में और भारत के बाहर इनकी सैकड़ों विलक्षण मूर्तियाँ मिलती हैं। यहाँ तक कि सुदूर अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति खुदाई के बाद पाई गई है।

वेदों में जगह-जगह ३३ देवताओं का उल्लेख है, परन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेश का किसी भी नाम का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, द्वितीय मण्डल के तेईसवें सूत्र के पहले मन्त्र तथा तैत्तिरीय संहिता (२।३।१४।३) के आधार पर अनेक विद्वान गणेश का उल्लेख वैदिक देवता के रूप में पाते हैं। यथा—

गणाना त्वा गणपतिं हवामहे कवि कवीनामुपधवस्तमम्।

ज्येष्ठराजं ब्रह्मणं ब्रह्मणस्पत अग्नेः शृण्वन्मूर्तिभिः सोद साधनम्॥

(ऋग्वेद २।२३।१)

अर्थ—हे ब्रह्मणस्पते ! तुम देवताओं में दिव्य और कवियों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारा अन्न सबसे उत्तम है। तुम प्रशंसा किए हुए में सर्वश्रेष्ठ एवं स्तोत्रों के स्वामी हो। तुम हमारी स्तुति से आश्रय देने के लिए यज्ञ-स्थान में बिराजो। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

“इस मन्त्र की द्वितीय पंक्ति में स्पष्ट ही ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित किया गया है। अतः प्रथम पंक्ति का ‘गणपति’ शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मणस्पति का अर्थ है, ब्रह्मों का पति। सायन के अनुसार ‘ब्रह्म’ का अर्थ मन्त्र है, अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ मन्त्रों का स्वामी हुआ। यह उपाधि बृहस्पति को ही दी जाती है, ब्रह्मणस्पति को गणों का गणपति कहा गया है। सायन ने भाष्य में इसका अर्थ किया है—

देवादिगणानां सम्बन्धि गणपतिः—अर्थात् देवादि गणों से सम्बन्ध रखने-वाला गणपति; देवों के गणों के स्वामी। थोड़े म मन्त्र बृहस्पति, ब्रह्मों (अर्थात् मन्त्रों) के ज्येष्ठराज से जो देवगणों के गणपति और कवियों (ऋषियों, ब्रह्म-

ज्ञानियो) में कवि (शतृत्तम) हैं, यह प्रार्थना करता है कि हमारी स्तुतियों को सुनकर इस यज्ञ-स्थल में बिराजिए ।”

शुक्ल यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में भी ‘गणपति’ शब्द आया है ।—नमो गणेश्यो गणपतिभ्यश्च नमो नमो घातपतिभ्यश्च नमो नमो गृत्स्यो गृत्सविभ्यश्च नमो नमो विरूपेभ्यो विरूपेभ्यश्च नमः । अर्थात् देवताओं के अनुचर गणों को नमस्कार, गणों के अधिपति को नमस्कार, विशिष्ट जाति-समूहों को नमस्कार, समूहों के अधिपति को नमस्कार, बुद्धिमानों और विषयियों को नमस्कार, बुद्धिमानों के पालक को नमस्कार, विविध रूपवालों को नमस्कार और विश्व-प रुद्र को नमस्कार ।

महोदर अपने भाष्य में लिखते हैं—वेदानुचरा भूतविशेषगणाः गणानां पालकाः गणपतयः—कि देवों के अनुचर भूत-विशेष गण होते हैं, उनके पालक गणपति कहलाते हैं । यहाँ रुद्र के गणों की ओर सकेत तो हो सकता है, पर ध्यान देने की बात है कि ‘गणपति’ शब्द बहुवचन में आया है । मन्त्रद्रष्टा ऋषि की दृष्टि में कोई एक गणपति नामधारी देव नहीं है, वरन् देवों के अनुचरों के कई नायक हैं । वह उन सबको प्रणाम कर रहा है । प्रणाम इसलिए किया जा रहा है कि यह सब रुद्र-रूप है । परन्तु, इतने से ही इन गणों या गणपतियों की महत्ता प्रदर्शित नहीं होती, क्योंकि इस अध्याय में कुम्भकारों, शस्त्रधारियों, चांगों, कुत्तों, घोड़ों यानी थोड़े में समस्त जगत् को रुद्र-रूप मानकर प्रणाम किया गया है ।

गणपति का तीसरा उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के उन्नीसवें मंत्र में इस प्रकार है :

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे
निधीना त्वा निधिपतिं हवामहे असो मम । आहमजानि गर्भधमा-
त्वमजासि गर्भधम् ॥ २३।१६

अर्थात् हे गणपते ! तुम सब गणों के स्वामी हो । हम तुम्हें आहूत करते हैं । हे प्रियो के मध्य में निवास करनेवाले प्रियो के स्वामी, हम तुम्हें आहूत करते हैं । हे निधियों के मध्य निवास करनेवाले निधिपते ! हम तुम्हें आहूत करते हैं, तुम हमें श्रेष्ठ निवास देनेवाले और रक्षक हो । तुम गर्भधारक जल

को सब प्रकार आर्पित करते हो। तुम गर्भ धारण करनेवाले को अभिमुख करते हो। तुम समस्त पदार्थों के रचयिता होते हुए सब प्रकार से अभिभुक्त होते हो ॥ (आचार्य श्रीराम शर्मा)

“यह मंत्र अश्वमेध के प्रसंग में आया है। यजमान की पत्नी, राजमहिषी भरे हुए घोड़े की परिक्रमा करके समीप लट जाती है। इसी अवसर पर वह इस मंत्र को पढ़ती है। इसमें अश्व को सम्बोधित किया गया है, इसलिए महोघर के शब्दों में “अश्वदेवत्यम्” है—इसका देवता अश्व है। उबट और महोघर दोनों भाष्यकारों ने इसका यह अर्थ किया है “हे गणों के गणपति अर्थात् स्त्रीगण के मध्य में पालक, गण के स्वामी, प्रियों के प्रियपति अर्थात् बल्लभों के बीच में प्रिय के पालक, निधियों के निधिपति अर्थात् सुख निधियों के पालक, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं, हे वसुरूप अश्व, तुम हमारे पति हो; गर्भ धारण करनेवाले रेत को मैं खींचकर छाड़ती हूँ। तुम भी गर्भ धारण करनेवाले रेत (वीर्य) को खींचकर छोड़ो।”

वेदों के अर्वाचीन सनातन धर्मावलम्बी अनुवादक प० रामस्वरूप शर्मा तथा आचार्य श्रीराम शर्मा अथवा आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुवाद में भी इस मंत्र में गणेश की झलक भी नहीं मिलती। यद्यपि वैदिक देवताओं में स्पष्टतः गणेश की कही गणना नहीं है, तथापि इस मंत्र का गणेश-पूजा में पाठ होता है, परन्तु बहुत कम लोगों का ध्यान वास्तविकता की ओर जाता है।

प्राचीन दस उपनिषदों में और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर-उपनिषद् में, जहाँ छद्म-सम्बन्धी शक्तियों में रूपरूप है, गणेश का कही उल्लेख नहीं है। किन्तु बहुत बाद की साम्प्रदायिक गणपत्युपनिषद् में, जिसकी भाषा और शैली स्पष्टतया अर्वाचीन है, पन्द्रहवें श्लोक में गणपति, गणेश, एकदन्त, वक्रतुण्ड, दन्ति, लम्बोदर और शिवशुभ्र के नाम से स्तुति है। इस उपनिषद् में (१।६) गणेश को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यथा—

नमो ब्राह्मणाय नमो गणपतये नमः प्रथमपतये नमस्तेऽस्तु लम्बी-
वरायैकवन्ताय विघ्नविनाशिने शिवपुत्राय वरदभूतये नमो नमः ॥

शिवशुभ्र नाम से स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल में शिव के पुत्र होने की कथा की पृष्ठ के बाद इस उपनिषद् की रचना हुई।

१. सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० २

संहिताओं में दिए हुए मंत्रों का विनियोग ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों के मुख्य विषय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। यह ब्राह्मण (१।२१), गणपति की ब्रह्मसृष्टि या बृहस्पतिवाचक मानता है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह मंत्र आया है

तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ।

इस उपनिषद् में इस मंत्र के पाठ करने का माहात्म्य बताया गया है। कहा है कि इसका पाठ करनेवाला पुरुष ब्रह्मत्व-प्राप्ति का अधिकारी होता है। उसके लिए किसी प्रकार का विघ्न बाधा नहीं उत्पन्न करता। वह सभी स्थानों पर सुखी रहता है। पाँचों प्रकार के पापों में वह मुक्त होता है और प्रातःकाल पाठ करनेवाले के रात्रि में किए हुए पाप कट जाते हैं। प्रातः-साय दोनों काल में पाठ करने से पाप-रहित हो नहीं होता, बल्कि इसका पाठक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पाता है।

इस मंत्र में वक्रतुण्ड की जगह महादेव और दन्ति की जगह रुद्र कर देने में प्रसिद्ध रुद्रगायत्री-मंत्र बन जाता है। यथा —

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

“इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि दन्ति (या दन्ती) हमको प्रेरित करे। दन्ति का अर्थ हुआ दाँतवाला। उनका विशेषण है वक्रतुण्ड, टेढ़ी सूँड-वाला। दन्ति में दाँतों की संख्या का निर्देश नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा नाम उसी को दिया जा सकता है, जिसके दाँतों में कोई विशेषता हो। ऐसे दशा में स्वभावतः गणेशजी के एकदन्त, एकरदन जैसे नामों की ओर ध्यान जाता है और यह अनुभव होता है कि ये गणेशजी के ही नाम हैं। वक्रतुण्ड इसी अनुमान को पुष्ट करता है।”

श्री सम्पूर्णानन्द का बिचार है कि जिस समय इस आरण्यक का प्रचार हुआ, उस समय वक्रतुण्ड दन्ति उन महादेव रुद्र से अभिन्न माने जाते थे, जो तत्पुरुष नाम से भी पुकारे जाते हैं। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि सहिस्रियों में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। श्रुति में ३३ देवों की बराबर चर्चा हुई है। इन ३३ देवों में इन्द्र और बृहस्पति के सिवा ८ वसु, १२ आदित्य और ११

रुद्र हैं। किन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेश का किसी भी नाम से अत-
र्भाव नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि आरण्यकों की रचना के समय तक
रुद्र का आत्मसात् अनार्य-देवता में हो जाने के फलस्वरूप उनके पुत्र के रूप में
गणेश की मान्यता हो चली हो। जो भी हो, इन आरण्यकों के मन्त्रों से मूर्तिपूजा
का कही सकेत नहीं मिलता।

बोधायन धर्मसूत्र (२।५।६-७) में एक दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है।
वह है स्कन्द। विनायक की तरह इस देवता के लिए तर्पण का विधान किया
गया है, और इसी में पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही
विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में ही इनके अन्य नामों
का भी उल्लेख किया गया है; जैसे— षण्मुख, जयन्त, विशाख, सुब्रह्मण्य महामेन
आदि। इन नामों से निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है, जो आगे चलकर
कार्तिकेय तथा सुब्रह्मण्यम् नाम से क्रमशः उत्तर और दक्षिण भारत में प्रसिद्ध
हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नहीं कहा गया है और इस एक
संदर्भ में उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता।
यह देवता आज दक्षिण भारत में तीन मुख्य देवताओं—(१) विष्णु, (२) शिव
और (३) सुब्रह्मण्यम्—में एक है।

गृह्यसूत्रों में भी रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्रों का उल्लेख स्पष्टतया धर्म-
सूत्रों की तरह आया है, परन्तु गृह्यसूत्रों से जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसमें
सबसे महत्वपूर्ण वह है, जो रुद्र की उपासना में एक बिल्कुल नई प्रवृत्ति पर
प्रकाश डालता है—मूर्तिपूजा। गृह्यसूत्रों में ही पहले-पहल रुद्रादि देवताओं
की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बोधायन
गृह्यसूत्र में रुद्र की मूर्ति की स्थापना (३।२।१६।१-४३) का विस्तृत वर्णन आया
है। रुद्र की प्रतिमा को स्नान कराते हुए (२।२।१८) कहा गया है—

आराधितो अनुष्यंस्त्वं सिद्धिं देवासुरादिभिः ।

आराधयामि शक्त्या त्वाऽनुग्रहाण महेश्वर ॥

यहीं पर पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख आया है। मानवाकार
मूर्तियों के साथ लिंग-मूर्ति का भी वर्णन किया गया है (३।२।१६।१-४३)।
यथा—

पुष्पफलाक्षतमिश्रयधुर्वाङ्कद पावपीठे निक्षि-
पति नमस्ते रुद्रमन्त्रव इति तेन . . .

नमस्ते अस्तु धन्वने इत्यष्टाभिः स्नापयति.....

हिरण्येन तेजसा चक्षुर्विमोचयेत् तेजःसीति

लिङ्गो बोलिचक्षते चक्षुषोरभावात् ।

इसमें स्पष्ट है कि बोधायन गृह्यसूत्र के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप में प्रचलित हो गई थी । लिंग को केवल भगवान् शिव का एक प्रतीक माना जाता था और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा ठीक उसी प्रकार की जाती थी, जिस प्रकार उनकी मानवाकार मूर्तियों की ।

लिंगोपासना के प्रचलन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि धर्मसूत्र-काल तक आर्य और अनार्य का पूण रूप से सम्मिश्रण हो चुका था ।

इसी धर्मसूत्र में रुद्र की मूर्ति-पूजा के साथ-साथ विष्णु की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान मिलता है (३।२।१३।१६) ।

दो प्रधान देवता रुद्र और विष्णु के साथ-साथ गृह्यसूत्रों में रुद्र की पत्नी को भी स्थान मिला है । इस समय रुद्र की पत्नी एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है । रुद्र की मूर्तियों की पूजा के साथ इनकी पूजा की विधियाँ भी बताई गई हैं और पहली बार इन्हें दुर्गा कहा गया है (३।३।२-३) ।

बोधायन गृह्यसूत्र (३।३।१०) में विनायक का उल्लेख और पूजा-विधि आता है । “सक्षप मे विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार में उनके कारण बाधाएँ न पड़ें, इस उद्देश्य से उनको सतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था । इसलिए जो विधियाँ बताई गई हैं, उनमें जादू-टोनों का पुट अधिक है और उनके स्वरूप स्पष्ट ही अयव-वेदीय हैं । पता चलता है कि विनायक जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के क्षेत्र के जीव थे । ये विधियाँ तम-निवारक सूर्य के स्तवन के साथ समाप्त

1. आपोहिष्णमयो भुव. इति तिसृभिः हिरण्यवर्णाः इति चक्षुःसृभिः पवमानाः इत्येतैरनुवाकेन मन्त्रयित्वा आर्यान् रौद्राग्रं महाकाल्यं महायोगिन्यं मुष्णं पृथ्व्यं देवसंकीर्त्यं महाचक्र्यं (यक्ष्यं) महावैष्णव्यं महापृथिव्यं मनोगम्यं शङ्खधरिण्यं नमः इति—सावित्र्यः—भगवत्यं दुर्गादेव्यं हविर्निवेदयामि इति हविर्निवेद्य शेषम् एकादश नामधेयं हुत्वा पञ्चदुर्गा जपेत् दशस्वस्ति जपेत् ।

होती थीं और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायक को अन्ध-कार और नदी का जीव माना जाता था ।”

गृह्यसूत्रों में विनायक विघ्नकारी से बढ़कर विघ्नपति हो गया है और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए प्रार्थना की जाती है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।१०) । प्रार्थना यो है—

विघ्नविघ्नेश्वरागच्छ विघ्नित्वैव नमस्कृत ।
अविघ्नय भवान् सम्यक् तदा स्माकं नव प्रभो ॥
कृते यदि भया प्राप्तं भद्रया वा गणेश्वर ।
उत्तिष्ठ सगणः साधो याहि भद्र प्रसीदताम् ॥

यहाँ विनायक उत्तरकालीन गणेश का आदिरूप है । बोधायन गृह्यसूत्र में इसका एक स्त्री-देवता के साथ साहचर्य भी बताया गया है, जिसका नाम ‘ज्येष्ठा’ है । किन्तु आश्चर्य की बात है कि विनायक के समान ही इसको भी हस्तिमुखा कहा गया है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।९) ।

अत उत्तर-वैदिक साहित्य में विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपरकाल में शिव के साथ उसका घनिष्ट संबन्ध हो जाना एक आश्चर्य-जनक घटना है । बोधायन गृह्यसूत्र (३।९) में जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे भूपति, भूतपति, भूतानापति और भुवनपति की उपाधियाँ दी गई हैं । ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं । पुराणों में शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई हैं और गणेश को भी प्रायः शिव के अनेक गुणों से विभूषित किया गया है । हम पहले कह आए हैं कि आरम्भ में मूषक रुद्र का वाहन था; किन्तु उत्तर-वैदिक काल में मूषक अनि-वार्य रूप से गणेश का वाहन माना जाने लगा और शिव का नहीं । पुराणों ने इसकी पुष्टि की है । इससे यह प्रबल धारणा बनती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत भिन्न नहीं था । बात: यह सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ में ये दोनों देवता एक ही थे ।

इस संबंध में डॉ० यदुवशी का कहना है कि ‘देवताओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओं को आत्मसात कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है ।

परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देव-कथाओं में चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपों का विकास होते-होते अनेक स्वतंत्र देवताओं का अस्तित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के संबंध में यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ में विनायक रुद्र के रूप का ही नाम था, परन्तु जेने-जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अन्त में दोनों स्वतंत्र देवता बन गए और साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा। और, पिता-पुत्र का संबंध उपयुक्त है भी; क्योंकि रुद्र ने एक रूप में गणेश का जन्म हुआ।^१



दूसरा खराड

पहला परिच्छेद

पाणिनि-काल

भारतीय युद्धकाल में आर्यों का धर्म केवल वेद-विहित था, किन्तु आगे चलकर महाभारत रचना-काल में वैदिक देवताओं के सिवाय कुछ और देवता समाविष्ट हो गए। वैदिक देवताओं के अग्रगण्य इन्द्र पीछे पड़ गए और शिव तथा विष्णु की मूर्ति पूर्णरूप में स्थापित हो गई। विद्वानों की मत है कि भारतीय युद्ध में लेकर महाभारत की रचना तक दो ढाई हजार वर्ष बीते और इस अवधि में आर्य-धर्म का रूपान्तर हो गया। “वैदिक काल में ईश-भक्ति की विशेष क्रिया संख्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—में जीवित और जाग्रत थे। परन्तु भारतीय काल में आर्यों और अनार्यों के समाज में एव धर्म में पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमें यद्यपि ब्राह्मणों में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहें थे, तथापि अ्य वर्णों में शिव, विष्णु, स्कन्ध और दुर्गा की पूजा प्रचलित हो गई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओं की प्रतिमाएँ और इनके लिए मन्दिर बने। अज्ञ लोगो में निरे भूत-पिशाचों की ही भक्ति, स्कन्द के साथ अस्तित्व में आ गई थी और यह भी प्रकट है कि बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध किया गया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् ढाई-तीन हजार वर्षों के अतर्गत भारत में मूर्ति पूजा का प्रचार हुआ। बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत-ग्रन्थ में यह सम्मिश्रण बौद्धकाल में हुआ जबकि बुद्ध की पूजा प्रचलित हो चुकी थी।”

यह ठीक है कि प्राचीन काल में सरस्वती, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ कला की दृष्टि में वनती थीं। वर्तमान समय में भारतमाता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु है। न इसमें कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशों में अनेक महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठित हैं और विशेष अवसरों पर उनके प्रति जनता आदर प्रदर्शित भी करती है। किन्तु यह आदर-प्रदर्शन मूर्ति-पूजा नहीं है। स्थान-स्थान पर मूर्तियों के उल्लेख से यह भी धारणा

1. महाभारत की भाषा : वैद्य

होती है कि कला अथवा शीर्ष पूजा की दृष्टि से उस समय मन्त्रों में कतिपय मूर्तियाँ रखी जाती हो, किन्तु मूर्तिपूजा का उल्लेख हमें महाभारत-युद्धकाल तक वास्तव में नहीं मिलता ।

प्राचीन ग्रन्थों में सर्वप्रथम पाणिनि के व्याकरण-सूत्रों में मूर्तियों और मंदिरों का प्रामाणिक उल्लेख हम पाते हैं । अधिकांश विद्वान् पाणिनि का समय ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व मानते हैं । पाणिनि ने अपने सूत्रों में निम्नलिखित वैदिक देवताओं का उल्लेख किया है :

(१) अग्नि, (२) इन्द्र, (३) वरुण, (४) भव, (५) शर्व, (६) रुद्र, (७) मरु, (८) वृषाकपि, (९) पूषा, (१०) अर्यमा, (११) त्वष्टा, (१२) सूर्य, (१३) वायु, (१४) मरु-इन्द्र, (१५) अपानपृ, (१६) सोम और (१७) नास्त्य । कुछ जुड़वाँ देवताओं के भी नाम हैं—अग्नि-सोम, अग्नि-वरुण, द्वापृषिबी, शुनासीर, सोम-रुद्र, इन्द्र-पूषा, शुक्रामन्धी । पाणिनि के समय में मास, ऋतु, सवत्सर सभी को देवताओं के नाम-पद प्राप्त हो चुके थे । पाणिनि ने स्वयं ऋतु को (४।२।३१) देवता कहा है । देवत्व-प्रदान की नई पद्धति के परिणाम-स्वरूप जितने नक्षत्र थे, वे सब-के-सब देवता मान लिए गए ।

“देवताओं के विषय का दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है । यह भक्ति-प्रधान दृष्टिकोण था । पाणिनि के युग में भक्ति-धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है । इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ । वैदिक यज्ञों में जो पुरातनकाल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया । यह विशेष देवताओं के प्रति भक्ति या विश्वास था, जिसमें उनको प्रसन्न करके उनका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था । भक्ति-धर्म की स्वीकृति का प्रभाविक फल कई प्रकार में देखने में आया । एक तो लोक-धर्म में जो सैकड़ों प्रकार के छोटे-मोटे देतमन्त्र थे, उन सबकी पद-प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिए अर्वाणिक समाज में द्वार उन्मुख हो गया । फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में खली आती थी, उन्हें सार्वजनिक रूप में मान्यता मिल गई । उन्म्वर्षों के घरों में भी इन देवताओं का निरबरोध प्रवेश हो गया । वैदिक धर्म के देवता और

उन्हें प्रसन्न करने की यज्ञ-पद्धति नए भक्ति-धर्म के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर प्रकट हुए और देखते-देखते समाज में सर्वत्र उनकी धाक उभ गई। यहाँ तक कि स्वयं वैदिक देवता और उनके प्रति किए जानेवाले यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—अमिसावेवा मिसा कटा, अर्थात् जो देवता पहले अलग थे, वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्धधर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा-पद्धति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए।”

भक्ति-धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा की पद्धति पर पड़ा। यह प्राचीन यज्ञ-विधि में सर्वथा भिन्न थी। “भक्ति-धर्म का तो प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बौद्धों और जैनो ने बुद्ध और महावीर को भक्ति-धर्म की पूजा-विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उसके लिए स्तूप और चिह्नों की कल्पना करके धर्म का बाह्य रूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर, हिन्दू-समाज पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्राकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गए।”

पाणिनि की ‘अष्टाध्यायी’ (५।३।९६) में देव-मूर्तियों का वर्णन है तथा (५।२।१ म) ‘अर्चा’ अर्थात् प्रतिमा शब्द का उल्लेख आया है। अतः ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजा का सूत्रपात भारत में याज्ञिक विद्वानों की अनुरूपता को लेकर हुआ। पर यह कब और किसके द्वारा हुआ, यह शिष्यपूर्वक कहना कठिन है। किन्तु पाणिनि के युग में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण वासुदेव की भक्ति करनेवाले वासुदेवक कहे जाते थे। कृष्ण के साथ-साथ उनके अभिन सखा अर्जुन की पूजा भी प्रचलित हो चली थी और कालान्तर में इनके धार्मिक साहचर्य का दूसरा रूप नर-नारायण की सहपूजा थी, जिसमें नारायण

1. पाणिनिकाळीन भारतवर्ष : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

2. वही

प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महा-भारत (शान्ति-पर्व ३३९) में नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। वासुदेव और अर्जुन का ही नामांतर नर-नारायण है। वेदों में भी देवताओं के जोड़े या साहचर्य का उल्लेख है—ब्रह्मे और-वसु, इन्द्र-सोम, इन्द्र-वृहस्पति। इस संबंध में डॉ० अग्रवाल का कथन है कि “नर-नारायण की भाँति ‘सकपण और वासुदेव’ नए भक्ति-धर्म का मुख्य सूत्र बन गया। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पञ्चवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पञ्चरात्र-धर्म की सुनिश्चित मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण था। इसकी गूँज पाणिनि के वासुदेवाङ्गनाम्न्यायुन (४।३।९८) में सुनाई देती है। भागवत-धर्म के इतिहास में पाणिनीय सूत्र की प्रमाण-साक्षी असुल्य है।

चतुर्व्यूह का सम्यक् वर्णन महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ४९) में आया है। यह विचारणीय है। कहा गया है कि श्वेतद्वीप में पहुँचकर देवर्षि नागद भगवान् विष्णु के दर्शन की इच्छा में उनके नाम की दो सौ नामों द्वारा स्तुति करने लगे। स्तुति पर विश्व-रूप धारण कर भगवान् ने उन्हें दर्शन दिया। भगवान् का रूप विलक्षण था। सनातन भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूप में नाना प्रकार के रंग धारण किए हुए थे। उनके हजारों नेत्र, हजारों मस्तक, हजारों पंर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे। वे अपूर्व कान्ति से संपन्न थे और उनकी आकृति अव्यक्त थी। सबको वश में रखनेवाले भगवान् नारायण एक मुख से तो ओंकार तथा उसमें सब रखनेवाले गायत्री का जप करते थे एवं अन्यान्य मुखों से चारों वेदों और उनके आरण्यक भाग का गान कर रहे थे (शान्ति-पर्व, ३३९।२१-२५)। भगवान् ने कहा—“विप्रवर धर्म के घर में अवतीर्ण हुए, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं, अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो उसका साधन करो। जो नेत्रों से देखा नहीं जाता, त्वचा में जिसका स्पर्श नहीं होता, गंध ग्रहण करने-वाली घ्राणेन्द्रिय नली में जो सूँघने में नहीं आता, जो रसेन्द्रिय की पहुँच से परे है, सत्, रज एवं तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डालते, जो सर्व-व्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियों का

नाश हो जाने पर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता, जिसको अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्क बताया गया है, जो बीबीसो तत्त्वों से परे पञ्चवीसवें तत्त्व के रूप में विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रों से ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज मुक्त हो जाता है, वही सनातन परमात्मा है। उसी को वासुदेव नाम से जानना चाहिए। ससार में उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेव को छोड़कर कोई भी बराबर भूत नित्य नहीं है।”

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि नारायणीय धर्म, जिसमें नारायण प्रधान हैं और नर उनके सत्त्वा-रूप में हैं, एक ईश्वर के रूप में प्रचलित हुआ। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इस विचारधारा का आरम्भ उसी युग में हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नाम नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ कि एक ही शक्ति नर और नारायण के दो रूपों में विकसित हुई। डॉ० अग्रवाल का कथन है कि ‘वासुदेव कृष्ण की परिवार-कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक व्यापी एवं स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पञ्चरात्र की कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और सकर्षण इन दोनों का जुड़वाँ रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ। इस ही व्याकरण के उदाहरणों में वासुदेव-सकर्षण कहा गया है (८।१।१५)। इस प्रकार के जुड़वाँ अवतार की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और सकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त थे। देवता इन्द्र (६।३।२६) सूत्र से ज्ञात होता है कि ऐसे कुछ देवताओं के जोड़े के साहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओं के विषय में भी था, जैसे इन्द्र-सोम, इन्द्र-वृहस्पति आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे, जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म-प्रजापति, शिव-वैश्रवण आदि। नर-नारायण की शक्ति संकर्षण और वासुदेव नए शक्ति-धर्म का मुख्य सूत्र बन गए। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ।’

इस चतुर्व्यूह की दृष्टि हमें महाभारत (शान्ति-पर्व ३३९।१०२) में मिलती है। पञ्चरात्र या पञ्चायतन के संबंध में डॉ० मुशीराम शर्मा का विचार है

१. डॉ० मुशीराम शर्मा : शक्ति का विकास, पृष्ठ २३५-२६

कि 'प्रकृति की पूजा पञ्चायतन में अभिव्यक्त हुई है। वरुण की व्यूह-पूजा में जो नाम आते हैं, वे भी प्रकृति की मूल विकृतियों के ही नाम हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।३।९६) में देवमूर्तियों का वर्णन है तथा उसमें (५।२।१०) 'अर्वा' अथवा 'प्रतिमा' शब्द का उल्लेख है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।४) में विष्णु-मन्दिर के निर्माण की आज्ञा वर्णित है तथा शिव और वैश्रवण की मूर्तियों का उल्लेख है। ये मूर्तियाँ मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाती थी। इस मूर्ति-पूजा का सूत्रपात इस देश में याज्ञिक विधानों की अनुराता को लेकर हुआ, पर वह कब और किसक द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वेद में प्रतिमा-पूजा का विधान किसी भी स्थल पर नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों तथा भागवतों में विषमता रही। धूर्मु-राण से स्पष्ट है—

न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शकर ।

सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदविनिर्बन्धौ ॥ (१४।१२४)

यह श्लोक पाञ्चरात्रों को वेदबाह्य तथा पुण्यबाह्य कहता है। पराशर-पुराण, वसिष्ठ-महिता, सूत-संहिता, अश्वनायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को अवैदिक मानते हैं। इसके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णु-पुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत-धर्म प्रारम्भ में वेद-बाह्य समझा जाता था। इसे वेद-परक सिद्ध करने के लिए इसके अनुयायियों ने प्रभूत परिश्रम किया। यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'आगम-प्रामाण्य' में पाञ्चरात्र-धर्म को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अथक परिश्रम किया है।"

इस प्रकार पाणिनि के युग में न केवल आगवत-धर्म की नींव पड़ चुकी थी, बल्कि लोक में उसका समृद्ध रूप भी प्रकट हो रहा था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पाणिनि के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् हमें कृष्ण और कस के उपाध्यायन का और विष्णु के प्रसाद या देव-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के एक शिलालेख में, जो चित्तौड़ के पास पाया गया है, वासुदेव को सब देवों में श्रेष्ठ कहा गया है। अतः ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व में आ चुका था, जिसने भारत के धार्मिक रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में देवतावाचक एक शब्द 'महाराज' आया है और उसका प्रातः भक्ति का भी उल्लेख है। 'महाराज' देवता के भक्त महाराजिक

कहलाते थे। ज्ञात होता है कि महाराज देवता वैश्ववर्ण या कुबेर की सत्ता थी। यक्षों के राजा होने के बाद कुबेर 'महाराज' कहलाए। जातक (६।२६५) में वैश्ववर्ण कुबेर को 'महाराज' कहा गया है। डॉ० अन्नवाल का कथन है कि "गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्ववर्ण की पूजा का उल्लेख आया है। गृह्यहोम या हवि के अन्त में वैश्ववर्ण की स्तुति का मंत्र उच्च घोष से पढ़ा जाता था, जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का अधिपति कहा है।"¹

पातञ्जल योगदर्शन के निर्माता ने ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्र (४।३।६८) पर जो भाष्य लिखा है, उसके अनुसार वासुदेव कृष्ण और सत्त्वर्ण के लिए मन्दिर थे और उनकी पूजा की जाती थी। अतः भागवतो का आराध्यदेव वासुदेव और उनके नाम से प्रचलित संप्रदाय विक्रम सवत् से कई सौ वर्ष पूर्व ही इस देश में भागवत संप्रदाय के नाम से प्रतिष्ठित हो चुके थे।

महाभारत भागवत-धर्म को लोक-धर्म कहता है और उसका संबन्ध साध्य, योग तथा वेदारण्यक से जोड़ता है (शान्ति पर्व ३३५।२६, ३२, ३६, ८१)। भागवत धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक नारायण, वासुदेव, वंष्णव, सात्वत आदि नामों से अभिहित किया जाता है। महाभारत (अध्याय ३४८) इस धारणा की पुष्टि इस तरह करता है।

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।

परस्परार्ङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रञ्च कथ्यते ॥

एष ऐकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः।

एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुचनन्दन ॥

वैदिक धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म की पावन त्रिवेणी है। यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना—सभी साधनों को मानव के सर्वांगीण विकास का साधन मानता है। किन्तु भागवत-धर्म एकांगीण है। वह नारायण वासुदेव कृष्ण नाम के भगवान में एकान्त निष्ठा को प्रश्रय देता है। इस प्रकार भागवत-धर्म में भक्ति की प्रमुखता है। भागवत-धर्म में भगवान में एकान्त निष्ठा और अहेतुक भक्ति की ही जीव का उद्धार करनेवाली माना है।

1. राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो धर्म वैश्ववर्णाय कर्मह ।

ते मे कामान् कामकामाय सल्लं कामेश्वरो वैश्ववर्णो वन्द्यतु ॥

इसा से कुछ वर्ष पूर्व समय की त्रिशूलधारी भगवान शिव की मूर्तियाँ उवलब्ध हुई हैं। विद्वानों का मत है कि शिवलिंग की पूजा त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा से बहुत पूर्व की है और भागवत-संप्रदाय से एकदम असंयुक्त है। अनुमान है कि त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा भागवत प्रभाव के उपरान्त बनी।

मूर्तियों को, जिनमें देव-मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं, प्रतिकृति कहा गया है (५।३।९६)। इसी अर्थ में विशिष्ट शब्द 'अर्चा' का भी प्रयोग हुआ है (९।२।१०१)। मूर्ति रखनेवाला पूजारी अर्चावान् या आर्चिक कहलाता था। पतञ्जलि ने भी देवमूर्तियों के लिए 'अर्च' शब्द का प्रयोग किया है।^१

ज्ञात होता है कि पाणिनि-पतञ्जलि-काल में कुछ मूर्तियाँ ऐसी थी, जो सार्वजनिक रूप में प्रासाद में अथवा खुले चबूतरे पर स्थापित होती थी। उन पर एक व्यक्ति का स्तम्भ न था। अतः वे किसी की जीविका का साधन नहीं होती थी। उनकी अवस्था इन दिनों मत्तों और देशभक्तों की जो मूर्तियाँ उद्यान, राजपथ आदि पर स्थापित रहती हैं, उन्हीं के सदृश थी। दो प्रकार की मूर्तियाँ देवालय या गुजारियों के अधिकार में होती थी। या तो वे एक स्थान में स्थापित रहती थी अथवा गुजारी स्थान-स्थान पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढ़वाता था। ऐसी चल और अचल मूर्तियाँ पूजार्थ और देवलोक के जीविकार्थ होती थी। तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थी जो दुकानों में बिक्री के लिए रखी जाती थीं, वे पूजार्थ नहीं थी।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूर्तियाँ प्रदर्शन, जीविका और पूजा—तीनों बातों के लिए रखी जाती थी। पाणिनि के सूत्रों में स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईश्वर से लगभग ५०० वर्ष पूर्व से ही मूर्ति-पूजा भारत में प्रचलित थी, भले ही यह सर्वमान्य न रही हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी के केवल एक सौ वर्ष पश्चात् के कौटिल्य के अर्थशास्त्र से दुर्ग के अन्दर बने शिव तथा अन्य देवताओं के मन्दिर और उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों का विवरण स्पष्ट रूप से मिलता है। इस ग्रन्थ में और भी बहुत-सी ऐसी सामग्रियाँ हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा स्थायी रूप से भारतीय धर्म का अंग बन गई थी। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के बाद हमें पतञ्जलि का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से

१. मीरः हिरण्यारिभिः अर्चा प्रकल्पिता (५।३।९९)।

दो शताब्दी पूर्व का माना जाता है । महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही, इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियों का भी वर्णन है, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए बनाई जाती थीं (सूत्र १।४९, ३।९७; १।६३; ४।७७) । इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि आर्य-सम्प्रदाय, मूर्ति-निर्माण और मूर्ति-पूजा को सरकारी आय का साधन भी बनाते थे (३।९०) । अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि मूर्ति-पूजा की प्रणाली जो आर्य-अनार्यों के मिश्रण के बाद आरम्भ हुई थी, पतञ्जलि के समय तक पुष्ट और मान्य होती गई थी । पूजा की विस्तृत प्रणाली तथा माहात्म्य का वर्णन विभिन्न पुराणों में आया है, जो अगले परिच्छेद का विषय है ।



दूसरा परिच्छेद पुराण और उनका मूर्ति-पूजा पर प्रभाव

अतएव ब्राह्मण (१४।६।१०।६) और बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) में लिखा है कि जैसे जलती हुई गीली लकड़ी में से धुआँ निकलता रहता है, वैसे ही महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि उत्पन्न होते हैं। वैदिक साहित्य में पुराणों के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि इनका अभिप्राय आजकल के १८ पुराणों से है। जिस पुराण का जिक्र वैदिक साहित्य में आया है, वह पुराण आजकल उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में लिखा है कि 'उर्वशी-दुष्यन्ता-सवादादि' को इतिहास एवं 'आरम्भ में असत ही था' इत्यादि सृष्टि-प्रकरण को पुराण कहते हैं।^१

इन बातों से प्रकट है कि सर्गादि का वर्णन पुराण कहलाता था और कथाएँ इतिहास। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में उल्लिखित है कि इतिहास (पुराण) पाँचवाँ वेद है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण से तात्पर्य ब्राह्मणभाग में उल्लिखित कथाओं से है। किन्तु प्राचीन पुराण में केवल सृष्टि की बात रही हो—यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि महा-भारत के आदिपर्व में शौनिक ऋषि कहते हैं कि पुराण में दिव्य कथाएँ हैं, आदिब्रह्म के वृत्तान्त हैं।

पुराणों के पाँच लक्षण भिन्न-भिन्न पुराणों में इस प्रकार दिए गए हैं :

सर्वमेष प्रतिसर्गवच्च वंशोमन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

अर्थात् सर्ग वा सृष्टि-विज्ञान, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस

१. 'विद्वत्सर्व-वर्णन', पृ० १८५ (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—४ द्वारा प्रकाशित)

२. रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० १६२ (ज्ञानमण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित)

यन् का समय कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं तथा (५) वंशानुश्रित—प्रसिद्ध वंशों का—सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि राजाओं का—वर्णन ।

किन्तु आज जो पुराण पाए जाते हैं, उनमें उपयुक्त पाँच विषयों के अतिरिक्त भी अनेक बातों का वर्णन है ।

पुराणों के पठन से स्पष्ट है कि सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन सब पुराणों में एक ही है । यहाँ तक कि इस प्रसंग का एक-एक श्लोक समान है । किसी पुराण में दो-चार श्लोक अधिक हैं, और किसी में कम । अन्तर केवल इतना ही है । इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ में एक ही पुराण था, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में है । संभव है कि पुराण-संहिता के अठारह अध्याय हों, जिनके आधार पर व्यास की शिष्य-परम्परा ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सम-समय पर अठारह पुराणों की रचना कर डाली और विभिन्न समूहकारों ने प्रसंग-वश अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिष्ठा और मर्वादा का खयाल रखते हुए, प्रसंग की पूर्ति और संग्रह को रोचक बनाने के लिए अपने श्लोकों की संख्या बढ़ा दी । कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि संहिता के १८ भागों में पुराण का होना कारण-विशेष सूचित करता है । संभवतः १८ की परम्परा उस समय तक चल निकली थी । महाभारत में १८ पर्व हैं । बुद्ध १८ दिनों तक चला । सैनिकों की सख्या १८ अश्विह्वी थी । महाभारत के अन्तर्गत भीष्मा के भी १८ अध्याय हैं । मुख्य अर्धशास्त्र भी १८ माने गए हैं ।

प्रत्येक पुराण के अलग-अलग अनुशीलन से पता चलता है कि हर एक की उद्देश्य साधन-विशेष है । भिन्न-भिन्न पुराणों पर भिन्न-भिन्न संप्रदायों का प्रभाव पड़ा हुआ स्पष्ट दृष्टि पड़ता है । यह कहना कठिन है कि इन पुराणों से ही संप्रदायिक बंध पड़े अथवा संप्रदायिक बंधों से वे और पीछे से भिन्न-भिन्न संप्रदायों के समर्थकों ने व्यास जी की शिष्य-परम्परा से निमित्त कराकर अपने संप्रदाय के अनुकूल परिवर्तन और परिवर्धन करा लिये । इसमें तो सन्देह नहीं कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के उत्कर्ष-काल में पुराणों की रचना हो चुकी थी; क्योंकि जैन और बौद्ध-साहित्य में पौराणिक कथाओं, नामों तथा कतिपय देवताओं का उल्लेख है । इतिहासकारों का मत है कि बौद्धधर्म के प्रभाव के वैदिक धर्म को बहुत चक्का लगा और साथ अपने धर्म की रक्षा के हेतु सम्बंधित हो कर

तथा धार्मिक स्थिति के अनुकूल स्वधर्म की रक्षा के लिए ही इन भक्ति-प्रधान पुराणों की रचना हुई। जो भी हो, जैन और बौद्ध धर्म के आक्रमणों से पुराणों ने वैदिक धर्म की खूब रक्षा की। जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान आधार हिंसक यज्ञों के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार था। अतः पुराणों के द्वारा देश में हिंसक कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति-रस का विलक्षण प्रभाव फैल गया और उसके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना खूब बढ़ी और मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण की ओर लोग प्रवृत्त हुए। यह भी बौद्ध तथा जैन मन्दिर-निर्माण के स्पर्धा-स्वरूप ही हुआ। भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की महत्ता, पूजा-विधि आदि हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान में सहायक सिद्ध हुई। यह निर्विवाद है कि आज भी वर्तमान हिन्दू-धर्म के मूलधार पुराण-ग्रन्थ हैं। भक्तजनों ने विभिन्न पुराणों में अपने-अपने इष्ट देवताओं का शोभन अलंकारों से मनमाना शृंगार किया।

अवतारवाद पुराणों का प्रधान अंग है। प्रायः सभी पुराणों में अवतार का प्रसंग आया है। कहीं दस अवतारों की धारणा की पुष्टि की गई है तो कहीं चौबीस अवतारों की। जैन और बौद्ध धर्मों को अपने में आत्मसात करने के उद्देश्य से जैनधर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव की गणना चौबीस अवतारों में हुई और बुद्धदेव की नवें अवतार में। सबसे आश्चर्य और कौतूहल की बात है कि संसार के ये ही दो धर्म हैं, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। भारतीय परिपाटी के अनुसार आस्तिक और नास्तिक का भेद ईश्वर को मानने या न मानने पर निर्भर नहीं रहा है, बल्कि वेद के मानने और न मानने पर। इसी कारण साङ्ख्य और मीमांसा की गणना नास्तिक दर्शन में होती चली आई। किन्तु जैन और बौद्ध धर्म तो वेद की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। फिर भी इनके प्रवर्तकों को अवतारों की कोटि में स्थान देना हिन्दू-धर्म की उदारता और सहिष्णुता का द्योतक है। आज भी हिन्दू-धर्म के कट्टर नेताओं के हृदय और वाणी में संसार के अन्य धर्मों के प्रवर्तकों के लिए अत्यधिक सम्मान और आदर पाया जाता है।

पुराणों का प्रधान उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना, अथवा ब्रह्मा को छोड़कर शेष पञ्चदेवताओं की उपासना का प्रसार एवं प्रचार हो। ये पाँचों परमात्मा के सगुण रूप माने गए हैं। सृष्टि में इनका कार्य-विभाग पुण्य-पुण्य है। ब्रह्मा की उपासना आज-

कल प्रचलित नहीं है। पुष्कर (अजमेर) को छोड़कर भारत में हमें ब्रह्मा का सर्वमान्य मन्दिर कहीं देखने को नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि गणेश ने ब्रह्मा का स्थान ले लिया है और विष्णु, शिव, सूर्य एवं शक्ति के साथ पञ्चदेव में सम्मिलित हो गए हैं। ईश्वर-भक्ति के विविध रूपों में नाम-कीर्तन की महिमा सभी पुराणों में विशेष रूप से वर्णित है। भक्ति का प्रचार ही पुराणों का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषदों के आदर्शों को प्राप्त करने में इस काल के मनुष्यों ने अपनी असमर्थता का अनुभव किया और इसी कारण सगुण-उपासना की प्रवृत्ति बढ़ी। तब से आज तक सगुण-भक्ति भारतीय जन-जीवन का प्रधान अंग रही।

अधिकांश शिक्षित-वर्ग पुराणों में उल्लिखित घटनाओं को असंभव कहकर उन्हें कपोल-कल्पित मानने हैं। इस संबंध में निम्नलिखित कथन सर्वथा विचारणीय है—“सब पुराणों के सभी वाक्यों को प्रमाणभूत मान लेना भी बड़ी जटिल समस्या का हंतु बन जाता है, क्योंकि असंभव और अस्वाभाविक प्रतीत होनेवाले पौराणिक रहस्य अत्यन्त मनोयोग से अनुसन्धान करने पर भी कुछ समझ में नहीं आते, और पुराणों के विद्वानों को भी भ्रम में डाल देते हैं। तालपत्र के युग में मुद्रण-कला का अभाव था। प्रक्षेपण या प्रतिसंस्करण का काम नैसर्गिक और अनिवार्य था। तालपत्र के किसी भी ग्रन्थ में प्रक्षिप्त वाक्यों के कुछ नए पन्ने मिला देना और प्रतिलिपियों द्वारा देशान्तर में उसका धीरे-धीरे मूलग्रन्थ के रूप में प्रचार करना कठिन नहीं थे।” इसके अतिरिक्त हमें पुराण के रचना-काल का भी ध्यान रखना होगा। उस समय बौद्धधर्म का धुआँधार प्रचार हो रहा था। जनता अधिकतर अशिक्षित और अंधविश्वासी थी। उन दिनों ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता थी, जो जनता के मन पर चमत्कारपूर्ण प्रभाव डाल सके। पुराणों में वर्णित घटनाएँ नानी की कहानों जैसी नहीं लगतीं। यदि उस समय की जनता आज की तरह तर्कशील होती तो निश्चय ही पुराणों का रूप कुछ दूसरा होता। फिर भी पुराणों के गहन अध्ययन से हमारी आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा बल मिलता है और उसकी कथा, उपनिषद् की जटिल भाषा के विपरीत, बड़ी रोचक लगती है।

आज की स्थिति में पुराणों के रूप में बड़ा ही अन्तर आ गया है। कुछ पुराण तो पूरे मिलते ही नहीं; कुछ ने अपनी संख्या से अधिक रूप धारण कर

लिया है। एक पुराण के विषय कहीं-कहीं दूसरे पुराणों में भी प्रसिद्ध हो गए हैं। विद्वानों का अनुमान है कि संप्रदायवादियों के पारम्परिक सचर्य के कारण दूसरों को हूँय समझने के लिए पीछे से कहीं-कहीं प्रसिद्ध अथ पुराणों में मिला दिए गए हैं। यदि विवेकपूर्वक मनोयोग से पुराणों का अध्ययन किया जाए तो प्रसिद्ध अथ पहचान में अवश्य आ जाते हैं।^१

हम श्री कृष्णमणि त्रिपाठी के विचार से शत-प्रतिशत सहमत हैं कि "पुराणों में सभी देश, काल एवं संप्रदायों में प्रचलित अनेक वेद-वेदियों की उपासना को स्वीकार करके सभी के माहात्म्यों को सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया गया है। पुराणों ने एक ही परमात्मा को विभिन्न संप्रदायानुसार विभिन्न नाम और रूपों में वर्णन करते हुए सारे संप्रदायों को एकत्व के सूत्र से बाँध दिया है और सभी धर्म, ज्ञान, सभन, प्रथाओं और विशिष्ट तत्त्वों को वक्षुष्य रखकर उनके आन्तरिक सम्बन्धों को सुप्रतिष्ठित कर दिया है। पुराणों के अनुसार प्रत्येक संप्रदाय विभिन्न नाम और रूपों में एक त्रिआत्म्या की ही उपासना करके अपने जीवन को कृतार्थ कर रहे हैं।"^२

अनेकता में एकता की लकी को पकड़ने में मानव की बुद्धि सभी सक्षम होती है जब उसमें सिद्धान्त-स्थापना की अपेक्षा सत्य के साक्षात्कार की व्यक्तता काम करने लगती है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि पुराणों में धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वय का जो स्वर मुखरित हुआ है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। कहा भी है—

शिबस्य हृदयं विष्णुविष्णोश्च हृदयं शिवः ।

उभयोरन्तरन्तास्ति यः पश्यति स ब्रह्मचो ॥

सुतरा, पुराण ही वर्तमान हिन्दू-धर्म की आधार-शिला हैं। पुराणों के प्रेम-पठन से सभी श्रेणी के मनुष्यों ने अपने जीवन को सुयमशील बनाकर कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त होने का अधिकार प्राप्त किया है।



१. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी : पुराणसंग्रह-मीमांसा : पूर्विका खण्ड ५० ५

२. वहीं, पृ० ७

तीनरा परिच्छेद पाशुपत मत और प्रतीक-पूजा

पाशुपत मत के विषय में अधिक जानकारी किसी भी ग्रन्थ से उपलब्ध नहीं होती। इस मत के माननेवाले शिव को पति मानते थे और जीव को पशु। शिवजी पशुओं के पति हैं, ऐसा उनका विश्वास है। शिवजी ही उन्हें इस संसार के भयंकर बचनों से मुक्ति प्रदान करते हैं। जो उनकी कृपा से बचिष्ठ है, वह इस संसार के मोह से बँधा हुआ मटकता-फिरता है। पाशुपत वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित—तीन प्रकार के होते हैं। महाभारत-कालीन शिव-पूजा पाशुपत मत के नाम से विख्यात है।

इस मत में तप का विशेष स्थान है, अतः इसके माननेवालों में कुछएक पाशु-भक्षण कर निर्वाह करते थे, अन्य केवल जल पीकर जीवन-रक्षा करते थे, कतिपय जप में ही लीन रहते थे और कोई-कोई योगाभ्यास से भगवत-चिन्तन किया करते थे। इनके अतिरिक्त कोई केवल धूम्रपान करता था; कोई उष्णता का सेवन करता था, कोई दूध पीकर रहता था; कोई हाथों का उपयोग न करके गाव के समान खाता-पीता था, कोई पत्थर पर अन्न कूटकर जीविका चलाता था; कोई चन्द्र-किरण पीकर सतोष प्राप्त कर लेता था, कोई जल-केन लाकर, कोई पीपल-फल को आहार बनाकर अपना-जीवन निर्वाह करता था; कोई पानी में पड़ा रहता था और कोई एक पैर पर लड़ा रहकर और हाथ ऊपर उठाकर वेद-पाठ किया करता था। इस मत के माननेवाले केवल शरीर को कठोर तप द्वारा साधकर मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास रखते थे। इसलिए निम्न श्रेणी के अनेक हनू-गुरु इस धर्म के अनुयायी हुए। इस मत में सभी देवों में श्रेष्ठ पशुपति माने जाते थे; क्योंकि बही सारी सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता और संहार-कर्ता भी हैं।

वेदो एव उपनिषदों में विष्णु और ब्रह्म—दोनों मुख्य देवता हैं, किन्तु दत्तो-पनिषद्-काल में परब्रह्म से विष्णु का आदात्म्य हुआ। बाद में श्वेताश्वतरोप-निषद् में वह आदात्म्य स्वरूप से किया गया जाता है। यह आद्य 'कण्ठे हि ब्रह्म न द्वितीय तस्य'। भाषां तु प्रकृतिं विद्याभ्यासिन्ं तु ज्योत्स्नरम् ॥—इन

वचनो से स्पष्ट है। अगवद्गीता में भी 'रुद्राणां शकरश्चास्मि' वचन है। यह निर्विवाद है कि उपनिषद्-काल के अतन्तर भारतीय काल में शंकर की परमेश्वर के रूप में उपासना शुरू हुई और इस स्वरूप की एकता विशेषतः वैदिक देवता रुद्र के साथ की गई। यजुर्वेद में रुद्र की विशेष स्तुति है। यजुर्वेद यज्ञ-संबंधी वेद है और यह मान्य हुआ है कि वह क्षत्रियो का विशेष वेद है। ऋग्वेद भी यजुर्वेद का उपाग है और श्वेताश्वतर-उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद है। यह स्वाभाविक है कि क्षत्रियो में और यजुर्वेद में शंकर की विशेष उपासना शुरू हुई होगी। इसके सिवाय यह भी ध्यान देने योग्य है कि "क्षत्रिय युद्धादि क्रूर कर्म किया करते थे, जिससे संभव है कि उन्हें क्रूर देवता ही अधिक प्रिय हुए हों। कुछ आश्रमों में ही कि इसी कारण शंकर की भी भक्ति रुढ़ हो गई हो और महाभारत-काल में तत्त्वज्ञान में भी पाश्चात्त के समान पाशुपत मत प्रचलित हो गया।"

दक्ष के यज्ञ में शंकर को हविर्भाग न मिलने के कारण सती और शंकर को क्रोध आया। शंकर ने अपने क्रोध से वीरभद्र नामक गण की उत्पत्ति की और उसके द्वारा दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करा डाला। तत्पश्चात् अग्नि से स्वयं शंकरजी प्रकट हुए और दक्ष ने उनकी स्तुति १०८ नामों में की। ऐसी कथा महाभारत के शान्ति-पर्व में आई है। इस समय शंकर ने दक्ष को पाशुपत व्रत बतलाया, जो शुद्ध और अपूर्व है। यह सभी वर्णों के लिए तथा आश्रमों के लिए खुला है। यह मोक्षदायी भी है। वर्णाश्रम-विहित धर्मों से यह कुछ मिलता भी है और कुछ नहीं भी मिलता। जो न्याय और नियम करने में प्रवीण हैं, उन्हें यह मान्य होने योग्य है, और जो चारों आश्रमों से परे हों, उनके लिए भी लाभप्रद ही है।

इस मत में पशुपति सभी देवों में प्रमुख है। वे ही सारी सृष्टि के उत्पन्न-कर्त्ता हैं। इस मत में पशु का अर्थ है सारी सृष्टि। इनकी सगुण-भक्ति के लिए कार्तिक स्वामी, पार्वती और नन्दीदेव भी सम्मिलित किए जाते हैं और उनकी भी पूजा करने की विधि बतलाई गई है।

शंकर अष्टमूर्ति हैं। वे ये हैं—पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और पुरुष। ऋग्वेद-संस्कृत-पर्व में उपमन्यु के आख्यान में पाशुपत मत का थोड़ा-सा विकास किया

क्या है। कहा गया है कि जल्लोक, बुदल्लोक, स्थल्लोक, महालोक, लोकालोक, मेघपर्वत और अन्यत्र सभी स्थानों में शंकर ही व्याप्त हैं। यह देवता दिगम्बर, उर्वरेता, भवन को जीतनेवाला और श्मशान में कोड़ा करनेवाला है। इसी से विद्या और अविद्या निकली एवं धर्म और अधर्म भी निकले। शंकर के भग-लिंग से निर्गुण, चेतन्य और माया कंसी होती है और इनके संयोग से सृष्टि कंसे उत्पन्न होती है, इसका भी अनुमान हो सकता है। महादेव सारे जगत् के आदि कर्त्तृण है। सारा चराचर जगत् उमा और शंकर के दोनों शरीरों में व्याप्त है। (अनु०, अ० १४)

शंकर के स्वरूप का उपमन्यु की ऐसा दर्शन हुआ—“शुभ्र कैलाशाकार तन्दी पर शुभ्र बंध सहित देदीप्यमान महादेव बंटे हैं। उनके गले में जनेऊ है। उनको अठारह भुजाएँ और तीन नेत्र हैं। हाथ में पिनाक धनुष और पाशुपत अस्त्र तथा त्रिशूल हैं, त्रिशूल में लिपटा हुआ सर्प है। एक हाथ में परशुराम का दिया हुआ परशु है और बाईं ओर गहड़ पर शंख-चक्र गदाधारी नारस्यम विराजते हैं। सामने मथूर पर हाथ में शक्ति और घटी लिए स्कन्द बैठे हैं। इस प्रकार शंकर के सगुण-रूप का वर्णन यहाँ दिया गया है। शंकर ने स्त्रियुर-दाह किया, उसका वर्णन बराबर आता है—“हे महादेव ! तेरे सात तत्त्वों (महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) और छह अंगों को यथार्थ जानकर तथा यह जानकर कि परमात्मा का अभिन्न स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, जो तेरा ध्यान करता है, वह तुझमें प्रविष्ट होकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। पाशुपत तत्त्व-ज्ञान का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन महाभारत में नहीं मिलता। इससे यही मानना पड़ता है कि महाभारतकार सीता ने पाश्चात्त (भगवत्) मत के समान पाशुपत मत के संबंध में उस समय स्वतंत्र आख्यान या ग्रन्थ के उपलब्ध होने के कारण, महाभारत में इससे अधिक वर्णन नहीं दिया।

पाशुपत शैव साधारण शैवों से भिन्न थे; क्योंकि महाभारत में ऐसा ही स्पष्ट वर्णन आया है। इन साधारण शैवों के आचार-विचार ब्राह्मण-धर्म के संबंध में अनुकूल थे। पाशुपत शैवों का प्रादुर्भाव भगवत् उसी समय हुआ, जब वैष्णवों के पाश्चात्त-संप्रदाय का। महाभारत में इस संप्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, परन्तु बाद में पुराण-ग्रन्थों में यह खर्चा खाई है कि एक ‘लकुलिन’ अथवा ‘नकुलिन’ ने लोगों को महेश्वर अथवा पाशुपत योग सिखलाया था। इस लकुलिन को भगवान् शिव का अवतार और श्रीकृष्ण का

सम्प्रदायों का माना जाता है। लघुलिपि की ऐतिहासिकता पर शक्य करने का कोई कारण नहीं है; मर्यादा उनके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' नामक ग्रन्थ में उनको पाशुपत संप्रदाय का सम्भावक माना गया है और सन् ६७१ ई० के नागराज-मन्दिर के शिलालेख से तथा अन्य कई शिलालेखों से इसकी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त कापाल-रूप में शिव की पूजा रक्त और नरबलि से की जाती थी। महाभारत में कापालिक वृत्ति का उल्लेख हो चुका है, परन्तु महाभारत के उल्लेखों से हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि शिव की इस रूप में पूजा करनेवालों का कोई संगठित संप्रदाय था या नहीं। अतः महाभारत के समय में हमें शंकों के केवल एक उप-संप्रदाय अर्थात् पाशुपतों का ही निश्चित रूप से पता चलता है।^१

ईसवी सन् की सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्युएनसांग ने भारत की यात्रा की थी और धार्मिक स्थलों पर इन्होंने नाम लेकर पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की काफी संख्या जानम होती है। ह्युएनसांग के कथनानुसार इनमें से कुछ तो भगवान शिव के मन्दिर में स्थापना करते थे, कुछ मन्दिरों में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते थे। ये संभवतः पाशुपत सन्तानों के थे। पाशुपतों का मुख्य मन्त्रण यह था कि वे अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे। ह्युएनसांग ने इनका नाम भस्मधारी रक्त दिया था। पाशुपत शैव सिद्धान्त को जबसे भस्म पर धारण करते थे।

इसी काल में शैव संप्रदायों की स्थिति पर बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' नामक पुस्तक भी कुछ प्रकाश डालती है। इस काल में पाशुपत शैवों का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर वर्णन है कि अमात्य मुकनास से कुछ शैव मिलने आए थे और वे उस समय रक्त वर्ण को भस्म धारण किए हुए थे। डॉ० यदुबंधी का विचार है कि ये रक्ताम्बरधारी शैव पाशुपतों के ही एक उप-संप्रदाय के थे।

पाशुपतों का उल्लेख साहित्य और शिलालेखों में होता रहा। इससे सिद्ध होता है कि पाशुपत लोग शंकों के प्रमुख अंग बने रहें। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में पाशुपतों को शैवमत के दो प्रमुख संप्रदायों में से एक माना गया है और उनके दार्शनिक सिद्धान्त का विस्तृत कराराया गया है।

३. डॉ० यदुबंधी : शैवमत

पञ्चमस्कन्ध महाभारत के संस्कृत में प्रसिद्ध विद्वान् स्व० ब्रह्मनिन्द कौटिल्यी का कथन है—“एक ओर वासुदेव में प्रविष्ट ब्रह्म शिव और दूसरी ओर उदित तनूस्त्री, इस दोनों ने पञ्चमस्कन्ध का वध चलाया और लोको के राज्य-काल में यह बराबर फैला गया । इस पथ ने अपना एक भिन्न पाशुपत दक्षिण बनाया । उनके आचारों में से कुछ थे, जिनकी कृपा थी—जटा धारण करना, शरीर पर तीन बार अक्षम लगाया, नग्न रहना अथवा चर्म-सूत्र धारण करना तथा लिंग-पूजा करना । इसमें सबेह नहीं कि इसी पथ के कारण लिंग-पूजन को महत्ता प्राप्त हुई ।”

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में तो इस लिंग-पूजा को बहुत ही महत्त्व प्राप्त हुआ जान पड़ता है । बाकाटक बंशीय राजा तथा उनके संबंधी भारक्षि-नाग राजा शैव थे । भारक्षि-राजा तो अपने कन्धे पर त्रिवर्ण लेकर पूजा करते थे और उनका विश्वास था कि इसी के कारण उनका राज्यवश स्थिर हुआ । जान पड़ता है कि गुप्त, भारक्षि तथा बाकाटक राजाओं में लिंग के प्रति बड़ा आदर था ।

ऐसा होते हुए भी लिंग-पूजन का सर्वव्यापी प्रचार नहीं हुआ था । कम-से-कम एक-दो शताब्दी तक वह व्यक्तिगत रहा होगा । कारण कि ह्युएनसांग के यात्रा-वर्णन में लिंग-पूजन का उल्लेख नहीं मिलता, चाहे महादेव की मूर्तियों का वर्णन जितना मिलता हो । काशी में तो उन्होंने महादेव की एक सौ फुट ऊँची तबि की मूर्ति देखी थी । ऐसी अवस्था में आजकल जो सारे भारत में लिंग-पूजन दीख पड़ता है, वह सार्वजनिक कैसे हुआ ? और ह्युएनसांग की देखी हुई मूर्तियाँ गई कहाँ ?

महमूद गजनवी के समय लिंग की पूजा सर्वव्यापी हो गई थी, फिर भी महादेव की मूर्तियाँ वर्तमान थी । सोमनाथ-मन्दिर में लिंग-पूजा हुआ करती थी, परन्तु दूसरे कुछ स्थलों पर महादेव की मूर्तियों की भी पूजा होती रही होगी । ये मूर्तियाँ कैसे बनाई जाती थीं, इसका विस्तृत वर्णन अलबरूनी ने बृहत्संहिता के पर आधार किया है । इससे ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमणों के बाद महादेव की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा बढ़ हुई होगी । मूर्तियाँ पत्थर की होने पर वे लोग उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालते थे । ऐसे समय लिंग-पूजा सुविधा-जनक सिद्ध हुई । यदि मुसलमान लिंग को तोड़ भी डालते तो उसे फिर बना लेने में अधिक व्यय या परिश्रम नहीं करना पड़ता था ।

'दक्षिण' में एक नए शैव संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जो 'आग्ने' चलकर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। यह था लिगायत अथवा बीरशैव संप्रदाय। इस संप्रदाय का जन्म कब और कैसे हुआ और इसका संस्थापक कौन था, यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। इस संप्रदायवाले बराबर अपने पास शिवलिंग रखते और कभी उससे अलग नहीं होते थे। वे लड़कियों का उपनयन-संस्कार लड़कों के ही सदृश करते थे और यज्ञोपवीत के स्थान पर उपनयन का चिह्न 'शिवलिंग' को बनाया करते थे, जिसे वे अपने शरीर पर धारण करते थे। इसी कारण वे लिगायत कहलाते थे। उनका मूलमंत्र था 'ओम् नमो शिवाय'।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लिंग-पूजा, जो पूर्व वैदिक काल से भारत के कुछ आदिनिवासियों में प्रचलित थी, महाभारत-काल में पाशुपत संप्रदाय के रूप में मूर्ति-पूजा के साथ-साथ मान्य हो गई और दसवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर विकसित होती गई। पाशुपत संप्रदाय में शंकर की मूर्ति और लिंग की पूजा साथ-साथ समान रूप से प्रचलित रही।

चौथा परिच्छेद

पाञ्चरात्र (भागवत) मत और प्रतीक-पूजा

ईश्वर की साकार या सगुण उपासना करने की परिपाटी शिव और विष्णु की उपासना से ही प्रचलित हुई देखती है। महाभारत-काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सभी वैदिक देवताओं में शिव और विष्णु श्रेष्ठ हैं। वैष्णवों में विष्णु और उनके अवतारों की पूजा बढ़ती गई और महाभारत में उसे 'पाञ्चरात्र' नाम मिला। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान से जान पड़ता है कि महाभारत के समय में भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे। इस संप्रदाय में विष्णु को परमेश्वर मानकर भक्ति की जाती थी। पाञ्चरात्र तथा भागवत एक ही संप्रदाय के पर्यायवाची नाम हैं। इसका आधार नारायण-आख्यान है। इस मत के मूलाधार नारायण हैं। सनातन विश्वात्मा नारायण से नर, नारायण, हरि और कृष्ण—चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं। नर तथा नारायण नामक ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया। नारद ने जाकर उनसे प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उन्होंने पाञ्चरात्र धर्म सुनाया। पाञ्चरात्र मत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों का विवेचन है। चित्र-शिक्षण्डा नामक ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर पाञ्चरात्र नामक शास्त्र तैयार किया। इसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति नामक दोनों मार्ग हैं। शान्ति-पत्र के नारायणीय आख्यान में पाञ्चरात्र धर्म का विवरण दिया गया है। इस मत में अहिंसा धर्म की प्रधानता थी और साथ-ही-साथ यह वेदों और यज्ञों में भी विश्वास रखता और उन्हें मानता था। नारायण ने नारद से कहा कि जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जो चौबीसो तत्त्वों से परे है और पच्चीसवाँ पुरुष कहलाता है, उसे सनातन पुरुष वासुदेव कहते हैं, वही सर्वव्यापी है; प्रलयकाल में उसके सिवाय कुछ भी नहीं रहता; पञ्चमहाभूतों का जो शरीर बनता है, उसमें अवश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से प्रवेश करते हैं, यही देहवर्त्ती जीव होने पर 'शेष' तथा 'सकर्षण' कहलाते हैं। राजा वसु उपरिचर का अहिंसामय यज्ञ का विधान इस बात का स्पष्ट दृष्टान्त है।

पाञ्चरात्र में वेद का पूरा माहात्म्य दिया हुआ है। साय-ही-साय वैदिक यज्ञ-क्रियाएँ भी उसी तरह मान्य की गई हैं; किन्तु यज्ञ का स्वरूप अहिंसा-युक्त वैष्णव-यज्ञ है। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में वर्णित है कि आद्य-क्रिया भी यज्ञ के समान नारायण से निकली है। महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय ३४५) में स्पष्टतया निरूपित है कि आद्य में तीन पिण्ड दिए जाते हैं और वे बही हैं, जिन्हें पहले नारायण ने अपने बराह-अवतार में अपने दाँतो में लगी हुई मिट्टी के पिण्ड से निकालकर अपने-आप को पितर-रूप समझकर दिए थे। इसका तात्पर्य यह है कि विष्णु ही पितर हैं और पितरों को दिए हुए पिण्ड विष्णु की ही भिलसै हैं। संक्षेप में, पाञ्चरात्र का यही सिद्धान्त है।

भक्ति-मार्ग बहुत पुराना तो है, परन्तु पाञ्चरात्र-मार्ग से कुछ भिन्न और कुछ प्राचीन है। पाञ्चरात्र-तत्त्वज्ञान रहस्यमय है। महाभारत के नारायणीय आख्यान से हमें स्पष्ट पता चलता है कि विष्णु और श्रीकृष्ण परमेश्वर के सदृश माने जाने लगे थे और उनको माननेवाले उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित करते थे और ये भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे और इनका एक सामान्य वग था। जनसाधारण के प्रति श्रीकृष्ण को अगाध प्रेम था और उनके हित के लिए उन्होंने अलौकिक और अद्भुत कार्य किए, जिससे सामान्य जन की कौन कहे, बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा और शूरवीर उनकी प्रतिमा से मात खाकर सबंदा के लिए उनके शरणगत हो गए। अन्त में छोटे-बड़े सभी श्रीकृष्ण के भक्त हो गए। उस भक्ति में निमग्न प्रेम था और जो उनके अनन्य भक्त हुए, उनका उन्होंने उद्धार किया। धीरे-धीरे जनसाधारण के हृदय पर श्रीकृष्ण एकच्छत्र राज्य करने लगे और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही पाञ्चरात्र अथवा भागवत धर्म कहलाया और यह भक्ति-विधान प्रसिद्ध हुआ।

भागवत-धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक, नारायण, वसुदेव, वैष्णव, उत्तम शक्ति कहीं नामों से अभिहित किया जाता था। महाभारत के अध्याय ३४८ वम निम्नलिखित श्लोक इस चारणा पर प्रकाश डालता है—

एवमेकं सांख्ययोगं बभारभ्यकर्तव्यं च ॥८१॥

परस्परप्राप्त्यतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।

एव एकान्तिनीं बभौ नारायणं परात्मकः ॥८२॥

अर्थात् इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का विवेक करानेवाला सांख्य, चित्त-वृत्तियों के निरोध का उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्म के अभेद का बोध करानेवाला वेदों का आरण्यक भाग (उपनिषद्) तथा भक्ति-भाग का प्रतिपादन करानेवाला पाञ्चरात्र-आगम—ये सब शास्त्र ही एक लक्ष्य के साधक होने के कारण एक बताए गए हैं। ये सब एक-दूसरे के अंग हैं। सारे कर्मों को भगवान् नारायण के चरणारविन्द में समर्पित कर देना यह ऐकान्तिक अस्तो का धर्म है।

तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठ के अनुसार सबने बसने और सबको अपने में बसानेवाले वासुदेव नाम से प्रसिद्ध परमात्मा ही भगवत् भगवान्) कहे जाते हैं। उनकी भक्ति करनेवाले भागवत कहे जाते हैं। किन्तु बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि भागवत और पाञ्चरात्र संप्रदायों में भेद था। वे दो पृथक् संप्रदाय समझे जाते थे। भागवत-धर्म का कई रूपों में विकास हुआ। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' के आधार पर डॉ० मुशीराम शर्मा का विचार है कि "वेदान्त मतानुयायी विष्णु और उनके चार सहयोगियों—अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध—की उपासना करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी।" नृसिंह, वराह और विष्णु की किमती ही गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। वे सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन कृत पाञ्चरात्र सिद्धान्त था। इसी आगम के अनुसार पाञ्चरात्र या पाञ्चरात्रिक कहलाते थे। वे वासुदेव, संकषण, ब्रह्मन् और अनिरुद्ध के रूप में वासुदेव की आराधना करते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे वैष्णविक कहलाते थे। नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार वैष्णविकों के दो भेद थे—(१) सुद्ध, जो केवल वासुदेव की ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे और (२) मिश्र, जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णु-स्वरूपी देवताओं (देवी शिव, काल, काला, पार्वती, उरुत्कती, ब्रह्मणी, इन्द्राणी आदि) को जानते थे। सभी-सभी कहीं संशय एक में भिन्न नहीं। वाक्य के अन्त में पाञ्चरात्र और जगन्नाथ में दो मोटे भेद रह गए थे। जाने चलकर ये सब केवल 'जगन्नाथ' नाम के पुकारे जाने लगे और इनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गए। ऐसा कि पहले अध्ययन में विवेक किया जा चुका है, वेद में प्रथिमा-पूजा का

विधान नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों और भागवतों में प्रतिकूलता रही। कूर्मपुराण में स्पष्ट है—

वा वेदवाह्यं पुण्यं पुण्यलेखोऽपि शकरः ।

सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदादि विर्ययौ ॥ १४।११५ ॥

कूर्मपुराण में पाञ्चरात्रों को वेदवाह्य तथा पुण्यवाह्य कहा गया है। पराशर-पुराण, बसिष्ठ-संहिता, सूत-संहिता, अचलायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को अवैदिक मानते हैं। इनके विपरीत महाभारत, भागवत, बिष्णु-पुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ३३५) से ज्ञात होता है कि नागयण ने नारद को जो तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है, उसमें पाञ्चरात्र के विशिष्ट मत आए हैं। भगवान ने कहा है कि “जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नहीं, जो आत्मा प्राणिमात्र में साक्षी-रूप से रहता है, जो चीबीस तत्त्वों से परे पञ्चीसवाँ पुरुष है, जो निष्कर्म होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं।” वही सर्वव्यापक है। प्रलयकाल में पृथ्वी जल में लीन होती है, जल अग्नि में, अग्नि (तेज) वायु में, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त प्रकृति में और अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवाय कुछ भी नहीं रहता। पञ्चमहाभूतों का शरीर बनता है और उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरंत प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महासमर्थ है और शेष संकर्षण उसके नाम हैं। इस संकर्षण से जो मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व यानी जीवन-मुक्तता पा सकता है और प्रलयकाल में जिसमें सभी भूतों का लय होता है, उस मन को प्रद्युम्न कहते हैं। इस मन से कर्त्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति है तथा इससे चराचर जगत का निर्माण होता है, इसलिए इसे अनिष्ट कहते हैं। इसी को ईशान भी कहते हैं। संवर्णों से व्यक्त होनेवाला अर्हकार यही है। निगुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव-जीव-रूप में अवतीर्ण होता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से जो अन्न-रूप में अवतार होता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वही अनिष्ट है और वही अर्हकार और ईश्वर है।

पाञ्चरात्र मत का यही सबसे विशिष्ट सिद्धान्त है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिष्ट का श्रीकृष्ण के चरित्र से अति घनिष्ठ संबंध है।

इसलिए श्रीकृष्ण के श्रक्तों में उनके लिए पूज्य-भक्ति का होना स्वाभाविक ही है । इसी कारण पाञ्चरात्र मत में उन नामों का समावेश हुआ होगा ।

“वासुदेव की सरल व्याख्या वसुदेव का पुत्र वासुदेव है । परन्तु पाञ्चरात्र मत में उसकी व्याख्या और ही हुई है । ऐसी ही व्याख्या सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की भी निकाल सकना सम्भव है । महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० २८०) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने मूर्त स्वरूप लिया तथापि वह उभाधि-वर्णों से विरुद्ध था, बद्ध नहीं था । इसी से इसे अनिरुद्ध कहते हैं । सहज ही इसी अर्थ में यानी जीव, मन और अहंकार के अर्थ में शब्द माने गए हैं । चतुर्भूह की यह कल्पना वेदान्त, साख्य या योग के मतों से भिन्न है और पाञ्चरात्र मत की स्वतंत्र है ।”

सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से अपना तादात्म्य दिखाते हुए महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० ३३९) में नारायण नारद श्रे कहते हैं—“असिका ज्ञान निरुक्त से होता है, वह हिरण्यगर्भ है । जगज्जनक, चतुर्वक्त्र ब्रह्मादेव मेरी आज्ञा से सब काम करता है और मेरे ही कोप से रूढ़ हुआ है । पहले जब मैंने ब्रह्मादेव को पंदा किया तब उसे ऐसा वर दिया कि जब तू सृष्टि उत्पन्न करेगा, तब मुझे पर्यायवाची अहंकार नाम मिलेगा और जो कोई वर-प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करेगा, उन्हें तुमसे ही वर-प्राप्ति होगी । देवकार्य के लिए मैं हमेशा अवतार लूँगा, तब तू मुझे पिता के तुल्य आज्ञा कर । मैं ही सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का अवतार लेता हूँ और अनिरुद्ध के नामि-कमल से ब्रह्मादेव का अवतार होता है ।”

वैदिकों की धारणा भागवत-धर्म के संबंध में अनुकूल नहीं रही है । इसमें मूर्ति-पूजा, उससे संबंधित नाना प्रकार के विधि-विधान, वैदिक विधान के विपरीत समझे जाते रहे हैं । विक्रम संवत् के आरम्भ से पाँच सो वर्ष पूर्व अर्थात् पाणिनि के समय में भी इसका प्रचार था । पाणिनि के ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके समय में वासुदेव, सकर्षण, महाराज (कुबेर), विष्णु, शिव आदि की मूर्तियाँ बनती थी और मंदिरों का भी निर्माण होता था । इसका कारण यह था कि वैदिक धर्म ज्ञान, कर्म और भक्ति की पावन त्रिवेणी है ।

यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना सभी साधनों के द्वारा मानव के सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त करता है। भागवत धर्म इसके विपरीत नागायण, वामदेव, हृगि अथवा कृष्ण नाम के भागवान में एकान्त निठा रखने और सर्वतोभेद न तत्परायण बनने की आज्ञा देता है। उसने भक्ति को प्रमुखता दी है। इस आधार पर कुछ विद्वान भागवत धर्म को वेद का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं।

जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने हिंसापूर्ण यज्ञों के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न की और वे यज्ञ के साथ वेद तथा सृष्टि-रचयिता ईश्वर से भी दूर हो गए। भागवतों ने इन दोनों का साथ नहीं छोड़ा। अहिंसा को अपनाने तथा हिंसापूर्ण यज्ञ के विरोध के कारण आरम्भ में उनकी नोक-झोंक वैदिकों से भले ही चलती रही हो, परन्तु बाद में समझौता करके उन्होंने वैदिकों के साथ मेल-जोल रखा। भागवत-धर्म के समर्थक मान्य ग्रन्थों में वेद की प्रशंसा भरी-पड़ी है। भागवत-धर्म ने जैन-बौद्धों की अहिंसा के साथ समस्त वर्णों की अभेदता को अपनाया। इसने शूद्र, वैश्य, स्त्री आदि उन समस्त वर्गों को आश्वासन दिया, जिन्हें वैदिक धर्म के अधिष्ठाता ब्राह्मण-धर्म ने यज्ञादि कर्मों के अधिकार से वंचित कर दिया था। भागवत-धर्म की अपनी विशेषता थी, 'हिंसे' मन्त्रों के लिए विहित घोषित करके इसने जनता के हृदय में स्थान पा लिया। जन-द्रोह होने के कारण तथा जनमत को स्वीकार करने के कारण इसे लोकधर्म या लोक-तन्त्र कहा गया है। भागवत-धर्म का आस्तिकवाद अपनी आन्तरिक रूपरेखा में विषुद्ध वैदिक आस्तिकवाद है और ईश्वर को सृष्टि-रचयिता के रूप में स्वीकार करता है। भारतवर्ष में भागवत-धर्म के व्यापक प्रचार का यही कारण है। बौद्धधर्म के अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने के साथ-साथ मोक्ष में भगवान के अवतार के रूप में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना कर पूजा करने के पलस्वरु कालान्तर में भागवत-धर्म बौद्धधर्म को आत्मसात् करने में समर्थ हुआ।

अपने समन्वयवादी व्यवहार के परिणाम-स्वरूप अनेक संप्रदायों को अपने साथ ले चलने का श्रेय पाश्चात्य संप्रदाय को ही प्राप्त है। पाश्चात्य के अनुयायी वैष्णवों ने अपनी इसी उदार भावना के कारण वेद-ब्राह्म, देशी विदेशी सभी व्यक्तियों को अपने अंक में आश्रय दिया। वैष्णव-संप्रदाय की यह नीति परवर्ती युगों में भी दिखाई देती है। मुसलमान-काल में चैतन्य महाप्रभु ने अचन हरिदास को अपना अभिन्न साथी बनाया और रहीम, रसखान सदृश

अनेक मुसलमान अपने को वैष्णव कहने लगे। आचार्य रामानन्द ने तो वैष्णव धर्म के मार्ग को प्रशस्त कर दिया और आचार्य वल्लभ ने तो अपने अनुयायियों के लिए जातिगत विभेद-भावना को प्रश्वस्य नहीं दिया।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, पाञ्चरात्र-साहित्य मेरुगिरि-निवासी चित्र शिल्पिणी नामक पात ऋषियों द्वारा निर्मित माना जाता है। इन सात ऋषियों में मरीचि का नाम सर्वप्रथम आता है। इसी मरीचि ऋषि ने वैखानस-आगम की रचना की। अतः इन दोनों आगमों में काफ़ी समता है। दोनों आर्यभ नारायण को परम देवता मानते हैं। मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-पूजन की पद्धतियाँ भी दोनों में लगभग एक ही प्रकार की हैं। किन्तु एक विशेषता वैखानस-आगम की यह है कि वह वैदिकों से अधिक मेल खाता है। इसने वैदिक और पाञ्चरात्र पूजा-विधि का समन्वय किया है। इसके अनुसार भक्त को चाहिए कि वह अग्नि में नित्य होम करने के बाद घर में या मन्दिर में अक्षिपुष्प नारायण विष्णु भगवान को नित्य अर्चना या आराधना करे। यह आराधना दो प्रकार की है—अमूर्त और मूर्त। अग्नि में जो हुवन किया जाता है, वह अमूर्त है, वैदिक है। प्रतिमा का अर्पण करना मूर्त आराधना है। इस प्रकार यह वैखानस तपस्वी गुरुओं का संप्रदाय कहा जा सकता है, जिसने वैदिक-यज्ञों को भग नहीं हाने दिया।

अतः पाञ्चरात्र और वैखानस मत के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि इन मतों की एक प्रमुख विशेषता मन्दिर-निर्माण और देव-चित्र की पूजा-पद्धति है, जिसे सामान्यतया मूर्ति पूजा कहा जा सकता है। मूर्ति पूजा विदेशी नहीं, इसी देश के मस्तिष्क की उपज है।

पञ्चवां परिच्छेद शाक्तमत और प्रतीक-पूजा

भारतीय धर्म-वर्चा में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सर्वोच्च देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः ये त्रिदेव ब्रह्म के त्रिगुणात्मक रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा सृजनमूलक रूप के प्रतीक हैं। वे देश और काल के अन्तर्गत होने-वाली चिरन्तन सृजन-प्रक्रिया के व्यञ्जन हैं। विष्णु सपोषण के अधिष्ठाता देवता हैं तथा शिव द्वारा विघटन और संपोषण की क्रियाएँ होती रहती हैं; और सृजन-प्रक्रिया के द्वारा इन आत्यन्तिक विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय की सम्पना की जाती है। संपोषण और विघटन के पारस्परिक तनाव के फल-स्वरूप एक विश्वतःपीय ऊर्जा का स्फुरण होता है। यही ऊर्जा शक्ति है। इसे ही कमलम्बा, जगद्धात्री, जगन्माता तथा अन्य नामों से पुकारा जाता है।

शक्ति ब्रह्म का ही प्रकाशित रूप है। निगुण और निर्बिकार ब्रह्म शक्ति के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। इसी शक्ति को ब्रह्ममयी भी कहा गया है। शक्ति ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। जब शक्ति की निर्बाध धारा निगुण और निर्बिकार ब्रह्म को आवृत करती हुई उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, तभी संसार में सृजन, पोषण और संहार की क्रियाओं का समापन होता है। शक्ति की धारणा यह बताती है कि क्रिया-रहित ज्ञान मृत ज्ञान है। महामाया से ही सम्स्त सृष्टि-व्यापार का उदय हुआ है और वे ही ब्रह्माण्ड का आदिभूत कारण हैं। महाशक्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव की विशिष्ट शक्तियों के रूप में प्रकीर्ण करती हैं। वे महामाया हैं; क्योंकि वे ब्रह्म-रूप शिव को अपने आवरणों में छिपाए हुए हैं। महानिद्रा-मग्न शिव शक्ति से युक्त होने पर ही सक्रिय होते हैं।

शिव चिरन्तन रूप में निष्क्रिय होते हैं। चरम निष्क्रियता ही शिव का मूलभूत स्वभाव है। इसलिए वामाचार-सूत्रों में शक्ति-रूपा नारी को शिव-रूप पर रमण करते हुए प्रदर्शित किया गया है। शिवा शिव-रूप शिव पर नृत्य करती और मुक्ति प्रदान करती हैं।

ईश्वर को माता या नारी के रूप में कल्पित करने की धारणा वेदों में नहीं मिलती। किन्तु प्रागैतिहासिक तथा आदिम जातियों के जर्मों में ईश्वर की

कल्पना मातृ-रूप में की गई है। पुराण-युग शक्ति की धारणा के बहुमुखी विकास का युग है। इसी युग में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विशिष्ट शक्तियों के रूप का वर्णन आरम्भ होता है। विष्णु की शक्ति के रूप में वे जगद्धात्री के रूप में लीला करती हैं। शिव के साथ वे ज्ञान की शक्ति के रूप में संयुक्त हैं। देवीभागवत-पुराण में देवों के दो रूपों का आख्यान दिया गया है। ऋषि 'देवी' के निगुण और सगुण रूपों की वर्णा करते हैं। सगुण के श्री दो भेद हैं—(१) निराकार और (२) साकार। ऋषि बताते हैं कि आसक्त जनों की देवों के सगुण-साकार स्वरूप की भक्ति करनी चाहिए और अनासक्त लोगों को उनके निगुण-निराकार रूप की उपासना करनी चाहिए।

भारतीय चिन्तनधारा वैदिक एवं पौराणिक संप्रदायों (मत-धर्म) में नाम-भेद के अतिरिक्त एक-से ही रंग में प्रवाहित होते दृष्टिगोचर होती है। तथ्य यह है कि शक्ति का जहाँ प्राधान्य उभर पाया, वहाँ शाक्त धर्म या शाक्त शास्त्र प्रकाश में आ गया है और जहाँ समाज में शिव या विष्णु को प्रधानता दी गई, वहाँ शैव अथवा वैष्णव मत प्रचलित हो गया। यदि नाम-भेद के चक्कर में न पड़ा जाय तो मूल में सभी देव रूपा और धर्मशास्त्रों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एकमेव दिखाई देता है। कहा भी है—

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना बहुधा व्यवहारकाले ।

पुरुषेषु विष्णुर्भोगे भवानी समरे च दुर्गा प्रलये च काली ॥

मातेश्वरी शक्ति परमेश्वर की उन प्रधान शक्तियों में से एक है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है। वही पुरुषों में पुरुषोत्तम विष्णु हैं, भोग में भवानी, युद्ध में दुर्गा और प्रलय में रूपकाली हैं।

ऋग्वेद (मण्डल १०, अध्याय १०, सूक्त १२५।१) में भगवती कहती हैं—

अहं सर्वेभिर्यसुभिश्चराम्यहमादित्यैस्त विश्वदेवैः ।

अहं मित्रावरुणोमा बिभर्म्यहमित्राग्निं अहमदिव्योमा ॥

अर्थात् मैं वायुदेवी रुद्रगण और वसुगण के साथ विश्वरूप करती हूँ। मैं आदित्यगण तथा अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण की चारण करनेवाली और इन्द्र, अग्नि, अदिविद्य का आश्रय करनेवाली हूँ।

ऋग्वेद में सरस्वती को वाक्-शक्ति एवं लक्ष्मी को सोभाग्य देवी एवं पूजनीय माना गया है ।

उपासना के लिए ईश्वर को एक निश्चित रूप और भाव से देखना आवश्यक है, परन्तु इतने से ही उपासना पूरी नहीं हो जाती, वरन् भाव स्थिर करने पर ही उपासना का आरम्भ होता है । उसकी समाप्ति तो तब होती है जब भाव की परिपक्वता में वह सबंध प्रत्यक्ष हो जाता है और उपास्य और उपासक के बीच में जो माया का आवरण है, वह दूर हो जाता है ।

उपासक को तो ईश्वर को अपने भावनानुकूल सांघे में ढालना ही पड़ता है, उसे स्वयं भी नवीन आदर्श में ढलकर चाँदीस घटे व्यवहार कर्त्तृ पड़ता है । उदाहरणार्थ स्वामी-भाव को लीजिए । ईश्वर जब स्वामी हुआ तब उपासक को सेवक बनना पड़ता । आदर्श सेवकों में हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि के नाम गिनाए जाते हैं । उपासक को बराबर यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उसका जीवन अपने लिए नहीं, स्त्री, पुत्र, धन, जन, शरीर—कुछ भी उसके लिए नहीं है । संक्षेप में उसे सभी सासारिक मोह-ममताओं से विगत होना पड़ता है । इसके बिना दास का भाव सिद्ध नहीं हो सकता । ऐसा यह भव्य, किन्तु दुर्गम-दुरूह सेवा-मार्ग है ।

उपासना के लिए ईश्वर को पिता के रूप में देखने में अधिक तरलता और कोमलता है । किन्तु, यहाँ भी कर्त्तव्य-भार बड़ा ही दुबंहरा है । पुत्र में सेवक की कर्त्तव्यपरायणता तो होनी ही चाहिए, साथ साथ उसमें प्रेम का विशेष छुट भी होना चाहिए ।

ईश्वर को सखा समझना क्षुद्र मनुष्य के लिए बड़ा ही दुस्तर है । यदि हृदय पूर्णरूपेण उसे नहीं दिया जा सके तो सखा-भाव होगा ही नहीं ।

और मयुरभाव ? एक किशोरी के शीशव का पवित्र हृदय नवीन स्फुरण से फड़कता हुआ जिस प्रकार एक योग्य पात्र को पाकर उसको चिरकाल के लिए बरण करता है और वह अपना रस-रिस, सुख-दुःख, मान-अपमान सब उसके हाथों में सौंप देती है, उसी प्रकार भगवान को अपना सर्वस्व, जीवनधन तथा प्रियतम जान और मानकर उसके साथ लगन लगा लेना जिन भावुक भक्त शिरोमणियों के लिए सम्भव हो वे इस पंथ पर फँस रह सकते हैं, दूसरे नहीं । पहले दर्जे की

उपासक, प्रियतम (भगवान) के चरणों में निवेदन और आत्मविस्मृति में ही। यह भाव पैदा होता है और इसी में परिपूर्णता पाता है।

परन्तु संसार में एक ऐसा भी सबब है, जो किसी प्रकार का जोड़ना-तोड़ना, जानना-मानना नहीं जानता। वह स्वतः प्रमाण है। वह है माता और संतान का सबब। यह सबब इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि सतान अपनी माता को जाने और माने। किस शिशु की इस बात का ज्ञान रहता है कि माता-जो कोई वस्तु है। माता क्या इस बात की राह देखती है कि बच्चा मुझे माता समझे और माँ-माँ कहकर संबोधन करे तो मैं उसे स्तन-पान कराऊँ ? मातृ सबब के आगे संसार के सभी सबब गौण हैं; उनमें कृत्रिमता है। मातृभाव में बड़ा सहज, सुनभ एव मौलिक दूसरा भाव मातृ-दय में अनभव है।

माता के रूप में उपासना करनेवाले उपासक का जगज्जननी, माता की तरह सब प्रकार से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आश्रयताओं का निःशय योग-क्षेम करती रहती है। संसार-सागर में पड़ा उसका पुत्र जिस समय अज्ञान और मोह के बशीभूत होकर हिताहित नहीं जान पाता और मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में ही अपना भ्रुवार्थ मानता है, जिस समय विषय-बाहणी पीकर वह उन्मत्त होकर वेद-गुण, आगम-निगम, ऋषि-देवता किसी की ओर आँख उठाकर देखना नहीं चाहता और केवल क्षणिक सुख-चाँ के लिए व्यग्र हो मारा-मारा फिरता है, उस समय उसके हृदय में धीरे धीरे मोक्ष, परम शान्ति एवं ऐकान्तिक सुख की खोज का बीज बूँत देती है और उसे सोने-जागते, गेने-हँसते, खाते-बेलते—सभी समयों में धीरे-धीरे, किन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, परम कल्याण-पथ पर ऊँची पकड़-पकड़कर चलाने का अभ्यास करा देती है। इस अज्ञानावस्था में भी वह माता है और हम उनकी सतान हैं, वह स्वयं इस सबब का ज्ञान करा देती हैं। हम उनकी सतान हैं और वह हमारी माता हैं, इस ज्ञान के हो जाने पर इस संबंध में, उसके व्यवहार में कोई भेद नहीं होता, भेद होता है हमारे लिए। हमारी माँ हमारे पास खड़ी स्वयं हमको परम पद पर ले जाने की तैयार है—इस ज्ञान से एक अपूर्व आनन्द, अत्यन्त निर्भरता एवं अनुपम प्रेम-प्रवाह का संचार भक्त के मन में होने लगता है। संसार-सागर में नाता विषय जब उसे पीड़ित करते हैं, तब वह रो उठता

है, किन्तु अब वह माता की ओर अर्ध उठाकर रोता है और कङ्कामयी जगद्धात्री माता तत्काल उसे गोद में ले उसको सात्वता देकर शान्त कर देती है। शक्ति की आत्म-निवेदनवाली अन्तिम दशा यहाँ आप-ही-आप उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि यहाँ तो यह भाव है—

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्याम तदपि च न जाने स्तुतिकथा ।
न जाने मूत्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम्
पर जाने आतस्त्वदनुसरणं श्लेशहरणम् ।

सृष्टि की उत्पत्ति-पालन-विनाश-कर्त्री शक्ति की मातृरूप में कल्पना मानव-हृदय की भावुकता एवं उसके मस्तिष्क की भावना का सबसे सुन्दर और मधुर नमूना है, इसमें संदेह नहीं। जिसके गर्भ से हम पैदा होते हैं, जिसके दिए हुए अमृत-रस का आस्वादन कर आनन्द और जीवन-लाभ करते हैं और चौबीसो घंटे जिसकी गोद में क्रीड़ा करते हैं, कभी उतरने का नाम नहीं लेने, उसको 'माँ' कहकर पुकारने से बढ़कर और क्या सहज एवं मर्मरपर्शी हो सकता है। वह आदिशक्ति माता है और हम उसके बच्चे हैं। वह जगज्जननी है, जगन्मयी है, जगदानन्दकारिणी है। शक्ति इसी भाव का, इसी रूपा का, इसी रंग का भूषा है और यह शाक्त धर्म की विशेषता और असाधारणता है।

“हमारी समस्त शक्ति माँ का आत्म-प्रकाश है। अपनी शक्ति के पृथक् अस्तित्व को भूलकर माँ के निकट पूर्ण आत्म-निवेदन कर, हमें अपने पृथक् अस्तित्व का लोप कर देना होगा। माँ शरणागत संतान के समस्त अभाव को दूर कर, उसके भीतर अपनी शक्ति का संचार कर अर्थात् संतान को संपूर्णतया मातृमय कर पुरुषोत्तम की पूजा करने की योग्यता प्रदान करती है। साधक यहाँ पर तत्त्व का आस्वादन करने में समर्थ होता है।

शक्ति-तत्त्व परमात्म-भाव का, सगुण ब्रह्म का स्रोतक है। परमात्मा किस प्रकार शुन्य तत्त्व भेदकर जीव को पूणता-लाभ कराने में सहायक होते हैं, वे किस प्रकार सब प्रयोजन सिद्ध कर जीव को पूणता दान करने में व्यस्त हैं, शाक्त तत्त्व द्वारा, मातृभाव द्वारा साधक को इस रहस्य का आस्वादन करने का सुयोग मिलता है।” साधक की कामना रहती है—

1. पूजातत्त्व म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

द्रष्टुमिच्छामि ते कथं वेद्मि ते दिव्यवर्णनम् ।

कस्तुमिच्छामि ते त्रिवं भूतार्गा हितसाधनम् ॥

अतः “व्यापकता, प्रभाव एवं सुगमता के कारण देवों की अपेक्षा शक्ति की उपासना लोक में विशेष फलवती मानी गई है। शक्तिमान देश भी स्वैः स्वशक्ति से संचालित तथा सामर्थ्य-युक्त होते हैं। अंकुर में बोज, अग्नि में ज्वाला, तरलत्व में जल, आकाश में अवकाश, घृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्—सभी नारियाँ हैं तथा प्रकारान्तर से बराबर में सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्ति को जानकर उसकी उपासना से उसे सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है। मातृदेवी-भाव के प्रधान संकेत ‘न मातुः परं दैवतम्’ में मातृशक्ति तथा देवी के सबश्रेष्ठ देवता होने का निदेश भी किया गया है। इसी धारणा के कारण सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्वाभाविक पराशक्ति को शाक्त संप्रदाय में उपास्य परम देवता माना जाता है। परम तत्त्व का पुंलिंग, नृसक लिंग साथ ही स्त्रीलिंग में भी निदेश प्राप्त है। यथा—

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां

बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः । (इवेत० उपनिषद् ४।५)

अर्थात् आदिशक्ति अजा एक है। उसके लोहित, शुक्ल और कृष्ण रूप से ही विविध प्रकार की सृष्टि हुई है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति या भूतेर्मिथ्यजायता एतद् तत् ॥

(कठ उप० २।१।७)

जो देवतामयी अदिति प्राणरूप में प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहां में प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतों के साथ प्रकट हुई है, उन्हें देवों। निश्चय वही यह तत्त्व है।”

ऐश्वर्य, पराक्रम तथा ज्ञान प्रदान करने के साथ ही महाशक्ति अपने भक्तों के बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं का नाश कर उन्हें आपत्तियों से विमुक्त कर देती है। इसीलिए भारत में सर्वत्र देवों की उपासना की जाती है। इस भौतिक एवं अर्थ-लोलुप युग के कारण उत्पन्न अनास्था में भी भारत के प्रत्येक

१. शाक्त संप्रदाय पं० रामप्यारे जी मिश्र

(‘कल्याण’, उपासना-अंक, १९६८)

भाग में बिखरे हुए प्रख्यात एक सी आठ 'देवीधाम' तथा इक्यावन 'शक्ति-पीठ' ऐसे हैं, जहाँ शक्तिगण नित्य देवी की उपासना करते हैं।

सती के शरीर के कटिभाग से ऊपर के भाग जहाँ गिरे, वे स्थान दक्षिण-मार्ग की उपासना के लिए और जहाँ कटि के निम्न भाग गिरे, वे स्थान वाम-मार्ग की उपासना के लिए विशेष पलप्रद माने जाते हैं।

भारत के धार्मिक इतिवृत्त में यह बात स्पष्ट है कि शाक्तमत का संगठित रूप देवीभागवत-महापुराण की छाया में ही प्रगति कर पाया था। शक्ति की महिमा १८ महापुराणों में प्रकारान्तर में आई है, पर शैव और शाक्त पुराणों ने इस संप्रदाय के विकास-प्रचार में अद्भुत सहयोग दिया था।

देवीभागवत-पुराण में उस परब्रह्म परमात्मा का देवी के नाम से ही उल्लेख किया गया है। विज्ञानानन्दघोष ब्रह्म का तत्त्व अति सूक्ष्म और गुह्य होने के कारण शास्त्रों में उसे नाना प्रकार से समझाया गया है। अतः देवी के नाम से परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने में भी परमपद की प्राप्ति होती है। उसी एक ही परम तत्त्व की निगुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम रूपों में भक्त लोग उपासना करते हैं। जो मनुष्य तत्त्व-रहस्य को जानकर शास्त्रों और महाकृषों के बतलाए हुए मार्ग के अनुसार निष्काम भाव में उपासना करते हैं, उन सभी साधकों को उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है।

पुराण-मर्मज्ञों की यह भी मान्यता रही है कि देवीभागवत-पुराण तंत्रा-नुसारी है, अर्थात् इसमें तंत्र का प्रचुर भाव सन्निहित है। शाक्तों ने देवी-भागवत के आधार पर अपने तन्त्रात्मक साहित्य का इतना विस्तार किया है कि उनकी कृतियाँ भी शास्त्र बन गई हैं। देवीभागवत में प्रकृति या शक्ति की प्रधानता बख्साई गई है, और यह मान्यता प्रकट की गई है कि एतद् भुवन की नियन्त्रण-अधिष्ठात्री विश्वमोहिनी महाशक्ति अतन्यमयी ब्रह्मरूपा हैं। भारतीय वाङ्मय के तत्त्व-विज्ञान के अनुसार साधक, महाशक्ति को मन्त्र-बद्ध में भी अपने शरीर के अन्तर्बर्ती ब्रह्मरन्ध्र में साधन कर प्राप्त कर सकता है।

शक्ति को ही संपूर्ण जगत की आत्मा और चेतन एवं अचेतन जगत का कारण कहा गया है—

एवेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदेवमयस्य च ।
 योऽसौ सोऽहं योऽसौ भेदोऽस्ति जतिविभ्रमात् ॥
 अन्योऽन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः ।
 विभुस्तः स तु संसारान्मुच्यते नाम सखयः ॥
 एकमेव द्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम् । (देवीभागवत, ३।६)

अर्थात् (देवी ने कहा—) ब्रह्म एक ही है । मुझमें और इन ब्रह्म में कभी-कचिन्मात्र भी भेद नहीं है, जो वे हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वे हैं । बुद्धि के भ्रम से भेद प्रतीत हो रहा है । हमलों के सूक्ष्म भेद को जो जानता है, वही बुद्धिमान रूप है । उसके ससार-सागर से मुक्त होने में कुछ भी सदेह नहीं है । ब्रह्म नित्य, सनातन और एक ही है ।

शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से नाना नामों की उपाधि देकर शक्ति की महिमा को प्रकाशित किया है । देवीभागवत में निगुण शक्ति का आद्या-शक्ति से स्मरण किया गया है । यथा—

सगुणा निगुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
 सगुणाः रागिभिः सेव्या निगुणा तु विरागिभिः ॥

अर्थात् पराशक्ति देवी को मनीषिगण साकार-निराकार-भेद से दो स्वरूपों में पाते हैं । ससार में आसक्त साधक जन देवी के सगुण-भाव को और निर्मल ज्ञान एवं विवेकी जन देवी के निगुण-भाव को अपनाकर आराधना करते हैं । इस भावना का ही दर्शन कूर्मपुराण के १२व अध्याय में मिला है । यथा—

अमन्तं प्रकृती लीनं देव्यास्तत्परमं पदम् ।
 शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निगुणं देव्यवजितम् ॥
 आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत्परमं पदम् ।

अर्थात् प्रकृति में लीन अनन्त शक्ति के उस मगल-रूप के परम तत्त्व को, देवी के अतीव निर्मल, दोष-रहित निगुण, निरजन स्वरूप को शुद्ध, पवित्र विमल चित्तवाले ही प्राप्त करते हैं ।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
 नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

इस प्रकार शक्ति की मातृ-उपासना का रूप भी अत्यन्त प्राचीन है । आरम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी । इसके अतिरिक्त,

शिवर एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे। कतिपय विद्वानों का तो यह भी मत है कि शक्ति-पूजा का विकास बौद्धधर्म के माध्यम से ही संपन्न हुआ था। बौद्धधर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री-देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के द्वारा आदिमाता एवं बुद्ध माता के रूप में स्त्री-देवता की पूजा की जाती थी। आदिमाता समस्त तयागतों की माता समझी जाती थी। इसके अलावा नेपाली बौद्धधर्म के अन्तर्गत हमें शाक्ततंत्र की तरह देवी के कुमारी, माता आदि अनेक रूप मिलते हैं। हमारे शक्ति-उपासक वैदिक विद्वान तो मानते हैं कि भगवान का यह 'शक्ति-रूप' भी अनादि है और अनादिकाल से ही शक्ति की उपासना प्रचलित है।

शाक्त, द्रौत आदि स्वतंत्र संप्रदायों में तो महाशक्ति की पूजा प्रचलित रही ही है। शाक्त वेदान्त जैसे विरक्त संप्रदाय में भी षोडशी-त्रिपुराघ्न की पद्धति है। गायत्री के रूप में ये ही उपास्य हैं। इनकी उपासना-पद्धति के प्रदर्शन के लिए संस्कृत-वाङ्मय में बड़ी भारी साहित्य-राशि, पद्धति, कथा-निरूपक आदि अनेक प्रकार हैं। पर देवीभागवत में ये एक साथ उपलब्ध हैं। साथ ही कालिका-पुराण, त्रिपुराणहृदय आदि कथा-ग्रन्थों में यही सर्वोत्तम है। इसकी कथाएँ बड़ी ललित हैं और भाषा बड़ी ही सरल है। गायत्री पर जितना विषद विचार तथा पञ्चाङ्गादि का समिधि निरूपण एवं अनुष्ठान-प्रकार इसमें वर्णित है, उतना अन्यत्र नहीं।

शाक्तमत के पौराणिक साहित्य में देवीभागवत पर नीलकण्ठ की टीका एवं प्रस्तावना और इसी महापुराण का देवीगीता-प्रकरण, माकण्डेय-पुराण की देवी-सप्तशती या देवी-माहात्म्य, ब्रह्माण्ड-पुराण के द्वितीय भाग का ललित-रहस्य (३२० श्लोकों का प्रकरण) और उपपुराणों में कालिका एवं सूत-संहिता के यज्ञ-वैभव खण्ड के ४७वें अध्याय का शक्ति-स्तोत्र महत्त्वपूर्ण अष्ट वाङ्मय हैं। देवी-शक्ति के मत पर यत्र-तत्र-साहित्य में काश्मीर के पण्डितों की कृतियाँ, दक्षिणात्य विद्वानों के अद्भुत ग्रन्थ एवं बड़ौदा-बंगाल की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

शिवपुराण के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि जो लोग वैदिक मार्ग-अष्ट हैं, जिनको वैदिक मार्ग में अधिकार नहीं है, वे ही तत्रोक्त धर्म का आचरण करें, तत्रोक्त पूजादि करें। श्रुतिपथ-निरत मनुष्य के लिए वेदोदित पूजा ही कर्तव्य है।

अग्निपुराण में कहा गया है कि विष्णु की तीन प्रकार की उपासना-पद्धति—
वैदिक, तांत्रिक तथा मिश्र—है। यथा—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्बे त्रिविधो मयः ।

श्रीमद्भागवत (११।२७।७) में श्री भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मयः ।

त्रयाभासीष्मिन्तेनैव बिबिधा यां समर्चयेत् ॥

अर्थात् मेरे मय (यज्ञ, पूजा, उपासना-पद्धति) वैदिक, तांत्रिक और मिश्र—
तीन प्रकार के हैं। इनमें से यथाभिलषित विधि के द्वारा मनुष्य अपने अधिकार
और श्रद्धा के अनुसार मेरी पूजा करे।

उपयुक्त कथन से स्पष्ट है कि तांत्रिक पूजा वैदिक पूजा नहीं है; या तो
शुद्ध तांत्रिक है या कोई-कोई मिश्रित है।

देवीभागवत (७।३९।२६-२७; ३१-३२) का ही हवाला देते हुए कुछ
वेदार्थों का कथन है कि श्रुति और स्मृति के विरुद्ध जो अन्याय विधि का
है, वे सभी तन्मय शास्त्र हैं।

अन्वाग्निं वाग्निं शास्त्रानि लोकेऽस्मिन् बिबिधानि च ।

श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तान्नाम्नोऽपि सर्वथाः ॥

वाग्निं कपालकं त्रैलोक्यं कौलकं शैलकं शैलकं शैलकं ॥

सिन्धुना मोहनाद्यां प्रणीतो नाम्यहेतुकः ॥

× × ×

तत्र वेदा विरुद्धोऽतोऽप्यस्त एव कश्चित् कश्चित् ।

वैदिकस्तद् ग्रहे दोषो न मयस्येव कश्चित् ॥

सर्वथा वेदमिन्नाम्नो नाधिकारी द्विजो भवेत् ।

वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तन्नाधिकारवान् ॥

अर्थात् यहाँ पर श्रुति और स्मृति के विरुद्ध अन्याय शास्त्रों को तामस
कतलाते हुए कहा है गया कि शिव ने वामाश्वार-तंत्र, कपाल-तंत्र, कौल-तंत्र,
शैल-तंत्र आदि तंत्र-ग्रन्थों को मोहित करने के लिए हो रचे।

अतः तंत्रशास्त्र में जहाँ-जहाँ वेद से अविरुद्ध अंश हैं, वेदमार्गानुसारो लोगों
के लिए उन अंशों का ग्रहण किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु द्विजगण
वेद-विरुद्ध अंश ग्रहण करने के संबंध में अनधिकारी हैं। यह जानना चाहिए कि
जिनका वेदों में अधिकार नहीं है, वे ही केवल तंत्र के अधिकारी हैं।

देवीभागवत-पुराण से ही (११।१।२५-२६) स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि नागद के प्रश्न पर विष्णु ने कहा कि वेद-विरुद्ध तत्र किसी भाव से ग्राह्य नहीं है। एकमात्र वेद ही धर्म के मुख्य प्रमाण हैं। देवीभागवत में कहा भी है—

वेदाविरोधी चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशय ।

प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धं यत् तत् प्रमाण भवेन्न च ॥

सर्वथा वेद एवासी धर्ममार्गप्रमाणकः ।

तेनाविरुद्धं यत् किञ्चित् तत् प्रमाणं न चान्यथा ॥

सूत संहिता में बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की पूजा का वर्णन है। पुन वेदिकी और तान्त्रिकी भेद से बाह्य पूजा भी विविध कही गई है। स्मृत-संहिता में वेदिकी पूजा से वेद और वेदमूलक स्मृति पुराणादि के द्वारा प्रतिपादित पूजा का और तान्त्रिकी पूजा से वेद निग्लेक्ष (स्वतन्त्र) शिवोक्त आगम स्मृतिप्रसिद्ध पूजा लक्ष्य है।

“स्मृत-संहिता और उसकी माधवाचार्य-कृत तात्पर्यदीपिका नाम्नी व्याख्या पढ़ने में ज्ञात होता है कि जो लोग तन्त्रोक्त दीक्षा द्वारा संस्कृत हैं, वे वेदिकी पूजा के अधिकारी हैं। केवल शक्ति-पूजादि का ही नहीं, अपितु शिव, विष्णु, विनायक आदि की पूजा के भी वेदिक और तान्त्रिक द्विविध विभाग के अनुसार प्रकार-भेद है। जो व्यक्ति जिस मार्ग का अधिकारी है, उसके लिए उसी मार्ग के अनुसार पूजा करना उचित है, स्वमार्ग के अतिक्रमण की श्रुति और बाद में श्रीमद्भगवद्गीता ने सिन्दा की है।”

किन्तु अनेक शास्त्रों का कथन है कि “आस्तिक हिन्दुओं को इस बात की खबर ही नहीं है कि वे जिस धर्म के अनुयायी हैं, उसकी रचना आगमशास्त्र (शाक्त धर्म) के पुनीत सिद्धान्तों पर ही हुई है। इसी अज्ञान के कारण वह पवित्र शास्त्र (धर्म) इस पृथ्वी से धीरे-धीरे तिरोहित होता गया। भूतकाल में अहिंसावादी जैनो और बौद्धों के प्रबल पड़ जाने पर वेदों के साथ-साथ इसके भी विनाश का उपक्रम दिन-दिन बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि हिन्दुओं की एक विशाल सख्या ने उक्त दोनों वेद-विरोधी धर्मों के अभाव में पड़कर अहिंसा-धर्म को ग्रहण किया। इस प्रकार स्वयं हिन्दू ही वेद के साथ-साथ अपने इस युग विशेष के वेद के भी विनाश के कारण हुए।”

1. श्री शंकरमीर जी

2. बसोवियर शुक्ल आभ्युदय, पृ० ३-४

किन्तु शुक्ल जी के इस विचार से कि शाक्तमत वेद-प्रतिपादित रहा है और अहिंसा के मूलमूल जो वैष्णव-भाग का प्रचार हुआ, वह अवदिक है, मैं अमहमत हूँ। शुक्ल जी का यह भी कथन कि याज्ञिक बलि-प्रथा वेद-विहित थी और वैष्णव-धर्म, जो पूर्णतया अहिंसक और बलि-प्रथा का विरोधी है, वैदिक प्रणाली का अस्त करने का साधन हुआ, सबथा निराधार है। वैदिक यज्ञ-प्रथा मूलतः अहिंसक थी और कालान्तर में वेद-यज्ञ के अर्थ का मनमाने ढंग से प्रचार कर बलि-प्रथा को प्रथम दिया गया। पाञ्चरात्र-धर्म की प्रतिष्ठा तक श्रीकृष्ण ने स्वयं अहिंसा को परम धर्म कहा। यथा—

प्राणिनां हि बधस्तात सर्वं व्याप्यन् मतो मयः ।

अमृतां च बधेत् वाचं न च हिंस्यात् कथञ्चन ॥

॥ (महा० कर्ण-पर्व २३।६६)

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में अहिंसा की उत्पत्ति जैनों तथा बौद्धों से मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है; क्योंकि इस सिद्धान्त का उदय ब्राह्मण-धर्म के भीतर ही हुआ। प्रो० बलदेव उपाध्याय का यह भी विचार है कि "नितान्ते वैदिक भागवत-धर्म ने ही सर्वप्रथम अहिंसा-सिद्धान्त का आरम्भ किया।" जो हो, यह अत्यन्त विवादप्रस्त विषय है कि अहिंसा-धर्म का आरम्भ बौद्ध और जैन सिद्धांतों के प्रचार से हुआ या इन दोनों धर्मों ने अहिंसा-सिद्धान्त को विशेष रूप से प्रगति दी।

तत्रप्रश्न, जा शाक्त-संप्रदाय के आधार है, सवाह-रूप में है। जिनमें वक्ता का स्थान शिव ने और श्रोता का पार्वती ने ग्रहण किया है, वे आगम कहलाते हैं और जिनमें वक्ता का स्थान पार्वती ने और श्रोता का शिव ने ग्रहण किया है, वे निगम कहलाते हैं। डामरो, यामलों के वक्ता अकेले शिव हैं, और उपसंनतमो वने ऋषिप्री की रचनाएँ हैं।

तत्रधर्मानुयायी आगम, निगम और डामर-यामल की श्रेणी के ग्रन्थों को ईश-वाक्य मानते हैं और वेदों के समान ही उन्हें पूज्य समझते हैं। इन मुख्य ग्रन्थों में युग-विशेष के धर्म का उद्देश्य किया गया है। जिला है—“कलिदोष के कारण द्विज लोग पशुप्राशयिक का बिचार नहीं करेये ॥ वैतण्ड्य वैदिक कृत्यी द्वारा मुक्ति-लाभ करने में समर्थ नहीं होगे। ऐसी स्थिति में स्मृतिर्मा और संहिताय मनुष्य-प्राप्ति। कौं कल्याण की और नहीं मिलेगी। हे प्रिये! मैं तुमसे

१. प्रो० उपाध्याय बंजव धर्म, अर्थात् परिच्छिन्नः ॥

सत्य कहता हूँ कि कलिकाल में आगम-सम्मत धर्म को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है । .. अब वैदिक निर्विष सर्प के सदृश शक्तिहीन हो गए हैं । जो व्यक्ति कलिकाल में दूसरे धर्म-ग्रन्थों के अनुसार अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मूर्ख है । व्यास में पीड़ित होकर वह गंगा की बालू में कुँआ सोदना चाहता है । इस युग में तत्रोक्त मन्त्र ही शीघ्र फलप्रद है ।

“किन्तु अज्ञानवश एव अन्य कारणों से साधारण आस्तिक हिन्दू तंत्रशास्त्र के महत्त्व को नहीं स्वीकार करते । यही नहीं, कोई-कोई तो उनका विरोध तथा निन्दा करते हैं । परन्तु उनका ऐसा करना उचित नहीं है; क्योंकि आस्तिक हिन्दू किसी-न-किसी देवता का उपासक होता ही है । यदि वह शिव, वैष्णव या शाक्त आदि है तो अपने इष्टदेवों की यथाशक्ति षोडशोपचार से पूजा करता ही होगा । ऐसी दशा में वह तंत्रशास्त्र की कैसे उपेक्षा कर सकता है ?

“वस्तुतः तंत्रशास्त्र सार्वजनिक और सार्वदेशिक शास्त्र है । इसमें वीरों, मायों, वैष्णवों आदि सभी भिन्न-भिन्न संप्रदायों की उपासका विधियों का वर्णन है और यह अपौरुषेय शास्त्र संपूर्ण आस्तिक हिन्दू-समाज पर आज भी अपना प्रभाव डाले हुए है । वाममार्ग ऐसे ही शास्त्र का एक आचार है । यही नहीं, यह उसका एक महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि उस शास्त्र में उपासना की सिद्धि का केन्द्र माना गया है ।”

शाक्त, वाम (वाममार्गी) और कौल तो जगज्जननी के उपासक, माता के पुजारी होते हैं । वह माता ऐसी-वैसी नहीं है । वह है त्रैलोक्य-जननी, विष्वक्भरी, कृपा-सागरा और सच्चिदानन्द-रूपिणी । वह है भक्त-वत्सला और पुत्ररूपी बत्स के लिए अमृतरस-दायिनी कामदूहा । वह एक ओर अपने संसार-सागर में डूबते हुए पुत्रों को अमोघ वाणी से उत्साहित करती है, तो दूसरी ओर वर-प्रदान के लिए सर्वदा उन्मुक्तहस्त खड़ी रहती है, इसीलिए उनका नाम है जगत्सारिणी ।

“आदिशक्ति महामाया के जितने रूप शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, वे दो कोटियों में रले जा सकते हैं । यहाँ उन्हें अम्बी मयूर और उग्र के नाम से कहा जाएगा । मयूर रूप में उसे लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, सीता एवं राधा आदि तथा उग्र रूप में प्रभयः काली, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी, दुर्गा आदि प्रसिद्ध हैं । त्रिपुरासुन्दरी

और षोडशी का रूप दिव्य सौन्दर्य और मायुर्ग की परिसीमा होने पर भी, उप्रतायुक्त है। उसमें कोमलता और लावण्य का प्राधान्य नहीं हो सकता है। मातृ-उपासना के मस्तानो ने मधुर रूप को गीण स्थान दिया है और उग्र रूपों की भक्ति-भावना में अपने को मिटा दिया है—यह बड़ा विचित्र है। पर उसमें एक रहस्य है।

“परन्तु इस रहस्य की चर्चा करने के पहले इस प्रकार के रूपों के अवतार-क्रम पर दृष्टि डालनी होगी। दोनों प्रकार के रूप उसी आदिशक्ति सच्चिदानन्द-रूपा महामाया के हैं। दोनों ही उसकी विभूतियों के उत्कृष्टतम प्रकाश हैं। दोनों ही उसी अनादि आद्या के निज इच्छा-निर्मित तनु हैं। किन्तु दोनों के आविर्भाव क्रम में भेद है। लक्ष्मी, सरस्वती एवं पावती त्रिदेवों की शक्तियाँ हैं। उनका आविर्भाव उन त्रिदेवों को कर्तृत्व-प्रदानार्थ हुआ है। यही बात सीता और राधा के अवतारों के लिए भी ठीक है। भगवान राम और श्रीकृष्ण की लीला को सर्वांगीणता देने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ था। साध्य के शब्दों में यदि कहना चाह तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आनन्द के लिए, अपनी लीला करने का अवसर देने के लिए, अपना भाण्डार खोलकर उसके सहायतार्थ आप भी आ खड़ी हुई थी। इसे अधिक सीधी निरलंकारिक भाषा में इस प्रकार कहा जाएगा—पुरुष, महापुरुष या पुरुषोत्तम की इच्छा हुई संसार में आने की। यहाँ आकर सारानुकूल लीला या आनन्द बढ़ाने की। अतएव उसने सर्वशक्तियों की अधिष्ठात्री महामाया का स्मरण किया, उसकी सहायता के लिए आह्वान किया। इस आह्वान को सुनकर उसको पूरा करने के लिए उसने यथावत् अपनी लीला का विस्तार किया।

“परन्तु इधर की बात दूसरी है। अग्निपुत्रों ने पुकारा माँ ! दौड़ो, रक्षा करो, और उसके आगे तत्काल आ खड़ी हुई। किस हेतु ? अपने इच्छानुसार लीला करने के लिए ? नहीं, पुत्रों की इच्छा के लिए, उनका पालन-पोषण करने के लिए। यह कार्य सपन्न कर पुत्रों को फिर अभय-मन्त्र सुनाती हुई चली गई।

“अतः पहले में महामाया के अवतार का कारण हुआ है सृष्टि-लीला-विस्तार हेतु पुरुषोत्तम की इच्छा। दूसरे का कारण है सृष्टि-जाल के कठोर बंधन से उत्पीड़ित निस्सहाय आत्माओं की विस्तार-कामना। फलतः भव-व्याधि से छूटने की इच्छा रखनेवाले उपासकों ने दूसरी श्रेणी के रूपों में ही अपनी इच्छा को फलवती करनेवाली कृष्ण-शिव सर्वांगीण मातृमूर्ति का दर्शन

पाया। यह सहज ही देखा जा सकता है कि इन मुर और उग्र रूपों का क्या भेद है। मुर का पुरुष की लीलाप्रियता-जनित है। उग्र रूप पुरुष की भवभय से विमुक्ति होने की आकांक्षाजनित है। पहला पुरुष की “एकोहं बहु स्याम्” भावना का फल है, दूसरा, “नेह नामास्ति किञ्चन” की भावना में उन आत्मस्थ होने की इच्छा का। एक ससार-लीला-विस्तारार्थ है, दूसरा संसार-लीला सवरणार्थ।”

“महाभारत-युद्ध के बाद से बौद्धधर्म के प्रारम्भ होने के पहले तक अर्थात् कोई दो हजार वर्ष तक भारतवर्ष में तन्त्रधर्म का प्राबल्य रहा। तन्त्रग्रन्थों के बचनों से प्रकट होता है कि किसी समय भारत तीन क्रान्तों में विभक्त था। ये तीन क्रान्त—विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त और अश्वक्रान्त के नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्वोत्तरीय भाग विष्णुक्रान्त, पश्चिमोत्तरीय रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिणी भाग अश्वक्रान्त था। इन क्रान्तों की सीमा में आज के ईरान, अफगानिस्तान, तिब्बत, ब्रह्मदेश, जावा आदि देश आ जाते हैं। मतलब यह है कि समस्त पूर्वी एवं दक्षिणी एशिया में तान्त्रिक साधना का बहुत अधिक प्रचार था। इस भौगोलिक देश-विभाजन का केन्द्र विन्ध्याचल का पूर्वी सिरा—कराची नदी—माना गया था। तत्र ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र है।

“ब्रह्मोपासना से लेकर क्षुद्रदेवोपासना तक की साधना-विधि तन्त्रशास्त्र में बताई गई है। हठयोग से लेकर नाम-स्तवन तक की उसमें व्याख्या दी गई है। उसमें पूजा-विधि, भूतों का वर्गीकरण, खगोल, लोक, नरको तथा स्त्रियों का वर्णन, युगधर्म, आश्रमधर्म, सस्कार, देव-मूर्ति-प्रतिष्ठा, मन्त्र यन्त्र, नुद्रा-क्रिया, साधनक्रम, आन्तर एवं बाह्य उपासना-विधि, गृह-वापी तथा कूप की प्रतिष्ठा, वृक्षारोपण, तीर्थ-कथन, पुरश्चरण-विधि, जप-विधि, व्रत, षट्कर्म उत्सव, ध्यान-योग, राजधर्म, धर्मशास्त्र, औषधि-क्रिया, साधारण विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषयों का समावेश है। अतएव तन्त्रशास्त्र सार्वदेशिक शास्त्र है। उसका उपदेश मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए किया गया है।”

शाक्तमत का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद-सिद्धि है। तान्त्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे। इस प्रकार शाक्तमत अद्वैतवाद का साधन-मार्ग है। शाक्तों की

1. श्री रामाचरण : मातृ-उपासना

2. बंसीधर शर्मा : वाममार्ग

प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे साधक की यह धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योस्मि ब्रह्मं बाह न शोकमाक् ।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

अर्थात् मैं ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं ही सच्चिदानन्द-रूप हूँ ।

तांत्रिक आचार अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। तांत्रिक पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः यह गुप्त रखी जाती है।

शाक्तमत के तीन भाव—पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—तथा सात आचार बनाए गए हैं। शाक्तमत के मान्य ग्रन्थ 'कुलार्णव' में सात आचारों के नाम श्रेणी के साथ दिए गए हैं। ये हैं—(१) वैशाचार, (२) वैष्णवाचार, (३) शैवाचार, (४) दक्षिणाचार, (५) वामाचार, (६) सिद्धान्ताचार और (७) कौलाचार। एक मत के अनुसार इनके अतिरिक्त अधोराचार तथा योगाचार भी हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्यचरण। जिसमें अविद्या के कारण अद्वैत-ज्ञान लेशमात्र भी नहीं है, उस भाव को पशुभाव कहा है; क्योंकि ऐसे लोग पशु के सदृश अज्ञान में पड़े हुए हैं। जो साधक अज्ञान-रज्जु को काटने में कुछ भी कृतकार्य हो चुके हैं, उनका भाव वीरभाव हो जाता है। वीरभाव उद्योग का द्योतक है, किन्तु अद्वैतानन्द का आस्वादन करनेवालों का दिव्य भाव हो जाता है। आचारों में प्रथम चार पशुभाव के साधक के लिए हैं। वामाचार तथा सिद्धान्ताचार केवल वीरभाव के साधक के लिए हैं। सर्वश्रेष्ठ आचार कौलाचार है, जो पूर्ण अद्वैतवाद से विभूषित दिव्य साधक के लिए है। प्रत्येक साधक को भिन्न-भिन्न श्रेणियों को पार करके अंत में कौल की स्थिति प्राप्त करनी होती है।

१. वैशाचार के साधक को वैदिक नित्य-कर्म करने पड़ते हैं। इसके सिवा सभी दूसरे आचार सम्मिलित रहते हैं। धर्म की दृढ़ता के इस आचार में बाह्य और कर्मपरक पूजा करनी पड़ती है। यह आचार कर्मकाण्ड-प्रधान है।

२. वैष्णवाचार का साधक अंधविश्वास से निकलकर ब्रह्म की इच्छा-शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है। यह भक्ति-प्रधान है।

३. शैवाचार में धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के भाव से साधक प्रवेश करता है। उसमें भक्ति और अन्तर्लक्ष्य का मेल होता है। यह ज्ञान-प्रधान है।

४. दक्षिणाचार में ब्रह्म की क्रिया, इच्छा और ज्ञान-शक्तियों की ध्यान-धारणा की जाती है। साधक गुणत्रय के संबंध का अनुभव करता है और पूर्णाभिषेक की स्थिति प्राप्त करता है। इसी स्थिति में साधक दीक्षा ग्रहण कर वामाचार का अधिकारी होता है। उपयुक्त चार आचारों को पार करने पर ही साधक इस स्थिति को प्राप्त करता है, किन्तु यदि किसी साधक का जन्म वामाचारी वंश में हुआ है, तो वह पूर्ण रूप से वाम-मार्ग का अधिकारी समझा जाता है; क्योंकि वह अपने पहले के जन्मों में प्रारम्भिक आचारों को पूर्ण कर चुका है।

५. वामाचार में प्रवेश करने पर निवृत्ति-मार्ग ग्रहण होता है। इस मार्ग में प्रवृत्ति की शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग किया जाता है कि वह अपने-आप विनष्ट हो जाय। इसमें केवल खाने-पीने और भोग की इच्छाओं का ही दमन नहीं किया जाता, बल्कि साधक को आठ पाश तोड़ने पड़ते हैं। इस प्रकार वह शिवत्व का प्राप्त करता है।

परन्तु साधक को देवता की पूजा करने का तभी अधिकार प्राप्त होता है, जब वह पञ्चशुद्धि—(१) भूत-शुद्धि, (२) आत्म-शुद्धि, (३) स्थान-शुद्धि, (४) मंत्र-शुद्धि और (५) देवता-शुद्धि—करता है। स्नान भूत-शुद्धि है। प्राणायाम, षडंगादिन्यास करना आत्म-शुद्धि है। पूजागृह को स्वच्छ रखना और उसे फूल-मालाओं से अलंकृत रखना तथा सुवासित करना स्थान-शुद्धि है। मूलमंत्र को मिलाकर मातृका-मंत्र का अनुलोम-विलोम जप करना मंत्रशुद्धि है। मूलमंत्र और अस्त्रमंत्र से अभिमंत्रित जल को पूजा-द्रव्यों पर छिड़ककर और उनको धेनु-मुद्रा दिखाकर उन्हें अमृतमय बनाना द्रव्यशुद्धि है। देवताओं को उपयुक्त पीठ पर स्थापित कर प्राणमंत्र से उनकी शक्ति का आह्वान कर उन्हें मूलमंत्र से तीन बार स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहनाकर धूप-दीप से पूजन करना देवता-शुद्धि है।

ऐसे ही साधक वाममार्गी होते हैं और उनकी अर्चना में प्रसिद्ध पञ्चमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—का उपयोग होता है। इन पञ्चमकारों का उपयोग एकमात्र चक्राचिन् में ही माना गया है, अन्यत्र नहीं। इसका अधिकारी केवल पूर्णाभिषिक्त साधक ही होता है। इतर साधक इनका संग्रह करने के अधिकारी नहीं माने गए हैं। इस दृष्टि से पञ्चमकार का उपयोग एकमात्र ज्ञान-प्राप्त साधकों के लिए ही विहित है।

ऊपर के पञ्चमकार का विधान साधारण लोगों को भले ही भयंकर प्रतीत हो, पर तांत्रिक दृष्टि से इसका उद्देश्य रहस्यपूर्ण है। वास्तव में मद्य, मांस

आदि पाँचों वस्तुएँ प्रलोभन की वस्तुएँ हैं । यदि साधक इनके प्रलोभन में नहीं पड़ता तो उसका मार्ग सुगम होता है और वह परमानन्द को प्राप्त करता है । किसी साधक के लिए यह कोई हँसी-खेल का काम नहीं है कि सम्मुख एक नवयौवना सुन्दरी बैठी हो और वह उसकी भगवती के रूप में अचल भाव से पूजा करे । भगवती को अर्पण करने के बाद वह मद्यपान भी करता है, पर मदोन्मत्त होने के लिए नहीं, बल्कि एकाग्रचित्त होकर अपने इष्ट पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए । वह मांस, मत्स्य तथा अन्य सुस्वादु भोजन-सामग्री (मुद्रा) भी खाता है; पर इसलिए नहीं कि ये स्वादिष्ट पदार्थ हैं, बल्कि धर्म-कार्यार्थ अपना शरीर पुष्ट बनाए रखने के लिए । पञ्चमकार के संग्रह का वस्तुतः यही उद्देश्य है । तांत्रिक साधक इन आनन्ददायक पदार्थों के द्वारा ईश्वर का सालिष्य प्राप्त करने को यत्नवान् होता है । ऐसी दशा में अपने मनोभावी को दबाना पड़ता है और उन भोगों को इष्ट-सिद्धि का साधन बनाना पड़ता है । कितना दुर्धर्म कार्य है, कितनी विकट साधना है । यह अपने-आप स्पष्ट है ।^१

अतः तत्र का महत्त्व उसकी साधना-विधि में है । यह विधि न तो केवल उपासना या पूजा है, न प्रायना, न इष्ट के आगे अपना दुखड़ा रोना है और न अपने कर्मों के लिए पश्चात्ताप करना है । यह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है । यह साधना शरीर के भीतर पुरुष-तत्त्व तथा मातृ-तत्त्व का संयोग कराती है—सगुण को निर्गुण करने का प्रयत्न करती है । तांत्रिक साधना का उद्देश्य है अपने-आप को विराट् में मिलाना । तांत्रिक उपासना की चरम सीमा कौलाचार अवस्था है । इसमें कर्दम (कीच) और चदन, मित्र और शत्रु, गृह और इमशान, स्वर्ण और मिट्टी में भेद नहीं रह जाता है । यही गीता की गुणातीत अवस्था प्राप्त करने पर ही साधक उस विराट् में मिलने में समर्थ होता है । भाव-ब्रह्ममणि-तत्र में कहा है—

कर्दमे चन्दनेर्जम्बिने पुत्रे शत्रौ यथा प्रिये ।

इमशाने मयने देवी तर्षणे काञ्चने तुषे ॥

न भेदो यस्य देवेभिः स कौलः परिकीर्तितः ।

इस प्रकार तन्त्रशास्त्र का साधन तलवार की धार के सदृश है । साधक तनिक भी फिसला कि अधोगति को प्राप्त हुआ ।

३. नाम भाव : शंतीचर श्रुत

प्रायः सभी वाममार्गी साधनाओं में कार्य-साधना को आधार माना गया है। अपने से बाहर किसी प्रकार की मिद्धि अथवा परमार्थ को ढूँढ़ना अनावश्यक है। शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ है। इसी में गंगा, यमुना और गंगा सागर हैं। इसी में प्रयाग, चाराणसी, सूर्य और चन्द्रमा हैं। सभी कुछ इसी में है। कहीं बाहर भटकना व्यर्थ है। इसी शरीर में सारा विश्व समाया हुआ है। इस आधार पर हिन्दू तन्त्रवादियों ने शिव और शक्ति का निवास शरीर के अंदर माना है। शिव का वास सहस्रार-चक्र में है और शक्ति मूलाधार में अवस्थित है। शक्ति कुंडलिनी (सर्पिणी) के आकार में कुंडली मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इस कुंडलिनी-शक्ति को चेतन कर ऊपर सहस्रार-चक्र की ओर प्रेरित किया जाता है। साधना की सफलता इसी शिव और शक्ति, पुरुष और स्त्री-तत्त्व के मयोग पर निर्भर करती है। मूलाधार और सहस्रार-चक्र क्रमशः शक्ति और शिव के प्रतीक मान लिए गए हैं। सभी मुख्य साधनाओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि विश्व के सभी प्राणियों का विभाजन पुरुष और स्त्री-रूप में प्रायः मनुष्य-शरीर में इसी विशेषता का प्रतिफल है। साधना की पूर्णता का सच्चा अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष और नारी का पूर्ण सम्मिलन हो। अन्तर्जगत की नारी और पुरुष-शक्तियों के मिलन से जिस पूर्णता और महामुख की कल्पना की गई है, उसी का बहिर्जगत में भी व्यवहार करने के कारण पञ्चमकार वाले वाममार्ग की स्थापना हुई।¹

किन्तु आज शाक्तधर्म पञ्चमकार के दुरुपयोग से बदनाम हो गया है। अनेक कामुक पुरुष शाक्तधर्म की आड़ में अपनी कामवृत्ति की साधना कर अपने को धर्माचारी प्रदर्शित करते हैं। 'कुलार्णव' में स्पष्ट कह दिया गया है कि "अनेक लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि मद्यपान आदि से आत्मा पवित्र होती है। ऐसा समझना मरासर भूल है। यदि ऐसा होता तो सारे मद्यपान करनेवाले ब्रह्मज्ञानी हो जाते। यदि मैथुन-मात्र से मोक्ष सुलभ हो सकता तो उसकी उपलब्धि सभी के लिए एक साधारण बात हो गई होती। व्यर्थ का मद्यपान घोर पाप है, यहाँ तक कि उसकी गंध आ जाने से द्विजों को पाप लगता है। अतएव द्विजों को सभी प्रकार के मद्यों से दूर रहना चाहिए। यदि कभी धोखे से मद्य पर निगाह पड़ जाए तो सूर्य का दशन कर लेना चाहिए, और

यदि थोड़े से उसकी शंख तक पहुँच जाए तो प्राणायाम करके उसका प्रभिक्षित करना चाहिए ।”

‘कुलाण्व’ के निम्न अवतरण से और भी स्पष्ट हो जाता है कि मद्यगान स्वयं तंत्रों में वर्जित है । उसमें उसका विधान केवल चक्रार्थ में ही है और वह भी पूर्ण अभिषिक्त (कोलाचार) के लिए ही है ।

कौलजाने ह्यसिद्धो यस्तद् द्रव्यं भोक्तुमिच्छति ।

स महापातकी ज्ञेयः सवधर्मबहिष्कृतः ॥

मद्यासक्तो न पूजार्थी मांसाक्षी स्त्रीनिषेवकः ।

कौलोपदेशहीनो यः सोऽश्वयं नरकं व्रजेत् ॥

स्वेच्छया रमणो यो वै दीक्षासंस्कारवर्जितः ।

न तस्य सद्गतिः कापि तपस्तीर्थव्रतादिभिः ॥

असंस्कृतं पिबेद् द्रव्यं बलात्कारेण संयुतम् ।

स्वतुष्ट्यं साधयेन्मास रौरव नरकं व्रजेत् ॥

अर्थात् जो व्यक्ति कौल-ज्ञान से रहित है और कौलों के लिए निर्दिष्ट पदार्थों के उद्भोग को इच्छा करता है, उसे महापापी समझना और धार्मिक कामों में दूर रखना चाहिए । जो व्यक्ति पूजा करने की इच्छा नहीं करता है, किन्तु मद्यगान, मास-भक्षण और स्त्री-भोग में आसक्त है, ऐसा कौल-दीक्षा से रहित व्यक्ति नरक को गमन करता है । जो अदीक्षित व्यक्ति मनमाने ढंग से मद्यादि के भोगों में लिप्त है, वह लाख तप, तीर्थ, यात्रा, व्रतादि करने से भी सद्गति को नहीं प्राप्त होगा । जो व्यक्ति असंस्कृत मद्य का पान करता है, बलपूर्वक स्त्री-संभोग करता है और अपनी तृप्ति के लिए पशुवध करता है, वह रौरव नरक को प्राप्त होता है ।

आगे चलकर ‘कुलाण्व’ में और स्पष्ट रूप से वर्णन है—

मातृरूपां परित्यज्य स्त्रीरूपां शशितमाचरेत् ।

स याति नरकं घोरं जन्मकोटिशतानि च ॥

मन्त्रमाता च पुत्री च भगिनी च कुलाङ्गना ।

न रमेत् कौलिको नित्यमेताः सम्यक् समर्चयेत् ॥

अर्थात् जो साधक शक्ति को मातृ-रूप में ग्रहण कर स्त्री-रूप में ग्रहण करता है और तदनुसार उसके साथ व्यवहार करता है, वह सैकड़ों जन्मों तक और नरक को प्राप्त होता है ।

मंत्र देनेवाली माता, पुत्री, बहन और कुलांगना के साथ कौल-साधक कभी रमण न करे, उसे उनकी तो अच्छी तरह पूजा करनी चाहिए।

किन्तु तांत्रिक साधना में, जो शाक्तधर्म का आधार है, विकृति यहाँ तक आई कि तन्त्रमात्र को सात्त्विक समाज ने भर्त्सना की। शाक्तमत की अनेक बीभत्स क्रिया-साधनाओं को समाज ने ग्रहण नहीं किया। इसका कारण यही है कि छद्म साधको ने ही पञ्चमकारों को विशेषता दी, जिसके परिणाम-स्वरूप तन्त्र के विषय में अनेक भ्रम फैल गए और आज तन्त्र का नाम सुनते ही कितने ही लोग नाक-भी सिकोड़ने लगते हैं। तन्त्र के दार्शनिक विचार उदात्त तथा प्राञ्जल हैं, जिन्हें छद्म साधको ने अपने कलुषित व्यवहार से बदनाम कर दिया है। तन्त्र-मन्त्र के आचार्य आदि का कथन है कि उनकी साधना का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ, व्यष्टि की समष्टि के साथ अभेद-सिद्धि ही है। पर शाक्तों और वाममार्गियों के पञ्चमकार, स्त्री-पुरुष के रज वीर्य तथा शव आदि के षड्-विधि-अभिचार प्रयोगों के सिद्धान्तों की मान्यता के कारण उनकी पवित्रता को भारतीय एवं विदेशी विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

शाक्त संप्रदाय में वाममार्ग एवं तन्त्रों के प्रयोग से एक विचित्र परिवर्तन हो गया। शैवों की काली-उपासना रहस्यपूर्ण हो गई। शिव से पार्वती को विशेष महत्त्व मिल गया। बंगाल तथा असम की उपासना एवं नित्य के आचार सभी तन्त्रानुगामी हो गए। तांत्रिक उपासना से प्रभावित होने के कारण ही शैव तथा वैष्णव संप्रदाय भी दक्षिण तथा वाम-मार्गों में विभक्त हो गए। पौराणिक आधार पर दक्षिण-पथ तथा कौलिकों के तन्त्रशास्त्र के आधार को लेकर वाममार्ग की उपासना चल पड़ी। शाक्तों की अभिवृद्धि के कारण देवों की पूजा गौण हो गई। शक्तियों में काली, दुर्गा और जगदम्बिका की उपासना का महत्त्व बढ़ गया। मोह-ममता से विरक्त होकर महर्षि मेधा के उद्देश से समाधि ने देवी की आराधना कर, ज्ञान प्राप्त कर, मुक्ति प्राप्त की थी। साधारण जन इस मार्ग को भूल गए। राजा सुरथ की भाँति सभी लोग राज्य पाने तथा सार्वर्णिक मनु जैसे ऐश्वर्य-विशिष्ट बनने के लिए शक्ति-उपासना विशेष रूप से करने लगे।

शिव के शुक्ल वर्ण के अनुरूप उमा, गौरी, सरस्वती तथा लक्ष्मी जैसी गौर वर्ण की देवियाँ पूजा पाने लगीं। प्रायः सात्त्विक प्रवृत्ति के लोगों द्वारा इन देवियों का पूजन किया जाता है। शिव के कालरूप के कारण, जो कृष्णवर्णक

है, काली, वण्डी, दुर्गा तथा चामुण्डा कृष्णा या स्यामलाकृति की पूजा अवलित हुई। शिव के १००८ नामों के सदृश, रूप-गुणों में सदृश देवी के भी १००८ नाम रूपात हो गए।

शक्ति-उपासना में (१) काली, (२) तारा, (३) त्रिमुरा या षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) मातंगी, (९) कमला या कमलात्मिका और (१०) बगलामुखी—इन दस महाविद्याओं का अत्यन्त महत्त्व है। ब्रह्मव-वर्म के दशावतारों की भाँति इनमें से प्रत्येक के उपासक पृथक्-पृथक् हैं। इनकी भी पूजा गोपनीय मानी गई है। कहा है—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।

भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥

मातङ्गी सिद्धविद्या च कथिता बगलामुखी ।

एता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ॥

इनमें कुछ के नाम भिन्न हैं, किन्तु संख्या सर्वत्र दस ही है।

“काली की उपासना अवश्य ही शव, पञ्चमुण्डोपासना, रक्त-पान एवं बलि, विशेषतः सिंह-नर-बलि के कारण अत्यन्त भयानक हो गई है। असम एवं बंगाल मातृ-प्रधान प्रदेश हैं। वहाँ आज भी काली की उपासना में कुछ ऐसी विधियाँ चन्ती हैं, पर अति अमानवीय होने के कारण इन्हे सर्वस्वीकृति प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार पीडादायक शक्तियों—डाकिनी-शखिनी—की उपासना भी निम्नस्तर तक ही सीमित रह गई।”

शक्ति संप्रदाय में आश्विन, चैत्र, पौष और आषाढ़ के नवरात्रों, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (कालरात्रि), आश्विन-शुक्ल-चतुर्दशी (मोहरात्रि) और शिवरात्रि के पावन अवसरों पर देवी की विशेष पूजा की जाती है। वगीय सरस्वती-पूजा तथा दुर्गा-पूजा विशेष आकर्षक होती हैं।

तंत्र के तीन प्रधान विभाग हैं—(१) ब्राह्मण-तंत्र, (२) बौद्ध-तंत्र और (३) जैन तंत्र।

ब्राह्मण-तंत्र उपास्य देव की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार का है—(१) सौरतंत्र, (२) गाणपततंत्र, (३) वैष्णवतंत्र, (४) शैवतंत्र, (५) शाक्ततंत्र। इनमें प्रथम दो का प्रचार नगण्य है। वैष्णव और शैवतंत्र का प्रचार कुछ है। वास्तव में शाक्ततंत्र ही सर्वव्यापी है।

-
1. शाक्त संप्रदाय : पं० श्री रामप्यारे जी ('कल्याण' : उपासना-अंक, १६६८)

वैष्णवतंत्र—आजकल पाश्चरात्र ही वैष्णव भागमो का प्रतिनिधि माना जाता है। पाश्चरात्र का संबंध वेद की एकायन शाखा से है।

पाश्चरात्र तंत्र-विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन एवं विस्तृत है, परन्तु उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है।

पाश्चरात्र-संहिताओं के विषय चार हैं—(१) ज्ञान-ब्रह्म = जीव-तत्त्व तथा जगत के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन और सृष्टि-तत्त्व का विशेष निरूपण; (२) योग-मुक्ति के माधन भूतयोग तथा योग-सबन्धी प्रक्रियाओं का वर्णन; (३) क्रिया = देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सागोपाग वर्णन, (४) चर्या = आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यत्रों के पूजन का विस्तृत विवरण। वैष्णवतंत्र पूर्णतया वैदिक है।

शैवतंत्र—शैवतंत्र की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। कुछ विद्वान शैवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिकतंत्र वेदाधिकारियों के लिए माना गया है।

शैव सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में है। तमिल-सत्तो ने जिन शैवतंत्रों के तत्त्वों का प्रचार किया, वे शैव-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

काश्मीर में प्रचलित शैवागम को त्रिकुदर्शन के नाम से जानते हैं। इस अद्वैतवादी त्रिकुदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है।

इस प्रकार यद्यपि वैष्णव और शैव तंत्रों का भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रचार हुआ है, तथापि केवल शाक्त तान्त्रिकों में ही पञ्च-मकार की प्रधानता है। अतएव साधारण बोलचाल में तान्त्रिक से शाक्त तान्त्रिकों का ही बोध होता है।

शाक्तमत का प्रचार सारे भारत में है, किन्तु इसके पीठ उड़ीसा (उड़ीसा), जालंधर (पंजाब), श्रीशैल (आंध्र), कामाख्या (असम), कलकत्ता (५० बंगाल) आदि में मान्य हैं। काठमाण्डू (नेपाल) की गुह्येश्वरी देवी की गणना मुख्य पीठों में की जाती है।

छठा परिच्छेद

अवतारवाद और मूर्तिपूजा

अवतारवाद भागवत-धर्म की ही देन है। श्रीकृष्ण ने गीता में जितने निरावरण शब्दों में अवतारवाद का प्रतिपादन किया है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। पुराणों में जहाँ जहाँ अवतारवाद का उल्लेख है, वहाँ वहाँ गीता के शब्दों को ही दुहरा दिया गया है।

मत्स्य, कच्छ, वराह और वामन अवतारों का बीज हमें सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है, किन्तु वामन को छोड़कर आर किसी का संबंध ऋग्वेद से प्रदर्शित नहीं किया गया है। किन्तु वास्तव में वे कथाएँ अवतारवाद की पुष्टि नहीं करती हैं। वे आलंकारिक भाषा में सृष्टि-तत्त्व और उसके विकास का वर्णन करती हैं। मत्स्य-संबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड, अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में आई है। स्कंध में कथा इस प्रकार है—¹

एक दिन प्रातः काल जब मनु पानी में हाथ-पैर धो रहे थे, उस समय एक मछली उनके हाथ आ गई और बोली—“मेरा पोषण करो, मैं तुम्हें पार लगाऊँगी।” मनु ने पूछा कि वह किससे पार लगाएगी। मछली ने कहा—“यह जल-प्रवाह जब समस्त प्रजा को अन्यत्र बहाकर ले जाएगा, उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।” इसपर मनु ने पूछा—“तुम्हारा भरण-पोषण कैसे होगा?” मछली बोली—“जबतक जीव छोटा रहता है, उसको भय रहता है। अतः आप मुझे पहले एक बरतन में पानी भरकर उसमें डाल दें। जब मैं बड़ी हो जाऊँ, तब गड्ढा खोदकर और उसे पानी से भरकर मुझे उसमें छोड़ दें और जब उससे भी बड़ी हो जाऊँ तब समुद्र में छोड़ दें। वहाँ पहुँचकर मैं नाश करनेवालों से बच जाऊँगी। जब कालान्तर में प्रलय होगा तब आप नाव बनाकर मेरा ध्यान करें और नाव में चढ़ जायें।” मनु ने मछली द्वारा बताई गई तरकीब का अक्षरशः पालन किया और नाव बनाकर प्रलय के आने तक मछली के ध्यान में मग्न रहे। जल-प्रवाह उठने पर वह नाव में चढ़ गए और एक विशाल मछली नाव के पास पहुँच गई। मछली के अग्रभाग में नाव का

पाश अटक गया और मछली ने नाव को सुरक्षित उत्तरगिरि हिमालय से लगा दिया। जल-प्रलय में मनु को छोड़ सारे प्रजाजन का विनाश हो गया। तत्पश्चात् मनु ने तपस्या की और पुनः प्रजा की उत्पत्ति की।

मत्स्य-विषयक यह कथा वास्तव में ऐतिहासिक क्रम में घटित जल-प्रवाह की घटना से संबंध रखती है। इससे मिलती-जुलती कथा कुरान में (सुर ११ में) निम्न लिखित रूप में आई है।

“नूह की ओर वह” की गई कि जो लोग ईमान ला चुके हैं, उनके सिवा तुम्हारी जाति में अब कोई ईमान नहीं लाएगा, तो जो कुछ ये कर रहे हैं, उसके लिए तुम दुखी न हो, और हमारी निगाहों के सामने और हमारी वह के अनुसार एक नाव बनाओ और उन लोगों के बारे में, जिन्होंने जुल्म किया, मुझसे कुछ न कहना। निश्चय ही वे सब-के-सब डूबनेवाले हैं। नूह नाव बनाने लगा और जब कभी उसकी जाति के सरदार उसके पास से गुजरते, वे उसकी हँसी उड़ाते। इसपर नूह ने कहा—यदि तुम मुझपर हँसते हो तो हम भी तुमपर हँस रहे हैं। जल्दी तुम जान लोगे वह कौन है, जिसपर अजाब आता है। जब हुक्म आ गया और तनूर उबल पड़ा तब नाव में हर किस्म का (जानवरों में से नर और मादा) एक-एक जोड़ा चढ़ा लिया गया। जितने इंसान ईमानवाले थे, उन्हें भी नाव में जगह मिल गई। नूह ने कहा कि अल्लाह के नाम से नाव को चलना भी है और ठहरना भी है। निस्संदेह रूब (पालनकर्ता) बड़ा क्षमाशील और दयावान है। और नाव उन्हें लिए

1. यह सुर हजरत नूह से संबंध रखता है। बाइबल और कुरान में ईश्वर के अनेक दूतों (हजरत—prophets) का जिक्र आया है। इनमें हजरत आदम पहले थे और हजरत नूह दूसरे। हजरत नूह का वर्णन कुरान के सुर ७, १०, ११, २३, २५, २६, २९, ३७, ५४ और ७१ में आया है। इस प्रलय का जिक्र सुर ११ की आयत १२३ में आया है।
2. वह का अर्थ है आकाशवाणी, ईश्वरीय संदेश।
3. अर्थात् जब अल्लाह ने तुम्हारी हठधर्मी को देखकर तुम्हारे बारे में यही फैसला किया है कि तुम जिस डगर पर चलना चाहते हो, उसी पर मुझे सटकने के लिए छोड़ दिया जाएगा।

पहाड—जैसी ऊँची लहरों के बीच चलने लगी। नूह ने अपने बेटे को पुकारा—
‘हे मेरे प्यारे बेटे ! हमारे साथ सवार हो जा, तुम काफ़िरो के साथ मत रह ।’
बेटे ने कहा—‘मैं किसी पहाड की क्षरण से लेता हूँ, वह मुझे डूबने से बचा
लेगा ।’ नूह ने कहा—‘आज अल्लाह के हुक्म से कोई बचनेवाला नहीं है,
सिवाय उनके, जिनपर उसकी दया है ।’ इतने में लहर दोनों के बीच आ गई
और वह भी डूबनेवालों में हो गया । और फिर कहा गया (अल्लाह की ओर
से) —‘हे भूमि ! अपना पानी निगल जा और हे आकाश ! थम जा ।’ तो पानी
जमीन में बैठ गया और फंसला चुका दिया गया और वह नाव अल-जुदी
(नामक पर्वत) पर टिक गई ।’^१

अतः यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मत्स्य-संबंधी कथा, जो शतपथ-ब्राह्मण
में उल्लिखित है, वह जल-प्लावन की ऐतिहासिक घटना से संबद्ध है । इसी प्रकार
कूर्म-संबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड ७, अध्याय ५ के प्रथम ब्राह्मण में आई
है । कुछ रूपान्तर के साथ यह कथा जैमिनी-ब्राह्मण ३।२७२ में भी आई है ।
बराहवाली कथा शतपथ-ब्राह्मण १४।१।२।११, तैत्तिरीय संहिता ७।१।५।१
तथा वामनवाली कथा शतपथ के पंचम ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के द्वितीय
अध्याय में और तैत्तिरीय संहिता २।१।३।१ में आई है । इस संबंध में डॉ०
मुंशीराम शर्मा के इस विचार में हम सहमत हैं कि ये कथाएँ अवतारवाद के
पोषक नहीं हैं । इन कथाओं में अवतारवाद की गंध भी नहीं मिलती और शतपथ-
ब्राह्मण की मत्स्य, कूर्म, बराह और वामन संबंधी आख्यायिकाएँ अवतारवाद के
समर्थक नहीं हैं । विष्णु के अवतार का उल्लेख तो इन कथाओं में कहीं पर भी
नहीं है । प्रजापति परमात्मा जब सृष्टि की रचना करता है, तब इस सृष्टि का
रूप क्या होता है, इसे कूर्म और बराह की कथाओं द्वारा समझाया गया है ।

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने बड़ी ललित भाषा में अवतारवाद का समन्वय
विकासवाद के सिद्धान्त से किया है । “ब्राह्मण-ग्रन्थों की आख्यायिकाओं को
भागवत-धर्म की मान्यताओं के अनुकूल इस युग में विकासवाद की दृष्टि से भी
समझाने का प्रयास किया गया है । विकास में मानव की सृष्टि अन्य सभी

१. कुरान मजीद : हिन्दी-अनुवाद अरबी मूल ग्रन्थ के साथ, पृ० २३१-३२;

मकतबा अल-हसनात रामपुर, उ० प्र० द्वारा प्रकाशित ।

प्राणियों के पश्चात् हुई है। जल के बाद पृथ्वी निकली, तो प्राणत्व भी प्रथम जल के साथ ही संबधित रहा होगा। प्राणियों में मत्स्य जल का जीव है। वह स्थल पर नहीं रह सकता। जल में ही उसका जीवन निहित है। अतः पुरुष-रूप ब्रह्माण्ड के अवतार के पश्चात् प्राणी-जगत् का प्रथम जीव मत्स्य, प्राणत्व की दृष्टि से, सर्वप्रथम अवतार माना गया। मत्स्य के पश्चात् कूर्म आता है, जो जल और थल दोनों का जीव है। वह पानी में भी रहता है और पृथ्वी पर भी। अतः विकास की दृष्टि से यह अवतार की दूसरी कोटि में रखा गया। बगह विशुद्ध रूप से स्थल का प्राणी है, परन्तु कीचड़ से भी प्रेम रखता है। विकास के प्रथम स्तर का स्तह कुछ-न-कुछ इसके साथ भी चिपटा हुआ है। अतः इसे अवतारवाद की तीसरी कोटि में रखा गया। नरसिंह एक ओर पशुत्व का द्योतक है, तो दूसरी ओर मनुष्यत्व का। सिंह पशुओं का राजा है। पशुत्व का सर्वश्रेष्ठ अंश उसके अन्दर है और साथ-साथ नरसिंह-रूप में वह नरत्व की ओर झुका हुआ है। पाशव कोटि के ऊपर तथा नर-कोटि से संयुक्त नरसिंह का रूप विकास की दृष्टि से उत्तम माना जाना चाहिए। अतएव यह भी अवतारवाद की कोटि में सम्मिलित किया गया और इतिहास में कल्पना के आधार पर नरसिंह-अवतार की कहानी गढ़ ली गई, जो चमत्कारपूर्ण और कीतूहलवद्भक्त होने के साथ-साथ भगवद्भक्ति का उन्नयन करती है। इसके पश्चात् मानव के स्वरूप वामन जी आते हैं। वह अन्दर लघु एवं विशाल दोनों रूपों को छिपाए हुए हैं।

अवतार के स्वरूप के सबंध में भागवत-पुराण (११।४।३) में लिखा है

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुर विराजं विरचय्य तस्मिन् ।

स्वाशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥

अर्थात् भगवान ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच भूतों की अपने-आप में सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर, ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें लीला से अपने अंश अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करते हैं (भोक्ता-रूप से नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्य के फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदिदेव नारायण को पुरुष नाम से संबोधित करते हैं। यही उनका पहला अवतार है। इसी पुरुष से अन्य अवतारों का भी जन्म होता है।

अवतारों की चर्चा सभी पुराणों में तथा महाभारत में आई है; किन्तु अवतारों के नाम और संख्या सबकी विभिन्नता है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत-

पुराण में ही स्थल-स्थल पर विभिन्नता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों का वर्णन है। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में २३ और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतारों का उल्लेख है। किन्तु दशावतार की भावना सर्वमान्य रही है। महाभारत (शान्तिपर्व ३३९।७७-७८) से ज्ञात होता है कि नारद के यह पूछने पर कि महाप्रभो ! किन किन स्वरूपों में आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिए, भगवान् ने कहा—

भृगु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने ।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ॥

रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश ।

अर्थात् महामुनि नारद ! तुम मेरे अवतारों के नाम सुनो। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं।

किन्तु इसी अध्याय के १०३-४ श्लोको से ज्ञात होता है कि स्वयं नारायण ने दशावतारों की कोटि से बलराम को हटाकर 'हंस' का उल्लेख किया है। यथा—

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तमः ॥ १०३ ॥

वराहो नरसिंहश्च वामन राम एव च ।

रामो वाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किश्च च ॥ १०४ ॥

अर्थात् द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण तथा कल्कि—ये सब मेरे अवतार हैं।

किन्तु आज मत्स्यपुराण के अनुसार जो दशावतार सर्वमान्य हैं, उनमें न हंस है और न बलराम और उनके स्थान पर बुद्ध की 'गर्गना' अवतारों से की गई है। यथा—

कस्तुर्धर्मव्यवस्थानं सुराधीनं च प्रणाशनम् ।

बुद्धो नवमको जज्ञे सपसा पुष्करेक्षणः ॥

देवसुन्दरकलेन ह्युपायनपुरःसरं ॥ ४८।२४२

अर्थात् धर्म की रक्षा तथा असुरों के विनाशार्थं नवीं बार भगवान् बुद्ध, कमल के समान नेत्रवाले, देव-स्वरूप, ह्युपायन के पीरोहित्य-काल में उत्पन्न हुए।

श्रीमद्भागवत पुराण मे २० अवतारों का उल्लेख करने के बाद बुद्धावतार का उल्लेख आया है, जिसमे कहा गया है कि "उसके बाद कलिभुग के आ जाने पर मगध-देश (बिहार) मे देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र-रूप मे आपका बुद्धावतार होगा ।

तत कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विवाम् ।

बुद्धो नाम्नाजनमुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

इस प्रकार आदिदेव नारायण के अवतारों की सख्या सब पुराणों में एक समान नहीं है। अवतारों का वर्णन भी विशेषतः उन्हीं पुराणों मे है, जो भागवत-धर्म से विशेष रूप से प्रभावित है।

बुद्ध को अवतार-रूप मे मान्यता बहुत बाद की ज्ञात होती है और मत्स्य तथा भागवत-पुराण के अतिरिक्त बुद्ध का उल्लेख केवल अग्निपुराण (१६।४९) और पद्मपुराण (५।७३, ६।२५०) मे आया है।

अवतारवाद की भावना भागवत-धर्म की ही विशेषता है। अवतारवाद की मोहिनी शक्ति ने भागवत के अतिरिक्त कतिपय अन्य संप्रदायों को भी आकर्षित कर लिया है, जिसके परिणाम-स्वरूप बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के अनेक अवतारों का वर्णन किया। गोरख संप्रदायवाले गोरखनाथ को, कबीरपंथी कबीर को और सिक्ख गुरु नानक को अवतार मानते हैं।

श्रीमद्भागवत-पुराण की यह विशेषता रही है कि महात्मा बुद्ध तथा जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव अवतार की कोटि मे सम्मिलित हो गए हैं।

समस्त विश्व को भी प्रभु का अवतार माना जा सकता है, पर अवतार वस्तुतः दिव्य जन्म एव कर्म से संबंध रखता है। अतः विशिष्ट गुण-संपन्न व्यक्ति को अवतार-रूप में आदृत करने की प्रणाली प्रचलित हो चली और इस विचार की पुष्टि स्पष्ट रूप से श्रीमद्भागवत-पुराण मे और गीता मे आई हुई भगवद्वाणी से होती है। यथा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरे सत्त्वनिर्घोद्विजा ।

अथाविवांसिनः कुल्याः सरसाः स्युः सहस्रवतः ॥२६०॥

ऋषयो मनवो देवा मनुष्या महोवतः ।

कलाः सर्वे हरेरेव सत्त्वगुणस्तवस्तथा ॥२७॥

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

इन्द्रारिष्ठाकुलं लोकं मृदयन्ति हि युगे युगे ॥२८॥

अर्थात् भगवान् विष्णु ने शीनकावि ऋषियों से कहा—जैसे अकाम्ब, करोड़ों से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान्, श्रीकृष्ण के असंख्य अवतार हुआ करते हैं।

ऋषि, मुनि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुष्य और जितने भी महान् शक्ति-शाली हैं, वे सब के-सब भगवान् के ही अंश हैं।

ये सब अवतार तो भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) ही हैं। जब लोग दैत्यों के अत्याचारों से व्याकुल हो उठते हैं, तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

इस अवतारवाद की धारणा की दृष्टि स्पष्ट रूप से हमें गीता (४।७-८) से होती है। जब भगवान् स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से कहते हैं कि जब-जब धर्म की रक्षा होती है और अधर्म की प्रचलता बढ़ती है, तब (-तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। साधुओं की सुरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा युग-युग में धर्म-संस्थापना के लिए मैं जन्म लिया करता हूँ।

भागवत-पुराण में अवतारों की मान्यता की कुछ भावना दीख पड़ती है। अवतारों में पूर्णावतार श्रीकृष्ण को ही माना जाता है और उन्हें साक्षात् विष्णु कहा जाता है। श्रीकृष्ण को सोलह कलाओं से युक्त अवतार माना गया है। अतः अवतारवाद, भागवत-धर्म के अभिन्न रूप के साथ प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रतिष्ठाता श्रीकृष्ण हुए और इसी कारण श्रीकृष्ण की मूर्ति-रूप में पूजा सर्व-प्रथम प्रचलित हुई। डॉ० शर्मा का विचार है कि “जब योगाचार्य भगवान् श्री कृष्ण ने पाञ्चरात्र अथवा भागवत-धर्म को अभिनव रूप प्रदान किया, तब उनके अनुयायियों ने नारायण, विष्णु और कृष्ण में एक ही विभूति के दर्शन किए। अवतारवाद की नींव यहीं से पड़ी।”

ऐसे तो मूर्ति के रूप में विभिन्न अवतारों की पूजा प्रचलित हो गई और आज प्रायः सभी अवतारों के मन्दिर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाए जाते हैं, किन्तु राम और कृष्ण—दो के व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। यद्यपि श्रीकृष्ण की पूजा भारत में भगवान् के रूप में राम की पूजा से बहुत पहले प्रारम्भ हुई और अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठापन हुआ, किन्तु राम संबंधी, दृश्यलोक राम की, पावन जीवनगाथा जिसकी

लोकप्रिय और आकर्षक रही है, इसका प्रमाण जावा, सुमात्रा तथा कम्बोज के मन्दिरों एवं प्रस्तर-खण्डों पर खुदी हुई राम-जीवन की घटनाएँ और मैक्सिको का राम-सीतोत्सव हैं।

विद्वानों का विचार है कि अवतार-रूप में राम की उपासना कृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। ज्ञात होता है कि वाल्मीकीय रामायण ने अपना प्रचलित रूप ईसा की दूसरी शताब्दी तक प्राप्त कर लिया था, क्योंकि इसके बाल और उत्तर-काण्डों में राम को स्पष्ट रूप से ईश्वर का अवतार माना गया है और अन्य काण्डों में जहाँ-जहाँ भी राम के अवतारी होने के संबंध में श्लोक आए हैं, उन्हें विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं। कृष्ण की भक्ति और उसके फलस्वरूप मूर्ति की स्थापना को प्रथम सर्वप्रथम निम्बार्काचार्य और बाद में वल्लभाचार्य आदि से मिला। किन्तु राम की भक्तिभावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत में दसवीं शताब्दी के अनन्तर ही हो पाया। भण्डारकर महोदय के मतानुसार आचार्य मध्व (स्वामी आनन्द तीर्थ) बदरिकाश्रम से राम की प्रतिमा लाए और सन् १२६४ ई० के लगभग उन्होंने नरहरि तीर्थ को राम और सीता की प्रतिमाएँ लाने के लिए जगन्नाथपुरी भेजा। अतः डॉ० शर्मा का विचार है कि ग्यारहवीं सदी के आसपास राम-संप्रदाय का प्रवर्तन हुआ होगा। फिर डॉ० शर्मा आगे कहते हैं कि “स्वामी रामानन्द के साथ राम-भक्ति गंगा-देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी और पूर्णावतार का जो पद भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त था, वही पद-मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गई। जनता की अभिरुचि तथा आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि में कितना अन्तर है ! वासुदेव कृष्ण, जिन्हें साक्षात् भगवान् घोषित किया गया था, एक प्रदेश तक सीमित रह गए थे, परन्तु राम, जो केवल स्वरूपावेश अवतार के अपेक्षाकृत हीन कोटि में रखे गए थे, जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हो गए।” उत्तर भारत में राम के अवतार-रूप में प्रतिष्ठा पाने और अनेक मन्दिरों में राम-मूर्ति की स्थापना का श्रेय विशेषतः सत तुलसीदास को है, जिनके ‘रामचरितमानस’ ने रामावतार की कथा को हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र में घर-घर फैला दिया और राम कथा जनजीवन का विशिष्ट अंग बन गई।

सातवीं परिच्छेद जैन-धर्म और मूर्ति-पूजा

जैन-धर्म में मूर्ति-पूजा कब से चली, इसका इतिहास लुप्त है। फिर भी यह अर्वाचीन भी नहीं है। अंतिम तीर्थंकर के बाद ही यह चल पड़ी। मूर्ति और मूर्ति-गृह के जो चैत्य और चैत्रालय हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि मूर्ति चिता-परक स्मारक है।

मूर्ति पूजा का विधान महावीर स्वामी ने नहीं किया, इसलिए मूर्ति-पूजा अनुचित नहीं कही जा सकती। कोई महात्मा अपने स्वागत की बात नहीं कहता तो उसका स्वागत करना पाप नहीं कहा जा सकता। सब पूछा जाय तो यह संप्रदाय का प्रश्न नहीं है, बल्कि योग्यता का प्रश्न है। जिसकी आत्मा विकसित है, उसे मूर्ति-पूजा को जरूरत नहीं है। जिसकी आत्मा विकसित नहीं है उसे मूर्ति पूजा सहारा दे सकती है।

अपने-अपने पक्ष के समर्थन में दोनों पक्ष मिथ्या युक्ति का सहारा लेते हैं। मूर्ति-पूजक लोग उसे जैन-धर्म के प्रारंभ में सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और मूर्ति-विरोधी लोग मूर्ति-पूजा को, अर्हत की कही हुई नहीं होने के कारण अनुचित बताते हैं। मूर्ति-पूजकों को समझना चाहिए कि साधारण लोगों के लिए मूर्ति आवश्यक होने से वह उपादेय अवस्था है; किन्तु इसीलिए वह जिनोक्त नहीं कही जा सकती। और, मूर्ति-विरोधियों को समझना चाहिए कि मूर्ति पूजा जिनोक्त नहीं है, इसलिए अनुचित नहीं कही जा सकती। इन दोनों विचारों पर कक्षाएँ बनानी चाहिए, न कि संप्रदाय।

मूर्ति पूजा का विरोध मुसलमानों के आक्रमण का फल है। उस समय मूर्ति को हटाने में धर्म सुरक्षित रह सकता था तथा अभिभावकों से भी पिण्ड छूटता था। सिक्ख-संप्रदाय ने इसीलिए मूर्ति पूजा को स्थान नहीं दिया। वहाँ ग्रन्थ-पूजा का प्रचार हुआ। जैनियों के दोनों संप्रदायों (श्वेताम्बर और दिगम्बर) में मूर्ति-विरोधी उप-संप्रदाय खड़े हुए। श्वेताम्बरों में

‘स्थानकवासी’ संप्रदाय हुआ और दिगम्बरों में ‘तारण-पंथ’ । स्थानकवासी संप्रदाय ने अच्छी उन्नति की । आज यह संप्रदाय जन-संख्या तथा धन-बल आदि में मूर्ति-पूजक श्वेताम्बरों के बराबर है । दिगम्बर संप्रदाय का तारण-पंथ उतनी उन्नति नहीं कर पाया । इस संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर मूर्ति के स्थान पर शास्त्र को बिठलाया । एक तरह की मूर्ति-पूजा हट गई और दूसरी तरह की मूर्ति पूजा चल पड़ी या रह गई ।

एक समय था कि जैन-धर्म में यापनीय संप्रदाय पनप उठा । दिगम्बर संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर शास्त्र (ज्ञान) पर जोर दिया और श्वेताम्बरों ने महावीर के चरित्र पर । किन्तु यापनीय ने दोनों पर जोर दिया । आज श्वेताम्बरों के साथ-साथ अनेक दिगम्बर भी मूर्ति के पूजक हैं और उनके भी विशाल मन्दिर हैं । राजगृह (बिहार-राज्य) के मन्दिरों और उनमें स्थित मूर्तियों के अधिकार एवं पूजा के संबंध में इन दोनों संप्रदायों—श्वेताम्बर और दिगम्बर—के बीच का मुकदमा लन्दन में प्रिवी-कौंसिल तक चला । मुकदमे के निर्णय के अनुसार दोनों संप्रदायों का समान अधिकार हुआ ।

भारत में जैन-मन्दिरों की संख्या काफी है । सन् १९५३ ई० में अहमदाबाद से सेठ आनन्दजी कल्याणजी के द्वारा प्रकाशित ‘जैनतीर्थ सर्वसंग्रह’ नामक ग्रन्थ से—जो तीन जिल्दों में छपा है—ज्ञात होता है कि सिर्फ श्वेताम्बर जैन-मन्दिरों की संख्या ४,४०० है । इनमें लगभग दो हजार मन्दिर गुजरात राज्य और कच्छ में और १,१०० केवल राजस्थान राज्य में तथा १,३०० भारत के विभिन्न अंचलों में हैं ।

सम्मेद शिखर (पार्वनाथ पहाड़ी) सबसे महान तीर्थ है । यहाँ चौबीस तीर्थंकरों में बीस ने कैवल्य प्राप्त किया था । यहाँ मन्दिरों की संख्या भी काफी है । यह स्थान दोनों संप्रदायों को समान रूप से मान्य है ।

मूर्तियों की संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान पालीताना का है । यह नगर तो मन्दिरों का ही नगर है । किन्तु, यह केवल श्वेताम्बर जैन-तीर्थ है ।

इसी प्रकार भारत की सबसे विशाल जैन-मूर्ति (गोम्मटेश्वर की मूर्ति) ध्वण-केश मीना में है, जो ५७ फुट ऊँची है । यह केवल दिगम्बर जैन-तीर्थ है ।

जैन-धर्मावलंबी विशेषतः धनी हैं। अतः सम्भवतः सभी जैन-मन्दिर भव्य और कलापूर्ण हैं। दिलवारा (आबू पर्वत) का जैन-मन्दिर तो विश्व-प्रसिद्ध है। यहाँ के सिर्फ दो मन्दिरों—ऋषभनाथ और नेमिनाथ—के निर्माण में क्रमशः १२ और १८ करोड़ रुपये सन् १०८८ और १२८७ ई० में लगे थे। इन अत्यन्त कलापूर्ण मन्दिरों में संगमरमर के कड़े पत्थर को कुशल कारीगरों ने मोम की भाँति नरम बनाकर जो बारीक और सुन्दर कोरनी की हैं, उसे देखते ही बनता है। यह आश्चर्य होता है कि उन दिनों जयपुर में संगमरमर-पत्थर की विशाल खिलारें किस प्रकार पहाड़ के उच्चतम शिखर पर पहुँचाई गईं।



आठवाँ परिच्छेद बौद्धधर्म-और प्रतीक-पूजा

भगवान बुद्ध की मृत्यु पर उनकी अस्थि और भस्म को आठ भागों में बाँटकर चैत्यों का निर्माण हुआ। इनमें वंशाली के लिच्छवि, अल्लकाप के बुल्ली और मगध के सम्राट् अजातशत्रु प्रमुख थे। चम्पारन (बिहार) के मारियो ने भी बुद्ध के भस्मावशेषों पर चैत्य तैयार करवाए थे। इन चैत्यों में कौसी कारीगरी शिल्पियों ने का, कितना व्यय हुआ और इनकी क्या महत्ता थी, इन सबका पता राजगृह के चैत्य-निर्माण से चलता है। इस चैत्य के निर्माण का वर्णन दीर्घनिकाय के परिनिव्वानसुत्त की अट्ठ-कथा में बुद्धवाचने किया है।

सम्राट् अशोक ने भगवान बुद्ध की मूर्ति बनवाकर स्थापित नहीं कराई, इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक हीनयान संप्रदाय को माननेवाला था। हीनयान में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण वर्जित है। इस संप्रदाय के अनुसार बुद्ध के प्रतीकों (चैत्यों) की ही पूजा की जा सकती है, जैसे वज्रासन, वृक्ष, उष्णीष, चक्र, स्तूप, पद्मचिह्न, चक्रमस्थान आदि। भगवान बुद्ध ने परिनिर्वाण-काल में प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे निर्वाणोपगन्त मेरी धातुओं की पूजा हो, मेरी मूर्ति की नहीं।¹ अतः आरम्भ में इन्हीं वस्तुओं का आदर हुआ करता था। इसी सन् के आरम्भ में महायान-मत का प्रचलन होने पर गौतम बुद्ध तथा बोधिसत्व की उपासना आरम्भ हुई। कलकत्ता के अजायबघर में बुद्ध की सबसे पुरानी मूर्ति सुरक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह ईसवी सन् १४२ की बनी हुई है।

कनिष्क के समय (पहली सदी ई० पूर्व) के कुछ पूर्व ही बौद्धधर्म के एक नवीन संप्रदाय का सूत्रपात हो चुका था, जो आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का नाम महायान था। 'महायान' ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती-

1. परिनिर्वाण-सूत्र

जिसे प्राणिमात्र के हित के लिए अर्पण समझा जा सके। इस चरम साधना के लिए महायान ने बोधिसत्त्व-जीवन का उद्देश्य दिया। बोधिसत्त्व का सात्त्विक है—दूसरों के कल्याण के लिए अपने देश, घर तथा सुख का परित्याग। अन्धों को दृष्टिदान करने के लिए अपनी आँखें निकालकर देना, भूखे बाध को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करना—इस संप्रदाय के माननेवाले अपना परम धर्म समझते हैं। दूसरों के हित के लिए अपनी स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देना और परोपकार के लिए कष्ट को कष्ट नहीं समझना, यह उनका उद्देश्य है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व सिद्धार्थ गौतम ने बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्म लिए थे। मनुष्य-जीवन का आदर्श यही है कि वह दुःखतप्त प्राणियों के कष्ट को नाश करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करे, बोधिसत्त्व के रूप में जीवन व्यतीत करे, और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले। बोधिसत्त्व का जीवन भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही अपना सकते हैं। इसके लिए भिक्षु व्रत ग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। बोधिसत्त्व का पद पाने के लिए मनुष्य को दस गुण—जिन्हें महायान संप्रदाय के अनुयायी 'पारमिता' कहते हैं—अपने में विकसित करने चाहिए। ये दस पारमिताएँ (१) दान, (२) शील, (३) शान्ति, (४) वीर्य, (५) ध्यान, (६) प्रज्ञा, (७) उपाय, (८) कौशल्य-प्रणिधान (९) बल और (१०) ज्ञान हैं। इन गुणों को विकसित करके ही मनुष्य बोधिसत्त्व बन सकता है और अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है।

महायान संप्रदाय ने बुद्ध को लोकोत्तर प्रतिपादित करना आरम्भ कर दिया था। जनता में किसी लोकोत्तर शक्ति की भक्ति करने की भावना बहुत प्रचलित होती है। उस समय भारत में अनेक संप्रदाय प्रचलित थे। उनमें से भागवत और वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी भक्ति की बहुत महत्त्व देते थे। सर्वसाधारण लोग किसी सत्ता की भक्ति करना चाहते हैं, जो लोकोत्तर हो और जिसको देखकर उच्च भावनाएँ उदित हो। महायान के प्रतिपादकों ने बुद्ध के स्वयं को ही जनता के सम्मुख उपस्थित किया। उन लोगों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनवायी आरम्भ कीं और वे उन्हें चैत्यों में प्रतिष्ठित करना बहुत महत्त्व की बात समझने लगे। महासांघिक संप्रदाय की ऐसी प्रवृत्ति पहले विद्यमान थी और महायान से इसे नया बल मिला और यह विकसित हुआ।

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान संप्रदाय की विशेषता है। बुद्ध ने अनेक जन्म ग्रहण कर बोधिसत्त्व का जीवन बिताया और पारमिताओं को प्राप्त किया। अतः यह प्रत्येक मनुष्य के लिए आदर्श है। बुद्ध के इन पूर्व-जन्मों का वृत्तान्त जातक-कथाओं में वर्णित है। हीनयान संप्रदाय में बोधिसत्त्व को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उसने भिक्षु-जीवन को ही महत्त्व दिया है। महायान के अनुसार अनेक व्यक्ति बोधिसत्त्व बनकर परोपकार में प्रवृत्त रहें, ऐसा विधान है और ऐसे व्यक्ति अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनकी प्रायः वही स्थिति होती है, जो पौराणिक हिन्दू-धर्म में देवताओं की है। वे चैत्यों में इनकी मूर्तियाँ भी स्थापित करने लगे और बुद्ध के समान इनकी पूजा करने लगे। बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर, मजुश्री, वज्रपाणि, सामन्त भद्र, आकाशगर्भ, महास्थानप्राप्त, ज्येष्ठराज और मंत्रेय प्रमुख हैं।

श्री निखिलेश शास्त्री का कथन है कि उपासना के क्षेत्र में देवताओं की अपेक्षा देवियों को हिन्दू-धर्म में कहीं अधिक उच्च स्थान दिया गया है। इसी आस्था पर बौद्ध-धर्म में देवियों को उच्च मान्यता मिली है। इनमें देवी तारा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। ८वीं और १२वीं शताब्दी तक यह देवी बौद्ध-धर्म में अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। तभी से तारा के सम्मान में जगह-जगह मन्दिर बनवाए गए और घर-घर प्रतिमाएँ पूजी जाने लगी।^१

भारत के तान्त्रिक बौद्धों ने देवी तारा को अतिशय सुन्दर और उदार माना है। यह उनका शान्त रूप है। इस रूप में तारा हिन्दुओं की देवी लक्ष्मी जैसी प्रतीत होती है। जब तारा रौद्र रूप धारण करती है तब वे दुर्गा के सदृश लगती हैं। तारा के शान्त एवं रौद्र रूपों के आधार पर बाद में तान्त्रिक बौद्धों ने २१ रूपों की कल्पना की और विभिन्न वर्ण और नाम लेकर विवेचन किया। तारा के विभिन्न वर्णों में श्याम, सित, पीत, नील एवं रक्त वर्ण भक्तों को बहुत प्रिय हैं।

इन विभिन्न वर्णों की ताराओं में श्याम तारा प्रमुख है। बौद्ध तान्त्रिकों ने श्याम तारा को शान्त रूप में प्रकट किया है। प्रतिमाओं में श्याम तारा को अभिनव जीवन से युक्त तथा नामा अलंकारों से विभूषित दिखाया गया है। उनकी

१. श्री निखिलेश शास्त्री : विविधरूपा बौद्ध-देवी (काबन्धनी गई, १९६९)

उपासना। स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए करती हैं। तांत्रिक बौद्धों ने उन्हें धनदायिनी देवी के रूप में माना है और 'ऊँ तारे तुस्तारे तुरे धनं ददे स्वाहा' मंत्र भी कहा है। कहा जाता है कि इस मंत्रोच्चारण से तुष्ट होकर देवी भक्तों को अतुल द्रव्य प्रदान करती हैं। इसलिए उन्हें धनदा तारा कहा गया है।

वर्ण के आधार पर तारा का दूसरा रूप है, सिततारा। बौद्धधर्म में सिततारा पतिव्रता की देवी मानी गई हैं। प्रतिमाओं में ये अपने अधांग बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के साथ उपस्थित की गई हैं। विभिन्न रंगों के वस्त्र एवं अलंकार पहने हुए यह देवी स्वरूप से अति आकर्षक हैं।

बौद्ध तंत्र में सिततारा के अनेक रूप हैं। इनमें महाचीन तारा बहुत विख्यात है। बौद्धों ने इस देवी को रौद्र रूप प्रदान किया है और उग्रतारा की संज्ञा दी है। इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ नेपाल में भी हैं।

वर्ण के अनुक्रम में तारा का तीसरा वर्ण पीत है, जिसमें वज्रतारा प्रमुख है। तांत्रिकों को यह देवी बहुत ही प्रिय है, क्योंकि उनके अनुसार इसकी किसी भी रूप में उपासना की जाने पर यह अवश्य सिद्धि प्रदान करती है। कहा जाता है कि यदि एक वस्त्र के छोर पर गाँठ बाँधकर कोई व्यक्ति 'ऊँ तारे तुस्तारे तुरे स्वाहा' मंत्र का सात बार उच्चारण करे तो वह व्यक्ति निर्भय होकर किसी भी दुर्गम स्थान में जा सकता है।

पीततारा का एक और रूप प्रसन्न-तारा है। आकृति से सौम्य होने के कारण इन्हें अमृतमुखी और अमृतलोचना भी कहा गया है। इनके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान है। देवी का चतुर्थ वर्ण नील वर्ण है। इनका सौन्दर्य अनुपम है, पर जब ये रौद्र रूप धारण करती हैं, तब इन्हें एकजटा-तारा या विष्णु-ज्वाला-कराली कहा जाता है।

देवी के पाँच वर्णों में अंतिम रक्त वर्ण है। बौद्ध-तंत्र में इस वर्ण में देवी तारा केवल एक रूप में मिलती है और वह कुश्कल्ला कही गई है। बौद्धों का विश्वास है कि इस देवी का मनुष्य के हृदय से घनिष्ठ संबंध है। यह देवी बिरही प्रेमियों को उनके प्रियजनों से मिलाकर प्रसन्न करती है। बौद्धों की धारणा है कि प्रत्येक नवयुवक को इस देवी की आराधना करनी चाहिए।

वस्तुतः तारा बौद्ध-तांत्रिकों की शक्तिरूपिणी देवी हैं, जिन्हें इन तांत्रिकों ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए इष्ट माना है।

बौद्ध-मूर्तिकला के विकास के लिए शु गकाल बहुत प्रसिद्ध है। इस काल की मूर्तियाँ भारतीय कला की मुकुटमणि हैं। किन्तु इस काल में हीनयान संप्रदाय का ही बोलबाला था। तब तक महायान पनप नहीं सका था। अतः बुद्धमूर्ति-निर्माण के नमूने कम मिलते हैं।

कुषाण-काल तो बौद्ध-शिल्पकला के उत्थान का स्वर्णयुग है। इस काल में महायान-संप्रदाय पूर्ण विकसित हो गया था। बुद्ध की पूजा के लिए प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। मूर्तिकला-विशारदों का कहना है कि भगवान् बुद्ध की शुद्ध प्रतिमा का निर्माण मथुरा और अमरावती में साथ-साथ हुआ। मथुरा की बुद्ध-मूर्ति भारतीय कला का उत्कृष्ट एवं विशुद्ध रूप है, जिसमें मगध का यक्ष-यक्षिणी मूर्ति का साम्य, मृदुलता और पोष्टिकता का अनुपम निखार हुआ है। बिहार-राज्य में बुद्ध की जा पहली मूर्ति बनी, वह बोधगया में मिली है। श्रावस्ती की मूर्ति की तरह यह भी मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। इस मूर्ति के निर्माता का नाम विक्रम था। कनिष्क ने इस मूर्ति का निर्माण-काल दूसरी शताब्दी माना है। किन्तु मूर्ति पर जो प्राकृत भाषा का अभिलेख मिला है, उसके आधार पर श्री वेणीमाधव बरुआ ने इस दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच की कहा है। किन्तु इसी लेख के आधार पर श्री रामप्रसाद चन्दा ने इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की बताया है। जो भी हो, पर इस मूर्ति की आकृति की शान्ति एवं कांति गुप्तकालीन ही जान पड़ती है।

गुप्तकाल में निर्मित बौद्ध-विहार, सघाराम और बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुर और प्रसिद्ध हैं। बोधगया का मन्दिर इस काल की भास्कर-कला की अनुपम देन है। इसका वर्णन फाहियान और ह्यूएनसांग ने भी किया है। मन्दिर के प्रांगण में स्थित अनेक मूर्तियों की चर्चा वे करते हैं, जिनमें अनेक आज भी देखी जा सकती हैं। इनके कथनानुसार चूने और बालू-मिट्टी की बनीं अनेक मूर्तियाँ बोधगया के मन्दिर के ताखों पर प्रतिष्ठित थीं। उसने बोधिवृक्ष के पश्चिम एक बुद्ध-मूर्ति देखी थी, जो काँच की बनी थी और उसमें कीमती नगीने जड़े हुए थे। गया के कपोत-विहार के समीप ही एक पहाड़ी पर भी बौद्ध-मन्दिर देखा था, जिसमें शान्त, गम्भीर मुद्रा में अवलोकितेश्वर की एक प्रभावशाली मूर्ति स्थापित थी।

सारनाथ के धम्मके-स्तूप और चक्र-प्रवर्तन की मुद्रावाली बुद्ध-मूर्ति भी गुप्त-काल की ही कृति है। सारनाथ संग्रहालय में रखी ३०० बुद्ध-मूर्तियाँ भी गुप्त-काल की मानी गई हैं। गुप्तकाल में मूर्ति-निर्माण के तीन केन्द्र—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ थे। ये कला के अनुपम आदर्श स्थल थे।

पाल-युग में बौद्ध-मातृदेवियों की भी प्रचुर परिमाण में मूर्तियाँ बनीं और भगवान् बुद्ध की कण्ठामय मुखाकृति एवं मुडील अर्गों का कलात्मक प्रदर्शन हुआ। पाल-काल में इस वंश के राजाओं की राजधानी ओदन्तपुरी (बिहार-शरीफ) थी, जो आज नालन्दा जिले का मुख्यालय और समृद्ध नगर है। पाल-काल में यहाँ मूर्तियों की भरमार थी। यहाँ भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो ललितासन में है और वह लोकनाथ की मूर्ति है। पाल-काल में निमित्त नालन्दा में अवतारकालेश्वर की जो एक मूर्ति मिली है, वह विष्णु-मूर्ति की तरह चतुर्भुजी है। बौद्ध-देवताओं की मूर्तियों की एक यह भा विशेषता है कि हिन्दुओं के सभी संप्रदायों के देवताओं के विभिन्न रूप उनमें दर्शाए गए हैं।

मुतरा, अशोक के बाद बड़ी शोघ्रता से मन्दिरों का निर्माण और मूर्तियों की स्थापना होने लगी। अशोक-काल तक बुद्ध को मान्यता गुरु, पूज्य, सत्पापक और महात्मा के रूप में थी, पर वे उपास्य देव नहीं थे। निर्वाण की प्राप्ति तब तक धर्म-पालन से समझी जाती थी। अलवत्ता उनकी अस्थियों आदि पर स्तूप स्थान-स्थान पर बने थे। परन्तु पीछे चलकर बुद्ध की ही नहीं, बल्कि बोधिसत्त्वों, देवी तारा आदि की भी मूर्तियाँ बनने लगीं और परिणाम-स्वरूप चीन, बर्मा, जापान, कोरिया, तिब्बत, तुर्किस्तान, खोतान, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, जावा, लका आदि दूर-दूर के देशों में भी बुद्ध, बोधिसत्त्वों, तारा, आदि की स्वर्ण, रजत, ताम्र, काँसा, प्रस्तर आदि से निर्मित प्रतिमाएँ पूजी जाने लगीं।



तीसरा खण्ड

पहला परिच्छेद संतमत और गुरु-पूजा

संतमत की परिभाषा

भारत के धार्मिक इतिहास में संतमत का एक विशिष्ट स्थान है। 'संत' शब्द का मतलब है—'आत्मज्ञान' अथवा उच्चतम श्रेणी के आत्मतत्त्ववेत्ता एवं अनुभवी महारुषों का बताया हुआ साधन या मार्ग।

सभी महारुष जो आज दिन तक आए या जो आज मौजूद हैं, यह सवाल हमारे सामने लाते हैं—“वह कौन-सी विद्या या ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है?” और साथ ही इस सवाल का जवाब भी देते हैं कि वह अपने-आप का, मानव-देह के निवासी, अविनाशी आत्मा का ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है। संतमत अधविश्वास नहीं मिलाता। वह व्यक्तिगत अनुभव की, हर एक के करने की विद्या है। जो मान्यता या धारणा व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध-प्रमाणित न हो सके, उसका मूल्य नहीं। इसलिए संत कहते हैं कि अपनी आँखों से देखो, अपने कानों से सुनो, दूसरों की देखी-सुनी पर न जाओ।

संतमत का सिद्धान्त

संतमत पिण्ड (मानव-देह) को खोजने की, जड़-चेतन की ग्रन्थि को खोलने की, चेतन (आत्मा) को जड़ (शरीर) में अलग करके उसको अनुभव करने की विद्या है। किन्तु संतमत कहता है कि परमात्मा को जानने से पहले अपने-आप को, अपनी आत्मा को जानना होगा। वह प्रभु महाचेतनता का समुद्र है, और यह आत्मा उसका अंग है—यह भी चेतन-स्वरूप है। चेतन को चेतन ही जान सकता है।

संतमत का सिद्धान्त है कि गुरु के बिना बाहरी ज्ञान भले ही हो जाए, किन्तु गुरुार्थ का प्रकाश संभव नहीं है। अतः संतमत की साधना के क्षेत्र में वो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका बहुत महत्त्व है। वे हैं गुरुतत्त्व और गुस्तत्त्व। इसका सिद्धान्त है कि सभी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, और योगादि का

अभ्यास बिना गुण के निर्देशन के संभव नहीं है। यही कारण है कि अनेकानेक संतमताओं का साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

संतों का एकेध्वरवाद अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है; चाहे शाकर अद्वैत हो, या शैव अद्वैत हो; चाहे सगुणवादी, वैष्णवों का अद्वैत हो, या निगुणवादी संतो का अद्वैत हो—सबके मूल में मुख्यतः उपनिषदें हैं। अद्वैत ही नहीं, संतमत की प्रायः सभी मान्यताएँ उपनिषद्-युग में मूलतः धारण कर चुकी थीं। कर्म, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, न्यायकृत कर्मनाश आदि संतो के सिद्धान्त अति विस्तृत रूप में उपनिषदों में विद्यमान हैं।

संतों ने ब्रह्म को निगुण माना है और इसलिए हम जब कभी निगुण-भक्ति की चर्चा करते हैं, उसके द्वारा संतमत की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि सगुण राम अथवा कृष्ण के उपासक सूर, तुलसी, मीरा आदि भी सत थे, तथापि 'संत' शब्द धीरे-धीरे निगुणवादी साधकों तथा महात्माओं के अर्थ में ऋद्ध होता चला आया है। संतो ने वैष्णव-भक्ति से प्रभावित होकर निगुण-भावना के क्षेत्र में 'राम' का व्यापक रूप से अंगीकरण किया है। किन्तु उन्होंने 'राम' को सगुण न मानकर निगुण माना है। उन लोगों ने अवतारवाद के प्रति अनास्था प्रकट की है, क्योंकि अवतार ग्रहण करने का अर्थ है निगुण का सगुण रूप धारण करना।

संतमत में गुह का स्थान :

संतमत में गुरु का प्रमुख स्थान है। योगियों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। इसमें भी गुरु का विशिष्ट स्थान है। अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभुत्व जमाकर उनपर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को भी वश में लाना संभव हो जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधकों में से बहुतों को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या में निरत पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था। परन्तु यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि हठयोग का वास्तविक प्रचार नाथयोगी संप्रदाय द्वारा हुआ। नाथयोगी संप्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतों की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्तक गुरु गोरक्षनाथ थे, जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियों की परम्परा चलाई थी और हठयोग की साधना का प्रचलन किया था। इसमें संदेह नहीं कि गुरु गोरक्ष-

नाथ योगी-संप्रदाय के सर्वप्रथम नेता थे। वास्तव में इसे सुसंगठित करने एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने कई स्थानों पर केन्द्र स्थापित किए और वहाँ योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके यत्नों के प्रभाव के कारण इसकी अनेक भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकली, जिनमें (१) भुवनेश्वर का सत्यनाथ-पंथ, (२) कच्छ का धर्मनाथ-पंथ, (३) गंगा-सागर का कपिलानी पंथ, (४) गोरखपुर का रामनाथ-पंथ, (५) फ़ैसल (पाकिस्तान) का लक्ष्मणनाथ-पंथ, (६) रायडू गा (पुष्कर-क्षेत्र) का बैराग्य पंथ, (७) जोधपुर का भीमनाथी उर्फ पावनाथ-पंथ, (८) दिनाजपुर का आई पंथ, (९) गुरदासपुर (पंजाब) का गगनाथ-पंथ, (१०) अबाला का ध्वजनाथ-पंथ, (११) बोहर (प्राचीन इन्द्र-प्रस्थ) का पागल-पंथ और (१२) रावलपिण्डी (पाकिस्तान) का रावल या नागनाथ-पंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। रावल-पंथ में अधिकतर मुसलमान योगी थे। गोरखनाथ जी के मन्दिर विभिन्न स्थानों में हैं, जिनमें उनकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें गोरखपुर और हरिद्वार के गोरखनाथ-मन्दिर प्रसिद्ध और दर्शनीय हैं।

इस प्रकार यद्यपि शाक्तमत तथा नाथ-संप्रदाय में गुरु की महत्ता और उपादेयता कबीर साहब के जीवन-काल के पूर्व से ही भारत में प्रचलित थी, तथापि संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, उसका वेग संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से जारी रहा है और गुरुपूजा संतमत का प्रधान अंग हो गई है। समस्त परवर्ती संत कबीर साहब के सिद्धान्त से प्रभावित हुए हैं। नानक, दादू, रंदास, रज्जब, सुन्दरदास, धरणी-दास, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि के अतिरिक्त सरभग (अधोर-मत) के रत किनाराम, भिनकराम, भीसमराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा आदि ने अपने-अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया।

सरभग या अधोर मत में भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता और भक्ष्य मांस आदि गृहीत नहीं माने जाते। यह वाममार्ग का एक रूप है। वाम-मार्ग को कीलमार्ग भी कहा जाता है, क्योंकि 'कुल' नाम है कुण्डलिनी का और कुण्डलिनी को जाग्रत करना तत्रविहित योग की मुख्य साधना है।

संतमत और निर्गुण उपासना :

इन संतों ने एक ईश्वर की ही उपासना का उपदेश दिया। कुआछूत और जात-पात की निन्दा की। भूत-प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध

किया। पीर, औलिया, कब्र आदि की वन्दना से लोगो को रोका। सदाचार की महिमा बसाई। हिन्दू-मुसलमान को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमे से कई अब्राह्मण थे और कुछ जन्मना हिन्दू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमे से शायद ही कोई जानता था। इस कारण पण्डित-वर्ग अप्रसन्न हुए, पर जनता मे इस मत का खूब प्रचार हुआ।

अतः निगुण-संप्रदाय की उत्पत्ति रूढ़िवाद और अधविश्वास की प्रतिक्रिया के रूप मे हुई। मनुष्य मात्र की एकता और समता तथा जातिवाद का खण्डन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—सत-संप्रदाय का मौलिक आधार था।

इन सतों ने सगुण-साकार की उपासना के स्थान पर निगुण-उपासना, योग और ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। यह बात ठीक है कि भक्ति मार्ग में भी ऊँच-नीच का भेद नहीं है, किन्तु सबको मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि प्राप्य नहीं होते। अछूतों का तो मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित था। किन्तु निगुण-उपासना और योगाभ्यास के लिए तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिए। पूजा की सामग्री के लिए पैसे भी नहीं चाहिए। इसलिए यह मार्ग सबके लिए सुलभ और सुगम है, यद्यपि है कठिन। पर सच्ची भक्ति कोई हँसी-खेल की चीज नहीं है। इसलिए विशेषकर निम्नस्तर की जनता का इस ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, घोड़ी, जुलाहे, मोची, जन्म से मुसलमान आदि भी ऊँची जातिवालों के समकक्ष इसमें आए। इस प्रकार भारत पर मुसलमानों के आक्रमण और शासन के आपातकाल में भक्ति-मार्ग ने मुसूखू हिन्दू-जाति में जान डाली और संतमत् ने उसे सक्रियता प्रदान की। योगी में बल होता है, आत्म-विश्वास होता है। उसकी वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनता में आत्मनिर्भरता आई। उसी आत्म-निर्भरता की कली मुगल-साम्राज्य के अवसान-काल में मुगलों के अत्याचार से पीड़ित, मूलतः शान्ति-पथ के पथिक, सिक्ख-संप्रदाय के रूप में खिली।

किन्तु भक्ति-मार्ग और उसके परिणाम स्वरूप मूर्तिपूजा सतमत् से पहले चल चुकी थी। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतो पर पड़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप सतमत् के आचार्यों की रचनाओं में भक्ति-भावना से ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं। साथ-ही साथ भक्ति-मार्ग भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा, और भक्ति-मार्ग के ग्रन्थों में योग के अनुभव की झलक मिलने लगी।

एकाध को छोड़कर संतों ने निश्चित रूप से पुस्तकें नहीं लिखीं। उनको कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समय पर उनके शिष्यों ने लिख लिया था। इनमें से जो गाने लायक हैं, उनको 'शब्द' तथा शेष को, जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दों में हैं, 'साखी' कहते हैं।

सत बाणियों में गुरु की महिमा भरी-पड़ी है। गुरु बदना और गुरु महिमा के प्रसंग बहुत हैं और सभी सतों की बाणियों में हैं। एक बात है कि यहाँ जितने भी निराकारवादी हैं, उनकी साधना गुरु का आश्रय लिए बिना बन नहीं सकती।

"जीव के स्वरूप का ज्ञान बिना गुरु के हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी बिना गुरु के हो सकता है, किन्तु जीव तथा ईश्वर के तत् तथा त्व के अभेद का ज्ञान महावाक्य के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। यह अभेद-ज्ञान, जो वास्तविक ज्ञान है, गुरु जब महावाक्य का उपदेश करेंगे तभी होगा। महावाक्य का तात्पर्य सूचित करनेवाला किसी भी भाषा का कोई भी वाक्य महावाक्य है।"

ज्ञान के मार्ग में तत्त्व-जिज्ञासा के लिए गुरु की आवश्यकता दो क्षण के लिए है, यदि जिज्ञासु उत्तम अधिकारी है। महावाक्य के श्रवण-मात्र से उसे ज्ञान हो सकता है, किन्तु योग के साधक के लिए तो पूरे साधन-काल में गुरु का प्रत्यक्ष सरक्षण एवं नियंत्रण आवश्यक है। पुस्तकें पढ़कर या किसी की देखादेखी जो लोग योग-साधन प्रारम्भ करते हैं, उनको प्रायः असाध्य रोगों का शिकार बनना पड़ता है।

संतमत की परम्परा वैदिक तान्त्रिक मतों से कुछ भिन्न है; किन्तु जहाँ तक गुरु के स्वरूप की बात है, इन मतों में भी गुरु साधन-निदेशक तथा साध्य-स्वरूप है। संतमत में धुरधम अथवा सहस्रार में गुरुमूर्ति का ध्यान किया जाता है। इन संतमतों में से कई में तो अपने गुरुदेव की मूर्ति का ही ध्यान और उसके नाम का जप करने की प्रणाली है।

संतमत में गुरु की महिमा :

तंत्र में श्रीगुरु का सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है। अतएव तंत्र-मता-नुयायी साधकों के लिए गुरु-पूजा अत्यावश्यक मानी गई है। गुरु-पूजा के बिना साधक की सब साधना निष्फल है। कलिविलास-तंत्र (११३) में कहा भी है—

गुरुपूजा बिना बेबी स्वेष्ट पूजा करोति यः ।

मंत्रस्य तस्य तेजासि हरते भैरवः स्वयम् ॥

संतो ने तो सद्गुरु-महिमा के बखान में सबमुष कलम तोड़ दी है । यथा—

१. बिनु सद्गुरु कोई भेद न पाया ।

धरती से आकाश ले लाया ॥ (वज्रहनु)

२. बाढ़ काढ़े कालमुख, अंधे लोचन बेई ।

बाढ़ एना गुरु मिला, जीव ब्रह्म करि लेई ॥ (दाढ़)

३. गुरु चरनन पर तन मन बाहूँ ।

गुरु न तजूँ, हरि को तजि डाहूँ ॥ (सहजोबाई)

४. सद्गुरु आदि अनादि है, सद्गुरु मध्य अह भूल ।

सद्गुरु की सिजदा कहूँ, एक पलक नहीं भूल ॥ (गरीबदास)

श्रद्धा और उल्लास का भाव प्रायः गुरु के प्रति आदर और भक्ति निवेदित करते हुए अथवा योग की चरम स्थिति के आत्मानन्द की अनुभूति और प्रेम-मिलन का वर्णन करते हुए व्यक्त हुआ है । गुरु के प्रति भक्ति का जो उत्कर्ष निगुण-संप्रदाय में मिलना है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं । कबीर की प्रसिद्ध उक्ति, जिसमें गुरु को गोविन्द में भी ऊँचा बताया गया है और गुरु को मनुष्य समझनेवालों को अधा कहा गया है, लोक-प्रसिद्ध है ।

गुरु गोविन्द दोनों छड़े काको लागू पाय ।

बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दिया दिखाय ॥ १ ॥

गुरु को मानुष जानते, सो नर कहिए अंध ।

होए दुःखी संसार में, आगे जन्म को फंद ॥ २ ॥

साधक के उद्देश तथा संरक्षण के लिए योग के सभी भागों में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है और आराध्य रूप से भी वहाँ गुरु का ही ध्यान-चिन्तन किया जाता है ।

तत्र-साधना भी योग का ही एक रूप है । इस पथ में तो गुरु ही शिव है । गुरु के बिना वहाँ साधन का श्रीगणेश भी संभव नहीं है ।

इस प्रकार ज्ञान तथा योग में मन्त्रानुष्ठानों एवं तंत्र की साधनाओं में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है ।

तीन प्रकार के गुरु :

एक पक्के संत का कथन है कि गुरु तीन प्रकार के होते हैं—(१) पत्थर, (२) लकड़ और (३) फक्कड़ ।

जो स्वयं भी ठूँके और शिष्य को भी साथ लेता जाए, वह पत्थर गुरु है । जिसके मंत्र और उपदेश का सहारा लेकर शिष्य अपनी श्रद्धा-साधना के बल से पार हो सकता है, वह लकड़ गुरु है ।

एक संत ने चुटकी बजाकर बताया कि जो यो पार कर दे, वे फक्कड़ गुरु हैं ।

फक्कड़ गुरु ही समर्थ और सच्चे गुरु होते हैं । कबीर साहब कहते हैं कि एक ही पहचान है सच्चे गुरु की—पर्दा दूर करे आँख का, निज दर्शन दिखलावे, सतगुरु मोहि भावे ।

किन्तु जिन गुरुओं ने चमत्कार किया, किसी को चुटकी बजाते ही आत्म-साक्षात्कार या भगवत्दर्शन करा दिया, उन्होंने भी अपने समीप आनेवाले सबके साथ ऐसा नहीं किया । इसका कार यह है कि वे व्यक्ति, जिनके साथ चमत्कार हुए, वे पूर्व जन्म के साधन से संपन्न-विशेष थे और सद्गुरु की सहायता से शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सके ।

आज अधिकतर गुरु पत्थर गुरु है । फक्कड़ गुरु की शिष्य-परम्परा में रहने के कारण वे भले ही पत्थर गुरु की कोटि में हों, किन्तु जनता उन्हें गुरु-रूप में ही वरण करती है । इसके प्रत्यक्ष उदाहरण मठाधीश हैं ।

सच कहा जाय तो सब लोग गुरु की कोटि में रहने योग्य नहीं हैं । अधिकांशतः वे स्वार्थ-साधक हैं और उस स्वार्थ को प्राप्त वे उसी प्रकार धन द्वारा करना चाहते हैं, जिस प्रकार ससार की दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करते हैं । अधिकांश लोग तो ऐसे ही गुरु करते हैं कि यदि गुरुदेव के यहाँ जाएँ तो वे खूब स्नेह करें, सम्मान करें, ठहरने और भोजन की सुव्यवस्था करें और बनते समय फल या भीठा प्रसाद दें । घर-भर का कुशल-मंगल पूछें । उनके यहाँ रहने की पूरी सुविधा उपलब्ध हो । ऐसे गुरुदेव प्रायः धनी-मानी श्रद्धालुओं को अपेक्षित हैं, और देश में उनका कोई अभाव नहीं है ।

गुरुदेव को चमत्कारी और ममताशील होना चाहिए । उनकी पहुँच बड़े-बड़े लोगो तक भी हो तो सोने में सुगंध । वे बच्चे को नौकरी लगवा दें, किसी से कह-सुनकर लड़की का ब्याह तय कर दें, व्यापार में कुछ सहायता दिलावें, विपत्ति

में अपसरो को प्रेरित करके अनुकूल बना दे, अनुष्ठान बतावें ही नहीं, बल्कि स्वयं कर दे अथवा किसी से करवा दे, जिससे पुत्र प्राप्ति, धन-प्राप्ति, सफलता, मुकदमे में जीत आदि निश्चित होती हो, वे ज्योतिष के अच्छे जानकार हो, और कुछ दवा-दारू का भी ज्ञान रखने हो। तात्पर्य यह कि ज्योतिषी, अनुष्ठानों के ज्ञाता, वैद्यकशास्त्र से परिचित तथा उच्चवर्ग तक पहुँचवाले गुरुदेव बहुत बड़े वर्ग को अभीष्ट होते हैं। ऐसे लोगों को भी अपने अनुकूल गुरु पाने में कम ही परिश्रम करना पड़ता है।

किन्तु लक्कड़ या पक्कड़ गुरु ही साधक को अभीष्ट स्थान तक जानेवाले मार्ग से परिचित कराते हैं। केवल वह मार्ग ही नहीं बतलाते हैं, प्रत्युत उस मार्ग में आनेवाली सभी कठिनाइयाँ और बाधाओं से भी पहले ही सावधान करके और बाधाओं का किस प्रकार दूर किया जा सकता है और कठिनाइयों पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो सकती है—इन सब बातों पर भली-भाँति प्रकाश डालते हैं जिसमें साधक अपना मार्ग निर्विघ्न समाप्त कर सके।

पक्कड़ गुरु पाने के साधन :

दस्तुतः पक्कड़ गुरु की खोज प्रारम्भ होती है वैराग्य से, सत्संग से, सच्छास्त्रों के पठन-श्रवण से अथवा पूर्वजन्म के ऋण-प्रभाव से। जब चित्त में भागों से वैराग्य हा जाता है, जन्म-मरण के चक्कर से छूटने की इच्छा जाग्रत होती है, आनन्दधन परमात्मा का प्राप्त करने अथवा अपने-आप का, सत्य को जान लेने की तीव्र इच्छा होती है, तब गुरु की आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुभव होता है। आवश्यकता का अनुभव हुए बिना खोज नहीं हुआ करती।

महर्षियों का मिलना दुर्लभ है, मिल भी जाते हैं तो उन्हें पहचानना कठिन है। नारद-भक्तिसूत्र में लिखा है कि सच्चे महर्षि जगल-जगल भटकने, पूछताछ करने या अपने श्रम से नहीं मिलते, बल्कि भगवत्कृपा से महर्षि मिलते हैं। साधक जिस स्थिति का अधिकारी अपने को बना लेते हैं, भगवत्कृपा से वह स्थिति उन्हें तत्काल प्राप्त हो जाया करती है। प्रकाश उन्हें मिलता है, जिन्हें प्रकाश की आवश्यकता होती है। भगवत्कृपा का अर्थ है 'अधिकार-प्राप्ति'। परमार्थतत्त्व का कोई जिज्ञासु जिस स्थिति या साधन

का अधिकारी होता है, उस स्थिति या साधन से से एक क्षण के लिए भी वंचित नहीं रखा जाता। एक संत का कथन है—

“तुम्हे गुरु को नहीं ढूँढ़ना है; गुरु स्वयं तुमको ढूँढ़ लेगा।” ऐसी घटना अनेक उत्कृष्ट साधकों के साथ घटती रहती है।

अद्भुत प्रतिभा एवं चमत्कार-सपन्न महापुरुष प्रायः हिमालय में दिव्य योगियों की निवास-भूमि बताते हैं। उनके वर्णनानुसार वहाँ युगों से सिद्ध पुरुषों का समुदाय निवास करता है और कभी-कभी उन सिद्ध पुरुषों में से कोई-कोई भारतभूमि में अदृश्य या गुप्त रूप से आ भी जाते हैं। ब्रह्मलीन योगिराज लाहिडी महोदय को ऐसे ही एक संत का दर्शन हिमालय पर्वत पर हुआ और बाद में भी वे उन्हें यदा-कदा दर्शन देते रहे। ब्रह्म-विद्या सस्या के सदस्यों का तो विश्वास है कि श्वेत-सध के संत, जिन्हें ‘मास्टर्स’ कहा जाता है, हिमालय में निवास करते हैं और देश-विदेश के साधकों को साधना में सहायता प्रदान करते रहते हैं। उन्हीं लोगों की सहायता से सोसाइटी के कुछ साधक अद्भुत तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का चयन कर सके। जबतक ऐसे महात्मा स्वयं इच्छा न करें, सामान्य मनुष्य उनके दर्शन नहीं कर सकता। अनेक भाग्यवानों को यदा-कदा ऐसे संतों के दर्शन हो जाते हैं।

संतमत योगाभ्यास को मोक्ष का साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार अभ्यास वैराग्यभ्या तन्निरोधः, अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है; दूसरे शब्दों में योग द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्य का उपदेश देनेवाले पद संतों की वाणियों में भरे-पडे हैं।

योगाभ्यास की कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने के अन्तर्मुख साधन के संबन्ध में है। प्रायः सभी संतों ने जिस प्रक्रिया का मुख्यतया उपदेश दिया है, उसे ‘सुरत शब्दयोग’ कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संतकाल के पहले इसका स्यात् इतने विस्तार से अवलंबन नहीं हुआ था। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, स्त्रात शब्द का अपभ्रंश है। दर्शन-ग्रन्थों में स्त्रात का अर्थ है—‘चित्त-वृत्ति-प्रवाह’। अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्द की धारणा की जाती है, अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय किया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मंत्र से तात्पर्य नहीं

है। शरीर के भीतर एवं बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर होती रहती है, जिसे 'अनादृत' (जो बिना किसी प्रकार का आघात किए हुए उत्पन्न हो) कहते हैं। सतो ने इसे अनहद कहा है। गुरु प्रदिष्ट मार्ग द्वारा अभ्यास करने से इस ध्यान की डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असप्रज्ञात समाधि-पद में सहज ही लीन हो जाती है।

ध्यान-विन्दु उपनिषद् में बतलाया है—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।

तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥

अर्थात् अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसको पाने से योगी के शय की निवृत्ति होती है।

शिवसहिता आदि ग्रन्थों में भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्त-वृत्ति के उपक्रम का वर्णन आया है।

इसी ध्वनि का आश्रय लेकर योगी को अन्तर में आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणव का अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव ओंकार ईश्वर का वाचक है। ओंकार के अकार, उकार तथा मकार—इस प्रकार टुकड़े टुकड़े करके अनेक प्रकार के अर्थ किए गए हैं। योगी की दृष्टि में ओंकार आदि शब्द, अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत का आदिम रूप, शब्द तन्मात्रा का सूक्ष्माति-सूक्ष्म सार है। इसलिए पाञ्चभौतिक जगत में ईश्वर की पहली अभिव्यक्ति है। इसी कारण ओम् को उसका वाचक या पवित्र नाम कहा गया है।

संतमते वै सतनाम की महिमा :

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में ओंकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामों से पुकारा गया है, उसी प्रकार संतो ने उसे प्रायः इन्हीं नामों या सत्नाम (सत्य-नाम) कहकर पुकारा है। सत्यनाम की अपार महिमा का उन लोगों ने बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नाद के परे जो भूमिका है, वह नि शब्द अनामी लोक है। उसके अवतरण इस प्रकार हैं—

१. ओम्कार पानी अह पवन । सूर्य, चन्द्र, धनि, महि, धवन ॥

ओम्कार पूजा अह मान । ओम्कार जप संयम ध्यान ॥

ओम्कार तप तीरथ दान । ओम्कार राखें सुर ग्यान ॥

ओष्मकार गुह्य अह वेला । ओष्मकार रहू राखी मेला ॥

ओष्मकार निरंतर बानी । किन जानि तिन गुह्युक्त जानी ॥ (नातक)

२. सतनाम निज सार है, अमर लोक को जाय ।

कह दरिया सतगुरु मिले, ससय सकल मिटाय ॥ (सरिया)

३. मूल मंत्र निज नाम है, सुरत सिन्धु के तीर ।

गंभी बानी अरस ने, सुर नर छटे न बीर ॥ (गरीबदास)

४. तापर अकहलो कहै नाई, पुहच जगामी तहाँ रह्यई ।

जो पहुँचे जानने के बाही, कहन सुनन से न्यारा है ॥ (कबीर)

संतमत और सुरत-शब्दयोग :

संतो ने सुरत शब्दयोग को ही निदिध्यासन की प्रधान प्रक्रिया माना है । वे इसी का भजन भी करते हैं । अभ्यास करते करते योगी को जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतर-उपनिषद् में (अध्याय २।१।१२) आया है कि योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले अनुभव होनेवाले कुक्षरे, सूर्य, वायु, अग्नि, लघोत्त (जुगनु), विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनके रूपग्रह्य की अभिव्यक्ति करानेवाले होते हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर अर्थात् पञ्चभूतमय योग-गुणों का अनुभव होने पर, जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है, उस योगी को न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु होती है । शरीर का हलकापन, निरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगंध और मल-मूत्र की न्यूनता—इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं । इसी विषय का नाद, बिन्दु आदि उपनिषदों में किञ्चित् अधिक विस्तार से वर्णित हैं ।.... .. तंत्रग्रन्थों में भी कहीं-कहीं इसका अच्छा वर्णन है ।

संतो ने भी इस अनुभव का वर्णन किया है । योगी के अभ्यास के प्रसाद से अनुदश भुवन में कोई भी वस्तु नष्ट नहीं रह जाती । वह अग्निमादि सिद्धियों का स्वामी हो जाता है ।¹

सूफी-मत—मुसलमानों में एक फिरका सूफियों का है । इनके सिद्धान्त भी संतमत से लगभग मिलते-जुलते हैं । पीर-परस्ती अर्थात् गुह्य उपासना की इनके

1. श्री संपूर्णानंद : संतमत में साधना ('कल्याण', साधनांक)

यहाँ प्रधानता रहती है। संतमत की तरह गृहस्थ और विरक्त दोनों तरह के मनुष्य इनमें पाए जाते हैं। इनके यहाँ साधन भी संतो के सदृश सरल होते हैं, यद्यपि सूफियों में कुछ लोग तप और वैराग्य का जीवन व्यतीत करते हुए कठिन योग-क्रियाओं के करनेवाले भी देखे जाते हैं। परन्तु श्रेष्ठता भक्ति व प्रेम को ही दी जाती है। ये लोग पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते। अनुभवी ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं। ये संतों की तरह उदार व दयवाले होते हैं। जात-कुजात, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सबको प्रेम की निगाह से देखते हैं और बिना भेद-भाव के, जिज्ञासु देखकर सबको अपना इल्म-रहानी (अध्यात्म-विद्या) देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

‘सूफी’ शब्द का अर्थ है साफ दिलवाला आदमी। जिसने आध्यात्मिक क्रिया द्वारा अपने हृदय को से मलावरण हटाकर उसे शुद्ध कर लिया है, वही सूफी है। हृदय-रूपी दर्पण के निर्मल होने पर ही उसमें प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ का बिम्ब साफ प्रतिबिम्बित हो सकता है, और इसी से मनुष्य को यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इस काम के लिए दो साधन उनके यहाँ मुख्य हैं—(१) तजकिया नफस और (२) तसफिया कल्ब। ‘तजकिया नफस’ इन्द्रियों के दमन को और ‘तसफिया कल्ब’ हृदय की शुद्धता को कहते हैं।

कबीर साहब के समय में भी सूफीमत पूरे विरास पर था। ब्रह्मलीन परम संत डॉ० चतुर्भुज सहाय ने अपने ग्रन्थ ‘एकपिठा और विश्वास’ में सूफी संत मखदूम साहब के कबीर साहब से मिलने की उपदेशपूर्ण, पर रोचक कथा का वर्णन किया है।

कबीर साहब—जब वैष्णव-धर्म में संकीर्णता आ गई, छुआछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण का विचार उठ खड़ा हुआ तथा परमात्मा की स्थूल मूर्ति की पूजा की प्रधानता ने जोर पकड़ा और गोलोक से आगे जाने की इच्छा त्याग दी गई तथा भौतिक सुख को प्राप्त करना अन्तिम लक्ष्य रह गया, तब काशी में श्री रामानन्द जी प्रकट हुए। ये रामानुज संप्रदाय के एक उच्चकोटि के त्यागी साधु थे। ‘राम-नाम’ इनका श्रुत था। परन्तु इनके ‘राम’ अन्य वैष्णवों की भाँति स्थूल नहीं थे, वरन् सर्वव्यापी, चंतन्य एवं सर्वशक्तिशाली थे। इन्होंने जात-पात जैसी विषाक्त विचारधारा का परित्याग कर मनुष्य-मात्र को अपने भेद के नीचे आमंत्रित किया। भगवत्प्रेम के सभी समान अधिकारी हैं—ऐसा एलान

इन्होंने बुलन्द आवाज में किया। श्री कबीर साहब, श्री रैदास जी, सदन कसाई, गणिका बैरवा, सोना नाई, चना जाट आदि इनके मुख्य शिष्य थे। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्यों ने अपनी-अपनी अलग-अलग शाखाएँ स्थापित कर इनके सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया।

कबीर साहब का दर्जा और सब शिष्यों से ऊँचा था। अन्य शिष्य तो सिद्धान्तों में मतभेद होने पर भी वैष्णव-संप्रदाय को नहीं छोड़ सके; किन्तु कबीर साहब ने (१) सत्तनाम, (२) सत्तसम तथा (३) सत्तगुरु की त्रिगुटी बनाकर एक नए मार्ग की नींव डाली, जिसे 'संतमत' कहते हैं। गुरु के आश्रय में रहकर सत्संग के द्वारा सत्तनाम का सुरति से समागम करा देना और उसी के सहारे ध्रुवपद तक चढ़ाई करके पहुँच जाना संतमत है। इस मत में ब्रह्म-वर्त दोनों के परे जो अलख-अगोचर ब्रह्म है, वहाँ तक पहुँचने की कोशिश की जाती है। वही ध्रुवपद और अन्तिम लक्ष्य है। कबीर-पंथी वैष्णवों की भक्ति पत्थर आदि की मूर्ति न बनाकर जिन्दा और मौजूद गुरु को ही ईश्वर का रूप मानते हैं। गुरु में और परमात्मा में वे भेद नहीं समझते और गुरु का ही आश्रय लेकर उन्नति करते हैं। वे राम और कृष्ण को अवतार मानते हैं, पर उन्हें इष्ट नहीं समझते। वे माया में परे की वस्तु हैं, जिनका कोई भी नाम रख लिया जाए। कहा भी है—

एक राम बहारथ घर डोले, एक राम घर घर में बोले।

एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा ॥

× × × ×

इका राम बहारथ घर डोले, निराकार घर-घर में बोले।

बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सबसे ही न्यारा ॥'

कबीर साहब की मुख्य शिक्षा यह थी कि ईश्वर के दर्शन के लिए उसके भक्त का हृदय टटोलना चाहिए, उससे प्रेम का सबंध दृढ़ करना चाहिए। ईश्वर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, उसको पकड़ना या उसके यहाँ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसलिए सबसे सुलभ उपाय यह है कि भक्त किसी सत को बीच में डाल ले, उसके क्वाल से अपना क्वाल मिला दे, यानी दोनों के क्वालों का तादात्म्य

1. 'समय गुरु महात्मा रामचन्द्र जी की जीवनी और उपदेश'

—डॉ० चतुर्भुज सहाय

हो जाए। इस तरह जिज्ञासु अथवा भक्त को ईश्वर तक पहुँचने में ढेर नहीं लगती, उसका सीधा संबंध ईश्वर तक उसी समय हो जाता है। इससे एक-निष्ठा जल्दी प्राप्त हो जाती है, क्योंकि 'दो' का झमेला जाता रहता है। ईश्वर और गुरु अलग-अलग मानने पर ध्यान में कभी ईश्वर आता है और कभी गुरु। साधक को यह अड़चन भी जाती रहती है। वह एक पर ही निष्ठा रखने से अति शीघ्र शान्त हो जाता है। बताया गया है कि विश्व-प्रेम प्राप्त करो, भेद-दृष्टि दूर करो, सबमें ईश्वर का ही वास समझो। ये सब बातें इस प्रकार के साधन करनेवालों को बहुत जल्द मिलती हैं। इसका सबसे सरल उपाय यही है कि प्रथम एक मनुष्य के लिए मन के भाव को बदलो। जब उसमें नृति न रहे तब धीरे-धीरे उसका विस्तार करते चलो और अन्त में उसे बढ़ाकर विश्व में फैला दो। इससे भेद-दृष्टि मिट जाती है और आत्म-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। आत्म-दृष्टि के खुलने पर प्राणिमात्र ईश्वर का रूप दिखाई देता है, सारे ससार में उसी का वास नजर आता है। प्रत्येक वस्तु उसके दिव्य रंज में छलकती हुई नजर आती है। यही ईश्वर-प्राप्ति है। इसका प्रमाण उनकी साखियों में मिल रहा है। वे कहते हैं :¹

मन तेरा पंछी मया, उड़कर चला अकास ।
स्वर्गलोक खाली पड़ा, साहिब संतन पास ॥
गुडकी मानुस जानते, सो न कहिए अंब ।
होए बुझी संसार में, आगे जन को फव ॥
पूरा सों परचय मया, बुख-सुख-मेला दूर ।
जपसों बाकी कट गई, साईं मिला हज़र ॥
प्रेम-ध्याला भर दिया, राख रहा गुरु-जान ।
दिया नगाड़ा प्रेम का, लाल छड़े मंदाव ॥

आज संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, वह संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से बहती आ रही है। कबीर-कालीन संतमतों के अतिरिक्त भारत में गत दो सौ वर्षों के भीतर कतिपय संतमत स्थापित होकर आज जन-कल्याण में संलग्न हैं। इनमें (१) साहिब-पंथ,

(२) नागी संप्रदाय, (३) संतमत-सत्संग, (४) राजास्वामी मत, (५) रामा-जय-सत्संग, (६) ब्रह्मजी सत्संग और (७) सिक्ख-संप्रदाय प्रमुख हैं ।

१. साहिब-पंथ—साहिब-पंथ के प्रवर्तक तुलसी साहेब थे । इनका दूसरा नाम साहेब जी था । इनके जन्म और मरण की तिथियों की जानकारी नहीं है । ज्ञात होता है कि ये सुदूर दक्षिण के थे । कहा जाता है कि ये बाजीराव पेशवा के बड़े भाई थे । इनके पिता जब इन्हे राजगद्दी पर बैठाना चाहते थे, तब ये निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व किसी तुर्की बाड़े पर सवार होकर भाग गए । कहते हैं कि तुलसी साहेब ने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया । ये सदा सत्संग में ही रहकर संतमत के रहस्यों से पूर्णतः परिचित हो गए थे और इन्होंने अपनी साधना अपने-आप कर ली थी ।

संत तुलसी साहेब के जीवन की अधिकांश घटनाओं का हाल विदित नहीं है । आपने हाथरस (उत्तर प्रदेश) से एक मील पर जोगिया नामक ग्राम में अपना सत्संग जारी किया और बहुतों को सन्मार्ग पर ला दिया था । अक्सर ये गहरे विचार में डूबे रहते थे और आवेश की दशा में इनके मुँह से जो वारा-प्रवाह वाणी निकलती थी, वह उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत रहा करती थी । उस समय इनके निकटवर्ती सेवक इनके भाषणों या प्रवचनों को शब्दों में अंकित कर लेते थे । इस प्रकार अनेक शब्दों से मिलकर इनकी शब्दावली बन गई ।

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'शब्दावली' से ज्ञात होता है कि साहेब जी का देहावसान ८० वर्ष की आयु में संवत् १८९९ या १९०० में ज्येष्ठ सुदी द्वितीया को हुआ ।

तुलसी साहेब की रचनाओं में 'घटरामायण', 'शब्दावली' तथा 'रत्नसागर' नाम की तीन पुस्तकें उल्लेख्य हैं, जो उक्त प्रेस से प्रकाशित हो चुकी हैं । शब्दा-वली भाग २ के अंत में 'पंचसागर' नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ भी छपा मिलता है । घटरामायण बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें पिण्ड और ब्रह्माण्ड का रहस्य देने के अनन्तर वैराग्य, योग, अक्ति तथा ज्ञान का वर्णन आया है । संत मेंहीदास के अनुसार इसमें तुलसी साहेब की निर्मित अछूती-वाणी स्वल्प-मात्र है, अधिकांश ओपक ही है ।

संत तुलसी साहेब अपने मत को सतमत की सज्ञा से अभिव्यक्त करते थे । इनके कथनानुसार वास्तविक रहस्य को ब्रह्मा, विराट आदि तक नहीं जानते । इस मत का कोई अन्त नहीं है, किन्तु इसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त घट में सभी संत निरन्तर निवास करते हैं । ये कहते हैं कि सत्संग तथा सतगुरु ने मुझे संतपथ की ओर उन्मुख कर दिया । मैंने उससे परिचित हो जाने पर किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझी, और न नया पथ ही चलाया । इन्होंने कबीर, नानक, दादू, दरिया, रैदास, मीरा तथा नाभा का आदर्श सत के रूप में वर्णन किया है, किन्तु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशों के द्वारा उनके विविध अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है । नानक-पथ अथवा सिक्ख-धर्म के बाहुगुरु, कड़ा, प्रसाद तथा ग्रन्थ जैसे शब्दों से भी भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है ।¹

संत-परम्परा के इतिहास में इनके व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व है । इनके द्वारा प्रचलित किया गया पथ 'साहिब-पथ' के नाम से प्रसिद्ध हो चला । इनके सहजो अनुयायी भारत के विभिन्न नगरों में पाए जाते हैं ।

संत तुलसी साहेब की समाधि हाथरस में उसी स्थान पर आज भी वर्तमान है, जहाँ बैठकर वे नित्य उपदेश दिया करते थे । यह साहिब-पथियों का प्रधान तीर्थस्थान समझा जाता है । इसे तुलसी साहेब का मन्दिर (किला दरवाजा) कहते हैं । यहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीया को भण्डारा होता है ।

२. नागी संप्रदाय—नागी संप्रदाय के मूल प्रवर्तक सत डेढराज का जन्म सवत् १८२८ वि० में पंजाब के नारील तहसील के अन्तर्गत थाक्स ग्राम में हुआ था । इनका सक्रिय कार्यक्षेत्र अधिकतर नारील से लेकर गुरगाँव जिले तक रहा ।

कहा जाता है कि डेढराज ने तीन ग्रन्थों की रचना की, किन्तु आज इनमें से किसी का पता नहीं चलता । कहा जाता है कि इनके भजन और उपदेश इनके अनुयायियों के पास सुरक्षित हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि इस पंथ के अनुयायियों के साथ सत्संग करनेवालों का कहना है कि ये लोग राम नामधारी परमात्मा को मानते हैं, जो निराकार, अद्वितीय, अतुलनीय,

1. श्री परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत में सत-परम्परा पृ० ७८४,

शाश्वत तथा सर्वव्यापक है। वही एकमात्र सत्य है और उसी का पसारा (प्रसार) सर्वत्र सञ्चित होता है। उसके सिवा ये किसी भी देवी या देवता का अस्तित्व नहीं मानते। ये हिन्दू और मुसलमान की साधनाओं का समान रूप से आदर करते हैं। स्त्रियों को इस संप्रदाय में समान अधिकार प्राप्त है। प्रार्थना के अवसर पर सभी अनुयायी एक ही पंक्ति में एकत्र हुआ करते हैं, पद गा-गाकर झुमा करते हैं और कभी-कभी भावावेश में आकर नाचा भी करते हैं।

इनका प्रधान मठ गुरगाँव जिले के भिवाना नामक स्थान में है। खेतड़ी-अब्जल के चुरना गाँव में भी एक मन्दिर है, जहाँ संत डेढराज का पूजन नेह-कलंक या कल्कि-अवतार के रूप में होता है। इस पंथ के अनुयायियों की अधिक संख्या वर्तमान हरियाणा राज्य के गुरगाँव, नारोल आदि में पाई जाती है।

सत्य के प्रति विशेष आस्था और गुह्याचरण इस पंथ के अनुयायियों की विशेषताएँ हैं। इनका ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर भी गया था। समाज के अन्तर्गत सारी कुरीतियों का मूलोन्मूलन तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर देना परम कर्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर की आराधना के संबंध में सबका समानाधिकार, मूर्ति-पूजा की व्ययंता तथा ग्रन्थ-विशेष के प्रति आस्था—इस संप्रदाय के अन्य नियम कहे जाते हैं।

३. संतमत-सत्संग—संतमत-सत्संग की सबप्रथम प्रेरणा प्रदान करनेवाले महागुरुष बाबा देवी साहेब समझे जाते हैं। इनका जन्म सन् १८४१ ई० में हुआ था और मृत्यु सन् १९१९ ई० में हुई। ये मुरादाबाद के सतसई मुहल्ले में रहते थे।

इनके सङ्घदेशों का सारांश बतलाते हुए परमहंस मेहीदास ने कहा है कि सभी संतों के प्रति ये श्रद्धा-भाव रखते थे। इनके मत को संतमत का नाम देते थे तथा 'सत्संग' शब्द से इनका अभिप्राय ईश्वर-भक्ति का उपदेश था। चाहे कोई किसी धर्म या संप्रदाय का भ्रू को, उसे बराबर ध्यानाभ्यास में निरत रहना चाहिए। इनका दृष्टिकोण (दृष्टि संज्ञित) तथा इनका शब्दयोग (शब्द-साधन) कबीर साहेब द्वारा अनुमोदित साधनाओं से भिन्न नहीं कहे जा सकते। जिस प्रकार संगीत-मण्डली में सभी साजों को एक समान कस लेने पर उन सबकी ध्वनियों में एकता आ गई प्रतीत होती है, और उन्हें पृथक्-पृथक् निरूपित करना कठिन है; उसी प्रकार सभी शब्दों तथा ध्वनियों के मूल में हम सूक्ष्मतम

सार शब्द की कल्पना कर सकते हैं। यह सूक्ष्मतम नाद चिरकाल तक रहता है और उसमें अत्यन्त मनुष्य की मति भी उसी प्रकार स्थिरता प्राप्त कर ले सकती है।^१ तदनुसार बाबा देवी साहेब ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए उक्त शब्दयोग का उपदेश देते थे। उसके पूर्व उक्त दृष्टियोग का अभ्यास कर लेने का आग्रह भी करते थे, जिसके बिना इस प्रकार का ध्यान करना अत्यन्त कठिन बन जा सकता है। बाबा साहेब की एक अन्य विशेषता सभी के लिए जीवन में सदाचार तथा स्वावलम्बन की आवश्यकता भी कही जाती है।

बाबा देवी साहेब के प्रमुख शिष्यों में बाबा नन्दन साहेब, धीरजलाल गुप्त (गुरुजी साहेब), रामदास चौधरी (ध्यानानन्द), राजेन्द्रनाथ जी तथा मेहीदास जी के नाम लिए जाते हैं। इनमें धीरजलाल गुप्त और रामदास चौधरी पूर्णिया जिले (बिहार) के रहनेवाले थे। इनके द्वारा सतमत का प्रचार इस अञ्चल में हुआ। इन दोनों से ही प्रेरणा पाकर मेहीदास जी सतमत की ओर आकृष्ट हुए और राजेन्द्रनाथ ने इनका पथ-प्रदर्शन किया। मेहीदास जी को इन गुरुभाइयों की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहयोग मिलता गया और आज आपने सतमत के सतों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है तथा आपके लाखों अनुयायी सतमत में सम्मिलित हो चुके हैं।

परमहंस मेहीदास पूर्णिया जिले के निवासी हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था। आपकी शिक्षा इन्द्रेन्स क्लास तक हुई थी, जिसको आपने सन् १९०४ ई० में परीक्षा-काल में त्याग दिया था। शैशवं-काल से ही आपकी धार्मिक प्रवृत्ति रही। रामचरित-मानस से आपको अत्यधिक प्रेम था। साधु-संतों के सत्संग में रहना पसन्द करते थे। अपने विद्यार्थी-जीवन-काल में ही आपने दरिया-पथी योगी रामानन्दन से दीक्षा ली थी। आपकी आध्यात्मिक जिज्ञासा बलवती हो चली और आप गुरु की खोज में निकल पड़े। दूर-दूर का भ्रमण करने के बाद अन्त में बाबा देवीदयाल की शरण में सन् १९०९ ई० में आए। इनके यहाँ से इन्हें 'सुरत-योग' की साधना का रहस्य सन् १९१२ ई० में प्राप्त हुआ। इन्होंने बाबा साहेब के आदेशानुसार अपनी साधना का अभ्यास बड़ी तत्परता के साथ किया, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका चित्त स्थिर हो चला और इनको सतमत का पूरा बोध हो गया।

१. श्री मेहीदास-वचनानुसृत

परमहंस मेहीदास की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनकी विचारधारा अन्य संतों जैसी है। ये परमसत्त्व का वर्णन कहीं-कहीं में करते हैं, जिनका प्रयोग संत कबीर के समय से होना आया है। मुख्य संसार केवल इतना ही प्रतीत होता है कि इनके पूर्ववर्ती संत लोग केवल अपनी अनुभूति-मात्र या अपने से पूर्व के संतों के कथनों की ओर संकेत कर देते थे, परन्तु मेहीदास जी उपनिषद् आदि का जी हवावा दे दिया करते हैं। वास्तव में वे अपने वक्तव्य को पूर्णतः साधार प्रमाणित करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपने विचार को अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देने का यत्न करते हैं। इसी तरह प्रभुसत्ता का परिचय देते समय एक स्वर पर बताते हैं : “अपरा (अहं) और परा (भित्त) दोनों प्रभुतियों के परे अगुण एवं सगुण, परन्तु अनादि-अनात्म-स्वस्फी, अपरंपार, शक्तियुक्त, वेद-कामातीत, शब्दातीत, नाम-रुपातीत, अद्वितीय; अन, बुद्धि और इन्द्रियों से ऊपर, जिस परम सत्ता पर यह सारा अकृति-मण्डल एक महान् यंत्र की नाईं परिचालित होता रहता है, जो न व्यक्त है न व्यक्त, संतमत में उसी को परम अध्यात्मपद या परम अध्यात्म-स्वस्फी पद प्रभु सर्वेश्वर मानते हैं।” इन्होंने इसी प्रकार उस अव्यक्त से व्यक्त हुए सर्व-व्यापक आदिशब्द के विषय में भी कहा है—“इस शब्द के द्वारा परमप्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है; इसलिए इस शब्द को परमप्रभु का नाम रामनाम कहते हैं। यह सबके साररूप से है, तथा यह अपारवर्तनशील है। इसलिए इसको सारशब्द, सत्य शब्द और सत्यनाम हिन्दी-संतवाणियों में और उपनिषद् में ओम् कहा है। इसलिए यह आदिशब्द ससार में ओम् कहकर विख्यात है।” जीवात्मा को इन्होंने उसी प्रकार अक्ष कहा है और बताया है कि वह उसी प्रकार उसमें पृथक् जान पड़ती है, जिस प्रकार घटाकाश को महाकाश या नभ से अलग समझ लिया जाता है। दोनों के बीच तम, प्रकाश तथा शब्द के मानो तीन प्रकार के पद के आवरण पड़े हुए हैं, जिन्हें दृष्टि तथा ध्वनि के योग की साधना द्वारा दूर कर देना चाहिए।

बाबा देवी साहेब द्वारा प्रचारित संतमत को स्वीकार कर देने पर परमहंस मेहीदास ने अपने जीवन को तबनुसार ढाल दिया। उसकी महत्ता में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरम्भ किया।

ये भ्रमण के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढ़ाने में यत्नशील रहे हैं। इन्होंने उसके लिए प्राचीन ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन सतों की उपलब्ध वाणियों का भी मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया और (१) रामचरितमानस-सार (सटीक), (२) विनयपत्रिका-सार (सटीक), (३) भावार्थ-संहिता (घट-रामायण), (४) वेद दर्शन-योग, (५) गीतायोग-प्रकाश, (६) सत्संग-योग, (७) सतमत का सिद्धान्त, (८) गुरु-कीर्तन, (९) पदावली, (१०) वचनामृत आदि ग्रन्थों का प्रणयन-संकलन किया, जो सर्वथा पठनीय हैं।

अपने ८४ वर्ष की आयु में भी तत्परता के साथ संतमत-सत्संग के प्रचार में संलग्न रहे हैं। समय-समय पर स्थान-स्थान पर सत्संग-समारोह होता है, जिसमें हजारों भक्त तथा साधक योग देते हैं। आरम्भ में आप गंगा-तटवर्ती मिनियारी घाट पर अधिकतर निवास करते थे, किन्तु कुछ वर्ष हुए, भागलपुर नगर के कुम्पाघाट पर बड़ा ही सुन्दर और भव्य आश्रम तथा सत्संग-भवन बन गया है। कुछ वर्ष पूर्व इस स्थान पर दो महान्त संत—परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी तथा परमहंस मेंहीदास जी का अद्भुत मिलन, सत्संग और उपदेश देसने-सुनने का मुझे सीधाय प्राप्त हुआ था।

संतमत-सत्संग का विशेष प्रचार बिहार-राज्य के पूर्णिया, भागलपुर, सहरसा आदि जिलों में तथा उसके पश्चिमी अंचलवाले क्षेत्र में ही दीख पड़ता है। किन्तु इसका प्रभाव अन्यत्र भी बढ़ता जा रहा है।

संतमत-सत्संग की कार्य-प्रणाली अधिकतर मंडनात्मक तथा तर्क-व्यक्ति-प्रतीत होती है। इनकी अन्य विशेषताओं में सर्वसाधारण का ध्यान सदाचार तथा स्वावलम्बन की ओर समुचित ढंग से आकृष्ट करना है। इस बात के लिए उन्हें तैयार भी करते रहना है कि वे वास्तविक जीवनादर्श के पालन में कभी ढिलाई न आने दें। सत्संग की अपनी साधना-संबंधी विशेषता दृष्टियोग की उस प्रक्रिया में दीख पड़ती है, जिसे ध्यानयोग का एक प्रारम्भिक प्रयास कहा जा सकता है। इस सत्संग ने संतो द्वारा प्रचारित 'सुरति-शब्दयोग' को परम आवश्यक माना है और इसकी ओर सभी साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस मत के अनुसार बिना किसी प्रकार के ध्यानयोग का अभ्यास किए हम कभी कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इस वर्ग के अनुयायियों को प्रायः प्रत्येक बात की वैसी गोपनीयता बरतने और हम नहीं पाते, जिसे सांप्रदायिक

संकीर्णता को प्रथम मिले । संतमते-सत्संग को हम वस्तुतः संत-परम्परा को एक नवीनतम कड़ी के रूप में देख सकते हैं तथा इसके अविच्छेद के संबंध में कुछ आशा कर सकते हैं ।

४. राधास्वामी-मत—इस मत के आदि आचार्य का नाम श्री विजयदास सिंह साहेब था । आपके अनुयायी आपको परमगुरु स्वामी महाराज कहकर पुकारते हैं । आपका जन्म आगरा शहर के पत्नी गली मुहल्ले में ब्राह्म-कुण्डोष्टमी, संवत् १८७५ वि०, को रात्रिकाल साढ़े बारह बजे एक बच्चे के रूप में हुआ था । आपके जन्म कारण करने के अवसर पर आपके घर 'साहिब-पंथ' के प्रवर्तक हाथरस के सुप्रसिद्ध मेहात्मा संत तुलसी साहेब भी जा उपस्थित हो गए थे तथा उन्होंने इस नवजाते शिशु की चरम आध्यात्मिक शक्ति-संपन्नता तथा उच्च गति का संकेत भी किया था । उन्होंने स्वामी महाराज का बताते-कहा था : "महाराजी जी ! तुम इनको पुत्र-भाव करके मत समझना, वह कोई परम संत आकर तुम्हारे यहाँ जन्मा है ।" आपके पिता का नाम श्री दिलवाली सिंह था । वे नानक-पंथी थे । छह-सात वर्ष की अवस्था में ही आप मुख्य-मुख्य लोगों को परमार्थ की शिक्षा देने लगे थे । आध्यात्मिक क्षेत्र में आपका कोई गुरु नहीं था और न आपने किसी से दीक्षा ही ली थी, अपितु स्वयं ही अपने माता-पिता तथा अन्य आगन्तुक साधु एवं जिज्ञासुओं को आप पार-मार्थिक उपदेश दिया करते थे । लगभग पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक आप अपने मकान के एक प्रकोष्ठ में बैठकर 'सुरत-शब्दयोग' का अभ्यास करते रहे और इस बीच कभी कभी दो-दो, तीन-तीन दिनों तक उससे बाहर भी नहीं निकलते थे और न इस अवकाश में आपको मल-मूत्र-त्याग की आवश्यकता ही पड़ती थी । आपने अपने जीवन-निर्वाह के लिए अध्यापन का कार्य किया था । आप गृहस्थाश्रम में ही रहे । स्वामी जी महाराज के कोई सन्तान न थी । राधास्वामी मतावलंबी आपको राधास्वामी (परमात्मा) का अवतार मानते हैं । संवत् १९१७ की बसंत-पंचमी से आपने प्रकट रूप से सत्संग-कार्य आरंभ किया और अपने घर पर ही जिज्ञासुओं से वर्ष-वर्षा करने तथा उन्हें उपदेश देने लगे । आपका सत्संग निरन्तर लगभग वर्षों तक दिन और रात चलता रहा, और इस काम में श्रित-भित्त जाति के लगभग तीन हजार भक्तियों ने आपकी शरण स्वीकार

की। आपकी महिमा और अलौकिकता की बात क्रमशः दूर-दूर तक फैल चली और आपकी आध्यात्मिक शक्ति की परख लोगों को मिलने लगी। सत्संग का कार्य बढ़ने लगा, अतः आपने अध्यापन-कार्य का परित्याग कर दिया। जब आपके भाई को नौकरी लग गई, तब आपने सूद पर रुपए देने का पारिवारिक व्यवसाय भी केवल छोड़ ही नहीं दिया, बल्कि कजंदारो के दस्तावेज भी फाड़कर (नष्ट कर) बहुत बड़े त्याग का परिचय दिया।

स्वामी जी महाराज अन्य पूर्व सत्तों की भाँति सत्यनाम का ही उपदेश दिया करते थे। राधास्वामी नाम को आपने अपने पूरे गुरुमुख (उत्तराधिकारी) परम गुरु हुजूर साहेब (राय शालिग्राम साहेब बहादुर) द्वारा प्रकट कराया और सबसे 'राधास्वामी' नाम का ही उपदेश दिया जाने लगा।

राधास्वामी नाम से बहुतों को भ्रम हो जाता है कि इस मत का कृष्ण-बल्लभा गोपी राधा से संबंध है। किन्तु वास्तव में परम संत कबीर साहेब, जो संवमत के आदिगुरु माने जाते हैं, की निम्नांकित गुरुवाणी ही इस नाम का आधार है :

कबीर बारा अगम को, सतगुरु बई लखाय।

ताहि उलटि सुमिरन करि, स्वामी संग लगाय ॥

आपने 'सार-वचन-नजम' (पद्य) तथा 'सार-वचन-नसर' (गद्य) नाम की दो पुस्तकें लिखीं, जो राधास्वामी-मत की मुख्य एवं प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं। आपका समाधि-मन्दिर स्वामी-बाग, आगरा में है, जो अबतक बन ही रहा है। इसमें अबतक अपार धन लग चुका है। सारा मन्दिर सगमरमर के पत्थर से निर्मित हो रहा है। इसकी वास्तुकला अद्भुत है। आशा की जाती है कि संपूर्ण संसार में यह एक अद्वितीय स्मारक तथा आपके प्रति आपके अनुयायियों का एक अपूर्व प्रेम-प्रतीक होगा। इसमें प्रत्येक देश और जाति की वास्तुकला की शैलियों के नमूने पाए जाएंगे।

स्वामी-बाग में ही आपका वार्षिक भंडारा आपके निधन के दिन आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर दूर-दूर से सत्संगी लोग एकत्र होते हैं।

'सार-वचन' की भूमिका के अनुसार राधास्वामी-मत में तीन चीजें आवश्यक हैं—(१) गुरु, (२) नाम तथा (३) सत्संग। ये ही तीन चीजें बंसीलएँ (सहायक) निजात (उद्धार) की हैं। अथवा गुरु बुरा और सत्संग हीमा चाहिए,

यानी संत सद्गुरु। वंशावली के गुहों से काम नहीं चल सकता। नाम भी सबसे ऊँचा और सच्चा, पूरा और असली होना चाहिए। तीसरा, सत्संग भी सच्चा चाहिए। उसकी दो किस्में हैं - एक सत्संग है अन्तरीय और दूसरा बाहरी। अन्तरीय सत्संग यह है कि जब अम्यासी अपनी सुरत यानी जीवात्मा का रूढ़ को अन्दर में बड़ाकर सत्पुरुष राधास्वामी (मगवान) के चरणों में लगावे, उस तरफ मुतवज्जह हो। और, दूसरा यह कि जब उसको दर्शन और सत्संग सत्पुरुष का, जो कि सच्चे व पूरे सत या साधु हैं, नसीब होवे और उनके बचन सुने और दर्शन करे और जो सेवा बन सके, करे। इन दोनों किस्मों के सत्संग से कई दिनों में हासत बदलती हुई साफ मालूम होगी।

राधास्वामी मत उन्नति का साधन है। वह बतलाता है कि 'किछी एक स्थान पर न ठहरो, बना काम न बनेगा। चलो, चलो, बढ़ते चलो और बिना ध्रुव तक पहुँचे बंन न लो और तुम्हारी पहुँच इष्ट पद तक हो जाएगी।

सहस्र कोंकल्लु डेरा डालो, जोत में जोत मिलाओ।

जोत निरंजन जोती झलके, जंटा, शंख बजाओ।

जोत शब्द की निरख-परख में, गुह का ध्यान लगाओ।

मेवा बरसे बिजली चमके, अमृतधार बहाओ ॥

राधास्वामी-संतमत का मार्ग भक्ति-मार्ग है, यानी सच्चे और पूरे मालिक के चरणों में प्रेम, प्रीति और प्रतीति करना। इसको उपासना भी कहते हैं। इस मार्ग में या तो सत सतगुरु और साधुगुरु की महिमा है या उनके असली शब्द-स्वरूप की महिमा है। संत सतगुरु उनको कहते हैं, जो सत्पुरुष और राधास्वाम सुकाम पर पहुँचे हैं। साधु गुरु उनको कहते हैं, जो ब्रह्मा या परब्रह्म के स्थान पर पहुँचे हैं और जो यहाँ तक नहीं पहुँचे, उनको साधु या सत्संगी कहा जाता है। इन दोनों, यानी सत और साधु का असली स्वरूप 'शब्द-स्वरूप' है। जाहिरी स्वरूप तो इन्सान की सटका (मानव-देह) है, जो कि लोगों को समझाने और बुझाने तथा उपकार अथवा उद्धार के लिए शरीर धरकर ससार में प्रकट होते हैं। जब यह मालूम हुआ कि वह पूरे सत या पूरे साधु है, तब फिर उनमें और सत्पुरुष परब्रह्म में भेद नहीं माना जाता है। इस वास्ते जब-जब पूरे संत या पूरे साधु प्रकट होते हैं, तब उनके चरण-सेवक उनकी महिमा सत्पुरुष या परब्रह्म

के बराबर करते हैं, और बाहर से उनकी पूजा, सेवा, आरती बगैरह उसी तौर से बणा लाते हैं जिस तौर से मालिक (भगवान) की करनी चाहिए। इसी जाहिरी स्वरूप की सेवा, दर्शन, वचन-श्रवण व उनके चरण में प्रेम-प्रीति करने से और जो उपाय वे बतलाएँ, उनका अभ्यास करने से 'सुरत' यानी जीवात्मा मन और माया के जाल से अलग होकर आकाश में और उससे भी ऊँचा चढ़ती है। अन्त में जब स्वरूप यानी शब्द में पहुँचती है तब सच्चा और पूरा उद्धार जीव का होता है।

इससे प्रकट है कि राधास्वामी-मत वास्तव में प्रेम-मार्ग और भक्ति-पथ है। उसमें गुरु से प्रेम किया जाता है, मगर यह जरूरी शर्त है कि गुप्त या तो संत हो या साधु, तब काम बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दों में यह एकमात्र गुरु-पूजा (मुरशिद-परस्ती) का मार्ग है।¹

राधास्वामी-मत के प्रथम आचार्य के निधन के पश्चात् आपके प्रमुख शिष्य राय शालिग्राम साहेब बहादुर ने सत्संग का कार्य-भार ग्रहण किया। आपकी इस मत के अनुयायी परमगुरु 'हुजूर साहेब' कहकर संबोधित करते हैं। आपका जन्म आगरा में एक माधुर्य-परिवार में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, सं० १८८५ वि० में हुआ था। शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद आपने भारत-सरकार के डाक-विभाग में काम करना शुरू किया और इस विभाग के पोस्टमास्टर-जेनरल के पद पर पहुँचकर अवकाश ग्रहण किया। उस समय तक इस पद पर पहुँचनेवाले आप सर्वप्रथम भारतीय थे।

आपकी भक्ति बहुत ही उच्च एवं आदर्श कोटि की थी। आप जीवन-भर अधिक-से-अधिक समय अपने प्रीतम हुजूर राधास्वामी दयाल की भक्ति में ही व्यतीत करते थे। आपने कुल ग्यारह पुस्तकें लिखी हैं। इनमें 'राधास्वामी-प्रकाश' अंग्रेजी में और शेष हिन्दी में हैं। हुजूर साहेब लगभग २० वर्षों तक सत्संग का भार ग्रहण कर ६ दिसम्बर, १८९८ ई० को ७० वर्ष की आयु में परलोकवासी हुए। आपमें एक विचित्र आकर्षण था। आपमें दया और क्षील की मात्रा बहुत थी और बहुत ही उदारचेता थे। आपके 'प्रेम-विलास' नामक मकान में ही आपकी समाधि बनी। यहाँ पर २७ दिसम्बर को आपका वार्षिक श्रद्धा होता है। आपके नाम से आगरा में एक बाग है, जिसे 'हुजुरीबाग' कहते हैं।

इस मत की एक विशेषता है कि इस मत के आचार्य के पुत्र, स्त्री अथवा प्रथम शिष्य के नाते कोई गद्दी का अधिकारी नहीं माना जाता। जब कोई आचार्य अपना शरीर-त्याग करता है, उस समय अथवा उसके पूर्व ही वह अपने उत्तराधिकारी के संबंध में सकेत कर जाता है। हुजूर साहेब ने पं० ब्रह्मशंकर मिश्र जी को, जिन्हें इस मत के अनुयायी परमगुरु 'महाराज साहेब' कहकर संबोधित करते हैं, अपना उत्तराधिकारी होने का उल्लेख अनेक बार आम-सत्संग में ही स्पष्ट रूप से कर दिया था।

राधास्वामी-संतमत को आज कुछ शाखाएँ हो गई हैं, जो मूल शाखा से स्वतंत्र हैं। दूसरे गुरु 'हुजूर साहेब' के जीवन-काल में ही श्री जयमंगल सिंह ने डेराव्यास में स्वतंत्र गद्दी की स्थापना की। आज इस गद्दी का कार्य 'रहानी सत्संग' के नाम से संत कृपाल सिंह द्वारा संचालित होकर जगत-प्रसिद्ध हो गया है। दूसरे गुरु के दो प्रधान शिष्य पं० ब्रह्मशंकर मिश्र तथा महर्षि शिवब्रत लाल थे। ब्रह्मशंकर मिश्र 'महाराज साहेब' के नाम से तीसरे गुरु हुए और महर्षि शिवब्रत लाल ने गोपीराज में अलग गद्दी की स्थापना की। महर्षि शिवब्रत लाल बहुत बड़े विद्वान थे। राधास्वामी-सत्संग में कदाचित् ही किसी व्यक्ति ने इनके समान ग्रन्थ का निर्माण किया है या इनके समान प्रचार-कार्य में लगे। अवधूत-गीता तथा श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों का संतमत के आधार पर अपने अनुवाद भी किया है।

तीसरे गुरु पं० ब्रह्मशंकर मिश्र ने अंग्रेजी में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवम्बर, १८८५ ई० में हुजूर साहेब की शरण स्वीकार की तथा सन् १९०१ से १९०७ ई० तक आपने सत्संग का भार-बहन किया। बनारस के कबीरचौरा मुहल्ले में आपका समाधि-मन्दिर है, जो स्वामी-बाग के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पंचमी तथा नवमी को आपका वार्षिक मंडारा हुआ करता है। आपने अंग्रेजी में 'डिस्कोसेज ऑन राधास्वामी फेथ' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

तीसरे गुरु महाराज साहेब के चार प्रमुख शिष्य—(१) माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा, (२) सुंकी कामता प्रसाद (सरकार साहेब), (३) श्री आनंद स्वरूपजी (साहेब जी) और (४) श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती थे। बुआजी महाराज साहेब की बहन थीं। आपकी आध्यात्मिक साक्षात् ज्ञान, क्रोडि की

थी। महाराज साहेब ने राधास्वामी-सत्सग को सुचारु रूप से चलाने के सद्गुरु से सन् १९०२ ई० में केन्द्रीय शासन-समिति की स्थापना की। इसके अन्तर्गत छोटा-सी कार्यकारिणी समिति भी बनी। सबधित नियम और उप-नियम बने। सन् १९०४ ई० में सात सदस्यों का ट्रस्ट बना और उसकी रजिस्ट्री भी हुई। लगभग नौ वर्ष तक सत सद्गुरु का कार्य-संचालन करने के बाद जब महाराज साहेब का निधन अक्टूबर, १९०९ ई० में हुआ, तब उनके उत्तराधि-कारी संत सद्गुरु का प्रश्न उपस्थित हुआ। केन्द्रीय शासन-समिति और ट्रस्ट के अधिकांश सदस्यों ने श्रीमती माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा को संत सद्गुरु माना, यद्यपि कुछ काल पूर्व प्रसंगवश एक सत्सगी ने महाराज साहेब से पूछा था कि "स्वामी जी महाराज के निधन पर उनकी धर्मपत्नी, जो अध्यात्म-पथ पर बहुत आगे थीं, संत सद्गुरु क्यों नहीं मानी गई?" महाराज साहेब ने उत्तर में कहा था कि परम पूज्य स्वामी जी महाराज के पूर्व किसी सत का उत्तराधिकारी संत सद्गुरु कोई महिला न हो सकी थी। महिला में 'निजधारा' (शक्ति) का प्रवेश नहीं होता। अतः राधास्वामी-मत की ११६ शाखाओं में से १११ शाखाओं ने मुरार (भोजपुर जिला, बिहार)-निवासी श्री कामता प्रसाद सिन्हा को ही संत सद्गुरु माना। भिन्न-भिन्न स्थानों के रहनेवाले अनेक सत्संगियों को स्वप्न हुआ कि सत सद्गुरु महाराज की 'निजधारा' कामता बाबू में प्रवेश कर गई। बहुतों ने 'महाराज साहेब' के स्वरूप को 'सरकार साहेब' (कामता बाबू) के स्वरूप में परिवर्तित होते भी देखा। इस प्रकार 'सरकार साहेब' के उपनाम से श्री कामता प्रसाद सिन्हा चौथे संत परम गुरु हुए।

'हुजूर महाराज' ने अपने जीवन-काल में ही अपने प्रमुख शिष्य प० ब्रह्म-चक्र मिश्र को दीक्षा देने का अधिकार दे दिया था। अतः १८९१ ई० में आपने श्री कामता प्रसाद सिन्हा को दीक्षा दी और ध्यान की प्रक्रिया समझा दी। कुछ काल बाद महाराज साहेब ने कामता बाबू को हुजूर साहेब के सम्मुख उपस्थित करतै हुए निवेदन किया कि वे एक अप्राप्य उपहार प्रस्तुत कर रहे हैं। तत्पश्चात् जब कामता बाबू आगरा में हुजूर साहेब के सान्निध्य में गए तब उन्होंने 'प्रार्थना' नामक ५२ पदों-समूह भेंट कर मंगुर बाणी में पढ़ा, जिसकी पहली पंक्ति थी।

‘हे सतन सिरताब कृपाला, हे गुरु दीनबदाला ।’

जब आप 'सरकार साहेब' के उपनाम से चौथे गुरु हुए तब आपने इन पदों की औपदेशिक सुधार के बाद 'प्रेम समाचार' में आपने की अनुमति दी। सरकार

साहेब का लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ 'प्रेम-समाचार' ही है। इसमें राधास्वामी-मत का 'सार-संग्रह' है।

एक समय कबीर साहेब की प्रसिद्ध बाणी 'दुःख मे सुमिरन सब करे, सुख मे करे न कोय। सुख मे सुमिरन जो करे, दुःख काहुँ को होय ॥' का उल्लेख करते हुए सरकार साहेब ने उपदेश दिया कि राधास्वामी-मत के साधकों को समर्पित जीवन व्यतीत करते हुए सब समय पवित्र नाम का उच्चारण करते रहना चाहिए। जो सभी समय पवित्र नाम का उच्चारण करता है, उसे राधा-स्वामी ब्याल कभी नहीं छोड़ते।

महाराज साहेब के जीवन-काल में राधास्वामी-मत का केन्द्र-स्थान प्रयाग में था। बाद में बाराणसी में रहा। पर उनके निधन के बाद बीये गुरु सरकार साहेब के समय सत्संग-केन्द्र गाजीपुर रहा; क्योंकि वहीं सरकार साहेब बकील थे। तत्पश्चात् सरकार साहेब की जन्मभूमि मुरार में उनकी मृत्यु तक सत्संग सक्षिप रूप से चलता रहा।

पंचवे सद्गुरु सर आनन्द स्वरूप हुए, जो बाराणसी में सरकारी कर्मचारी थे। अतः सुविधापूर्वक रविवार तथा छुट्टियों के दिन सरकार साहेब की सेवा में उपस्थित हो जाया करते थे। सन् १९१२ ई० में आपको बदली आगरा हुई। अतः आगरा से मुरार आना सुविधाजनक नहीं था। इसमें आप बहुत दुःखी हुए। जब अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ आप सरकार साहेब के समक्ष उपस्थित हुए, तब सरकार साहेब ने हँसते हुए कहा कि "रोने की क्या बात है? तुम आगे चलो, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ।" इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए निवेदन करने पर सरकार साहेब ने कहा कि राधास्वामी-सत्संग-केन्द्र आगरा निश्चित किया गया है। जहाँ आज राधास्वामी शिक्षा-भवन स्थित है, वह भूमि खरीदी गई। तत्पश्चात् जब २७ दिसम्बर, १९१४ ई० को 'हुजूर साहेब' का भंडारा आगरा में हुआ, उसी अवसर पर राधास्वामी-सभा ने २९ दिसम्बर, १९१४ ई० की अपूर्णि बैठक में केन्द्र-स्थान आगरा निश्चित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। स्थान का नाम 'दयालबाग' रखा गया। इस निर्णय के अनुसार २० जनवरी, १९१५ ई० को मलबरी (सहूत) के एक वृक्ष-रोपण-कार्य के साथ 'दयालबाग' की नींव डाली गई।

स्वामीजी महाराज की सर्वाधिक स्वामीबाग, आगरा में हुजूर महाराज के जीवन-काल से ही निमित्त हो रही है। दूसरे गुरु हुजूर महाराज की सर्वाधिक

आगरा में उनके प्रेम-विलास मकान के अहाते में ही स्थित है। वहाँ नियमित रूप से भडारा होता है। तीसरे गुरु की समाधि वाराणसी में है, जहाँ प्रतिवर्ष भडारा होता है। ये तीनों समाधियाँ स्वामीबागवालों के अधिकार में हैं। दयालबागवाले सत्सगियों को उन समाधियों पर उपस्थित होने और ध्यान-पूजा आदि करने में अडचन डालने लगे। सरकार साहेब तथा उनके बाद के पाँचवें गुरु साहेब जी ने स्वामीबाग के लोगों से समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु अपने प्रयास में वे न केवल विफल रहे, बल्कि स्वामीबाग वाले दयालबाग के पूज्य गुरुओं के प्रति अपमानजनक शब्दों का भी व्यवहार करने लगे, जिससे क्षुब्ध होकर सरकार साहेब के अनुयायियों ने मार्च, १९१० ई० में 'राधास्वामी सत्सग-सभा' की स्थापना की और स्वामीबागवालों से पूर्णतया संबंध-विच्छेद कर लिया। अन्त में विवश होकर 'राधास्वामी-सत्सग' ने १९४३ ई० में आगरा के सब-जज की अदालत में मुकदमा दायर कर दिया। यह मुकदमा १/१९४३ के रूप में ५ जुलाई, १९६१ को फैसला प्राप्त कर सका। निर्णय दयालबागवालों के पक्ष में हुआ। स्वामीबागवालों ने अपील कर दी, जो अभी विचाराधीन है।

बुआ साहिबा के निधन के पश्चात् स्वामीबागवालों ने रायबहादुर माधो प्रसाद सिन्हा को गुरु माना। सन् १९४९ ई० में जब उनकी मृत्यु हो गई, तबसे इस शाखा का कोई गुरु नहीं हुआ। इस शाखा के अन्तर्गत समस्त जब तथा अचल संपत्ति ट्रस्ट तथा स्वामीबाग-समिति के अधिकार में है।

सरकार साहेब ने चौथे सद्गुरु के रूप में राधास्वामी-सत्सग का संचालन लगभग सात वर्ष तक सफलतापूर्वक किया और २३ मार्च, १९१३ को निज धाम सिधारे। आपके कार्य-काल में राधास्वामी सत्सग की शाखा सुदूर तमिलनाडु (मद्रास) राज्य में भी स्थापित हो चुकी थी।

सरकार साहेब का विवाह छपरा (बिहार) के प्रसिद्ध वकील श्री रघुवंश सहाय की कन्या के साथ हुआ था। सरकार साहेब के दो पुत्र हैं। ज्येष्ठ पुत्र गुरुदेव प्रसाद सिन्हा टेक्निकल कॉलेज, दयालबाग (आगरा) के प्रिंसिपल थे। अब उन्होंने उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया है। दूसरे पुत्र श्री गुरुदयाल प्रसाद सिन्हा बिहार-सरकार के को-ऑपरेटिव विभाग में कर्मचारी थे। अब वे श्री सेना-निवृत्त हो चुके हैं।

हुजूर साहेब (सर आनन्द स्वल्प) का जन्म ६ अगस्त, १८८१ ई० को अंबाला (पंजाब) जिले के कलमाजरी ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल से ही साहेब जी शास प्रकृति के और चिन्तनशील थे। युवावस्था प्राप्त करने पर आपने अनुभव किया कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से ही ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः बाप गुरु की खोज में निकल पड़े। इस संबंध में संसार के प्रसिद्ध तत्त्व-चिन्तक मिस्टर पॉल ब्रण्टन के साथ हुआ उनका बार्तालाप उल्लेखनीय है। सन् १९३१ ई० में जब श्री पॉल आपसे मिलने दयालबाग आए तब आपसे निम्नांकित बातें हुईं :—

साहेब जी—धार्मिक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता का कोई स्थान नहीं है। गुरु की निरन्तर आवश्यकता होती है।

पॉल ब्रण्टन—क्या आपने गुरु की आवश्यकता अनुभव की ?

साहेब जी—निस्संदेह चौदह वर्ष तक गुरु की खोज करने पर मुझे सद्गुरु मिले।

पॉल ब्रण्टन—जीवन के चौथे भाग, यानी चौदह वर्ष तक गुरु की तलाश करना क्या महत्वपूर्ण था ?

साहेब जी—गुरु की तलाश में जो समय लगता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। पहले मैं नास्तिक था। बाद में ऐसे गुरु की खोज के लिए व्यग्र हो उठा, जो आत्मानुभूति करा सके। बालक के समान मैं रोता था और प्रकाश के लिए प्रार्थना करता था। अन्त में निराश होकर मैंने निश्चय किया कि यदि मुझे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका, तो मैं उपवास कर प्राणान्त कर दूँगा। दूसरी ही रात्रि में मुझे स्वप्न हुआ। स्वप्न में गुरु ने मेरे सम्मुख आकर अपना परिचय दिया। मैंने उनका पता पूछा तो उन्होंने इतना ही कहा—‘इलाहाबाद’। यह भी कहा कि मुझे पूरा पता बाब में मिलेगा।

साहेब जी के बड़े भाई, द्वारिका बाबू, राधास्वामी-मत में पहले ही दीक्षित हो चुके थे, पर इसकी जानकारी किसी को न थी। जब साहेब जी ने उनसे अपने स्वप्न की बात कही, तब उन्होंने एक फोटो लाकर साहेब जी को दिया और पूछा कि क्या वह उस फोटो में किसी को पहचानते हैं। तत्काश ही उन्होंने हुजूर महाराज साहेब को पहचान लिया। उन्हीं को उन्होंने स्वप्न में देखा था। द्वारिका बाबू ने सूचित किया कि राधास्वामी-मत के सद्गुरु का वह

चित्र यश और वे प्रयत्न में रहते थे। तत्पश्चात् आपने दीक्षा के लिए आश्वेदन-पत्र दिया और महाराज साहेब की आज्ञा मिलने पर लाहौर के साधु श्री लाल चन्द्र सूरि ने दीक्षा दी। दीक्षा के पूर्व और बाद की अपनी अवस्था का साहेब जी ने निम्न पदों में वर्णन किया है—

(क) सतगुरु मेरे पियारे, खुद घर से चले आए।

(ख) मिले मोहि राधास्वामी प्यारे, सराहूँ भाग क्या अपना।

दीक्षा के बाद जिन दिनों साहेब जी प्रयाग में रहते थे, वे नियमित रूप से सत्संग में सम्मिलित होते थे और महाराज साहेब की सेवा में भी उपस्थित रहते थे। उनको आध्यात्मिक अनुभूति होने लगी। सन् १९०७ ई० के आरम्भ में छुट्टी लेकर महाराज साहेब वाराणसी में रहने लगे। साहेब जी भी वहाँ यदा-कदा जाया करते थे। एक दिन महाराज साहेब साहेब जी को अपने निजी कमरे में ले गए और विशेष प्रसाद दिया। इस घटना का जिक्र साहेब जी ने निम्न पद में किया है—

फिर ऐसी मौजबारी, गहरी क्या बिचारी—

योही बहाना करके, खुद घर पर अपने लाए ॥

महाराज साहेब के १२ अक्टूबर, १९०७ ई० को निज धाम पधारने के बहुत थोड़े काल बाद आत्मानुभूति द्वारा उन्हें गाजीपुर-सत्संग में जाने की आज्ञा हुई।

सन् १९१३ ई० में जब सरकार साहेब मसूरी में लौटे तब मार्ग में वाराणसी में ठहरे और महाराज साहेब की समाधि पर सत्संग हुआ। इस अवसर पर साहेब जी भी उपस्थित थे। सत्संग के बाद प्रसाद-वितरण हुआ। प्रसाद बुद्धि के लहु का था। जब साहेब जी प्रसाद लेने पहुँचे तब सरकार साहेब ने कहा—“देखो, शीराजे को बिखरने न देना।” इसका अर्थ था सत्संग का संगठन बिखरने न पावे। साहेब जी महाराज ने सरकार साहेब की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। २४ वर्ष के कार्य-काल में आपने दयालबाग-सत्संग को सर्वतोमुखी उन्नति प्रदान की। सत्संग का देशव्यापी प्रचार हुआ। ‘अनेक ग्रंथों’ का संकलन हुआ। दयालबाग एक अखिल भारतीय प्रसिद्धि का शैक्षणिक एवं औद्योगिक केन्द्र हो गया। सन् १९३२ ई० में जब अजमेर के प्रसिद्ध नेता दीवान हरिविलास शारदा दयालबाग देखने आए तब साहेब जी ने निम्नलिखित शब्दों में दयालबाग की स्थापना को उद्देश्य बतलाया :

“हम लोगों का विश्वास है कि किसी देश की उन्नति और अवनति अति महान आत्मा के रहने या चले जाने पर निर्भर करती है। महान आत्मा उसी देश और समाज में अवतीर्ण होते हैं, जहाँ उन्हें कार्य करने की काफी सुविधा होती है। इसी कारण हमलोग दयालबाग में पवित्र वार्षिक वातावरण—जो भारत की संस्कृति के अनुकूल हो—के साथ-साथ जिस प्रकार पश्चिमी देशों में स्वतंत्रता और साधन उपलब्ध हैं, उसी प्रकार यहाँ उपलब्ध करना चाहते हैं।”

सन् १९३७ ई० में दक्षिण-भारत के सत्संगियों ने साहेब जी से दक्षिण जाने की जोरदार प्रार्थना की और वे उसी साल ३१ मई को दक्षिण-यात्रा पर निकल पड़े। २४ जून को कुट्टालम में सत्संग हुआ, पर उसी दिन संख्या में ८-३० बजे आप इस लोक से कूच कर गए।

साहेब जी के निधन के पश्चात् उनके आदेशानुसार श्री गुरुचरण दास मेहता छठे सद्गुरु हुए और संप्रति दयालबाग-सत्संग का संचालन कर रहे हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था। आप अवकाश-प्राप्त इंजीनियर हैं।

श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती ने पटना (बंगाल) में एक अलग शाखा स्थापित की। भारत-विभाजन के कुछ पूर्व आपने अपना आश्रम देवघर (बिहार) में स्थापित किया। आपके लाखों अनुयायी हैं; किन्तु जानकारी का कथन है कि यह शाखा राधास्वामी-सिद्धांत में हटती जा रही है।

दयालबाग राधास्वामी-मत और व्यास-मत्संग में समझौता

सन् १९३२ ई० में साहेब जी महाराज के परम सद्गुरु होने के बीस वर्ष की समर्पित पर दयालबाग के सत्संगियों ने बहुत उत्साह प्रदर्शित किया। दिसम्बर, १९३२ ई० में विशेष उत्सव हुआ, जिसमें लगभग १२,५०० व्यक्ति सम्मिलित हुए। इसी अवसर पर श्री जयमंगल सिंह द्वारा स्थापित व्यास-शाखा के सद्गुरु सरदार साधन सिंह भी उपस्थित थे। अबतक व्यास-शाखा के सत्संगियों को भगवान के पाँच नामों—निरंजन, ओम्, राम, सोहम और सत—का उच्चारण करने का उपदेश दिया जाता था। किन्तु दयालबाग के सत्संगियों को “राधा-स्वामी” का जप करने को कहा जाता था। इस विषय पर सरदार साधन सिंह और साहेब जी महाराज के बीच विचार-विमर्श हुआ और दोनों सद्गुरुओं के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। २५ दिसम्बर की एक विशेष बैठक में दो सद्गुरुओं

के बीच हुए समझौते को व्यास-सत्संग के मंत्री ने पढ़कर सुनाया । अन्य बातों के साथ-साथ समझौते में लिखा था कि कुछ विचार-विभिन्नता के कारण व्यास और दयालबाग के सत्संगी अलग रहे, किन्तु अब विभिन्नता नहीं रही और दयालबाग तथा व्यास के सत्संगी परम पुरुष पूरणघनि स्वामी जी महाराज को दयावान् राधास्वामी का अवतार और 'राधास्वामी' शब्द को परमात्मा का सच्चा नाम मानते हैं और भविष्य में दीक्षा के समय व्यास के सत्संगियों को 'सच्चा नाम' का ज्ञान करा दिया जाएगा, जिस प्रकार दयालबाग के सत्संगियों को कराया जाता है ।

अतः आज यद्यपि व्यास-सत्संग, दयालबाग-सत्संग की एक शाखा है, तथापि इसने गत लगभग १७ वर्षों में 'रुहानी सत्संग' के नाम से अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है, इसलिए 'रुहानी सत्संग' का वर्णन 'एक स्वतंत्र सतमत के रूप में आगे किया गया है ।

राधास्वामी-मत में वर्तमान गुरु का ध्यान करने का विधान है । इस मत के प्रवर्तक स्वामी जी महाराज ने अपने ग्रन्थ 'सार बचन' में स्पष्ट रूप से कहा है कि "ब्रह्म गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ; पिछलों की तप डेक, ब्रह्म गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ ।" अतएव समस्त साधक वर्तमान गुरु का ही ध्यान करते हैं; किन्तु सब गुरुओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं ।

"राधास्वामी-सत्संग के मुख्य चार अंग हैं, जिन्हें पूरा गुरु, नाम, सत्संग तथा अनुराग कहते हैं । पूरा गुरु से अभिप्राय संत सद्गुरु या साधु सद्गुरु से है । स्वामीबाग के अनुसार संत सद्गुरु तथा राधास्वामी में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है । दयालबाग उन्हें केवल इनका प्रतिनिधि-मात्र अथवा निजधार-स्वरूप स्वीकार करता जान पड़ता है ।

राधास्वामी-मत के प्रत्येक अनुयायी के लिए संत सद्गुरु अथवा उनके चित्रादि के समक्ष अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन मुख्य कर्तव्य माना जाता है । संत सद्गुरु द्वारा स्पर्श की गई अथवा व्यवहार में लाई गई प्रत्येक वस्तु पवित्र तथा उपादेय है । उल्लेख्य तर्क-वितर्क के अपना लेना परम धर्म है ।

राधास्वामी-सत्संग का न्यूनाधिक प्रचार भारत के प्रायः प्रत्येक राज्य में हो चुका है । इसके अनुयायियों की संख्या अत्यन्त बड़ी हो चुकी है । इसकी प्रत्येक अवसर पर कार्य-प्रणाली इसकी प्राणायाम-विहीन योग-प्रणाली की बाह्य

सरलता, इसका सादा तथा सद्भावपूर्ण व्यवहार की ओर अधिक मुकाब तथा आध्यात्मिक जीवन में भी समृद्धि-लाभ संबंधी इसकी योजना इसके प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन है ।'

रामाश्रम-संस्थापन—रायपुर-निवासी हजरत मीवाना फजल अहमद खां साहब (कुदस सुर्रह) उच्च कोटि के सूफी संत थे। आप इस बिद्या की हिन्दुओं की बिद्या कहते थे। आपने वेदान्त तथा सूफी साधनों को मिलाकर एक ऐसा अनुपम प्रेममय मार्ग निकाला, जिसके द्वारा साधक गृहस्थी में रहते हुए गुरु की सहायता से षट्चक्रों को बंधता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

पुण्य महात्मा रामचन्द्र जी तथा उनके अनुज महात्मा दधुवर-दयाल जी मीकाना के प्रमुख शिष्यों में थे। दोनों ने अध्यात्म पथ में काफ़ी प्रगति की। दोनों आजीवन गृहस्थ-आश्रम में रहे। दुखियों का दुःख दूर करने की ओर इन दोनों महानुभावों का ध्यान रहता था। इन्हीं महात्मा रामचन्द्र जी के शिष्य परम सत डाक्टर चतुर्भुज सहाय थे।

रामाश्रम-संस्था के प्रवर्तक डा० चतुर्भुज सहाय जी का जन्म पुण्यसलिला संगम के पास स्थित एटा जिले के अन्तर्गत चमकरी गाँव में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी, संवत् १९४० (३ नवम्बर, १८८३ ई०) को हुआ था। आपने कायस्थ-वंश की कुलधेष्ट शाखा को गौरवान्वित किया था। आपकी जन्म-पत्नी को देखकर पण्डितों ने बतलाया था कि यह अनेक समय के एक अच्छे महापुरुष होंगे तथा बहुत-से लोगों का कल्याण करेंगे। बिद्याध्ययन के उपरान्त आपके मन में यह ~~अविचार~~ अनी कि किसी प्रकार देश का कुछ सुधार हो। ये बिचार हृदय में तरंगित हो ही रहे थे कि एक दिन आपको अपने ननिहाल फतहगढ़, जिला फर्रुखाबाद जाना पड़ा। कुछ समय आप वहीं रहे और वहीं पर आपके ~~अनेक~~ अनेकों तथा होमियोपैथी का ज्ञान प्राप्त किया। आपके पिताजी को आयुर्वेदिक चिकित्सा का अच्छा ज्ञान था। अतः आपको आयुर्वेद का भी उत्तम ज्ञान हो गया। यह सब सीखकर आपने देश-सेवा करने का बिचार किया।

कुछ काल उपरान्त आपने डाक्टरी का कार्य आरम्भ कर दिया। लेकिन ये सब कार्य भी आपको दूसरी ही ओर ले जा रहे थे। जितने भी अस्वस्थ लोग

आते, सबको औषधि देते, उनकी सेवा करते। जो कुछ किसी ने दे दिया, खुशी-खुशी ग्रहण कर लेते। गरीबों और मुहताजों का इलाज निःशुल्क कर दिया करते, क्योंकि उनका क्लेश देखकर आपका हृदय द्रवित हो उठता और उनकी जो भी सहायता हो सकती थी, आप तत्परता से किया करते। उन लोगों को भोजन-वस्त्र की भी आवश्यकता होती तो उनकी भी पूर्ति आप कर दिया करते। एक तरफ से अर्जन कर दूसरी तरफ दान कर देना उनकी बृत्ति हो गई थी। धीरे-धीरे आपके पास केवल वही लोग आने लगे, जो निर्धन थे। उसी बीच प्लेग का प्रकोप हुआ और आप फतहगढ़ चले गए। वहाँ भी चिकित्सा-कार्य बराबर चलता रहा।

ऐसा ईश्वरीय नियम है कि जिसकी जिस किसी कार्य में लगन रहती है, भगवान उसे पूरा करते हैं। डाक्टर साहब हर समय शान्त भाव से यह सोचा करते थे कि मनुष्य ऐसी उलझनों में क्यों है? सब कुछ होते हुए भी उसे शान्ति क्यों नहीं मिलती? संतों के जीवन और उनकी सुहृद से आपको यह पता चला कि शान्ति न घन में है, न वन में और न विद्या में। वह तो बिना भगवान की शरण में आए और बिना आत्म-ज्ञान के किसी प्रकार आ नहीं सकती और उसके लिए सर्वप्रथम किसी सद्गुरु का चरण पकड़ना होगा।..... इस दृष्टि से आप बराबर महात्माओं से मिलते रहते थे और उनके बतलाए कुछ प्रयोगों का अभ्यास भी करते जाते थे।

फतहगढ़ गंगा के तट पर होने के कारण वहाँ महात्माओं से मिलना-जुलना सुलभ था। नेति, धोती, प्राणायाम आदि भी आपने बहुत समय तक किया; परन्तु आपको इनके द्वारा शारीरिक लाभ के अतिरिक्त कुछ और अधिक की आध्यात्मिक मार्ग में उपनधि न हो सकी। आपका यह निश्चित मत हो गया कि बिना मन को निर्मल किए और बिना उसका निरोध किए आत्म-ज्ञान प्राप्त करना झुंझर ही नहीं, अमभव है, क्योंकि शुद्ध मन पर ही निर्विकारी आत्मा का बिंब पड़ सकता है, अशुद्ध और चंचल मन पर नहीं। अतः सभी क्रियाओं को त्याग कर आप दिन-रात सद्गुरु की तलाश में रहने लगे।

महात्मा रामचन्द्र जी अलीगढ़ तहसील में कर्मचारी थे। इन्हीं दिनों आप बदलकर फतहगढ़ आ गए। संयोगवश डाक्टर साहब का उनसे संपर्क हुआ और उन्हें अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने का अवसर मिला। महात्मा रामचन्द्र जी

गृहस्थ सत्त थे, अतः आरम्भ में डाक्टर साहब इन्हें पहचान न सके। इलाज कराने के बहाने इनसे मुलाकात होने लगी। महात्मा जी सामान्य वेश-सूत्र में रहा करते थे और वे साधारण जन-से प्रतीत होते थे। उनकी विशेष क्वालिटी भी नहीं थी। पर धीरे-धीरे उनके आन्तरिक गुणों की ओर डाक्टर साहब आकृष्ट होने लगे। कहावत है कि "फकीर को कोई फकीर ही पहचानता है।"

प्लेग का समय था। डाक्टर साहब तिवारी की कोठी में गंगा के किनारे रहते थे। महात्मा जी भी सयोगवश वहीं अकेले रहने लगे। बच्चों को कहीं दूर सुरक्षित स्थान पर एक गिरितदारी में भेज दिया था। डाक्टर साहब और महात्मा जी एक ही कमरे में रहने लगे। दोनों का भोजन भी साथ ही बनने लगा। इस तरह साथ रहते दो महीने बीत गए, पर उनकी जुवान पर न तो कभी भगवान का नाम आया देखा और न कोई धार्मिक चर्चा ही करते सुना। इतने जड़ और इतनी खामोशी में कोई काम उन्हें तोल सकता था ?

परन्तु महात्मा जी का डाक्टर साहब के ऊपर आन्तरिक प्रेम था। इसी भावना में प्रेरित होकर उन्होंने नित्य रात्रि के समय, जब डाक्टर साहब सो जाते थे तब, उनके ऊपर 'तवज्जह सायवाना' (अज्ञातावस्था में हृदय-शुद्धि) का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया और अनजान डाक्टर साहब को माया के कटिन दलदलों में पार करके सुन्दर एवं सुहावने अध्यात्म-क्षेत्र में खड़ा कर दिया और उसी देश का अधिवासी बना दिया।

वह अज्ञात हृदय शुद्धि की प्रक्रिया नित्य-प्रति चलती रही और उसका प्रभाव चुपके-चुपके डाक्टर साहब पर होता रहा। कई मास पश्चात् डाक्टर साहब इस बात को जान सके कि उनकी मूर्ति को जबरदस्ती ससार में हटाकर अध्यात्म-मार्ग की ओर मोड़ा जा रहा है और प्रभु-चरणों की ओर मन को प्रेरित किया जाता है। इसी का नाम 'तवज्जह सायवाना' है। यो तां सत प्रत्येक मनुष्य पर हमका प्रयाग हर समय ही करते रहते हैं, अपने रग के छींटे अनजान में सब पर डाला ही करते हैं और अवसर आन पर उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु यदि दया किसी व्यक्ति-विशेष पर हो जाती है, तब तो सीधी धार उसी ओर जाती है और उसके हृदय की चादर को गहरा रंग देकर छोड़ती है। इसके लिए रात्रि का वातावरण शीघ्र फलदायक होता है। इसलिए यह काम अधिकतर रात्रि में ही किया जाता है। इस प्रकार ईश्वर-

विमुख लोगों को सत्य की ओर लाने के लिए यह एक ऐसा हथियार है, जिसका वार कभी खाली नहीं जाता। यह ऐसा तीर है, जो कमान में निकलते ही सीधे मन को निशाना बनाता है। यही बात डाक्टर साहब के साथ हुई।

इसके उपरान्त आपने खूब अच्छी तरह अन्तर-क्षेत्र को मुलायम कर लिया और जब वह बने के योग्य हो गया, तब एक दिन डा० साहब को सुदूर सघन वन में, जो बड़ा हरा-भरा और गंगा-किनारे था, जहाँ एक छोटी कुटिया थी, बैठाकर प्रथम पाठ दिया। इसका विवरण डा० साहब के ही शब्दों में निम्न प्रकार है :

“आपने कहा कि थोड़ी देर मुड़कर बिल्कुल मेरे मुकाबिल (सामने) हो जाओ ताकि जो अक्स पड़े, ठीक तुम्हारे में उतरे, आँखें हलके से बंद कर लो और अपने मन को देखते रहो कि वह क्या-क्या कर रहा है। अब मैं कुछ नहीं देख रहा था, केवल मन के कृत्यों को देख रहा था। आरम्भ में तीन-चार मिनट तक विचारों का ताँता लग गया। जब यह कुछ बंद हुआ तब एक स्याह पर्दा सम्मुख आया, आगे चलकर वह फटने लगा, उसमें से एक चमकता हुआ सूर्य दिखाई दिया। अद्भुत आनंद प्रतीत हुआ। इस समय मुझे कुछ खबर नहीं थी। मस्तो की दशा बढ़ रही थी। इसके बाद मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी दूसरी दुनिया में हूँ। अनेक दिव्य लोक सामने थे, भिन्न-भिन्न दिव्य आत्माएँ सम्मुख दर्शन दे रही थी, अनेक प्रकार के दिव्य शब्द सुने जा रहे थे। आगे खिचाव और बढ़ा और एक शक्ति का भास हुआ, जो सबको चला रही है, सबपर उसका नियन्त्रण है, सबकी अधिष्ठात्री है, ऐसा जान पड़ा। किसीने सकेत से कहा—यही सर्वशक्तिमान ईश्वर है, यही खुदा है, इसी का नाम आदि प्रकृति है, यही मूल-माया, सर्वेश्वरी जगदम्बा है। शक्ति यही है, शक्ति-मान भी यही है, यही जगत्-विधात्री आदिशक्ति का दर्शन है। माया यहाँ से आगे नहीं जाती, प्रकृति का खेल यही समाप्त होता है। यही पर ब्रह्माण्ड का अंत है।

“यह सब ४०-४५ मिनट के अंदर हो गया। जिन अवस्थाओं के लिए लोग तरसते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए जीवन-भर पाँव रगड़ते हैं, वह प्रथम दिन ही मुझे मिल गई; जो दर्शन जन्म-जन्मांतर में भी नसीब नहीं होते, वह केवल गुच्छपा से मुझे प्रथम दिन ही मिल गए।

“इसी पर मीलाना रूज ने कहा है :

एक साधक सुहवते वा औलिया,
बेहतर अज सब साल ताजते बेरिया ।

अर्थ—सौ वर्षों के सच्चे तप से, जिसमें कोई बनावट या मक्कारी न हो, एक घंटी किसी संत को सुहवत (सग) बेहतर होती है, जो वस्तु तप से दुर्लभ है, वह संतों को दया से मिनटों व सेकेण्डों में मिल जाती है ।”

यह भूँगी साधन था । आगे आपने इसी को अपनाया । गुरु के विचारों को बराबर लेते रहने से कुछ काल के बाद साधक गुरु के समान ही हो जाते हैं । इसी को ‘सारूप्यता’ भी कहते हैं । गुरु कुछ काल में शिष्य को लगातार अपने विचार भेजकर उसके समस्त विचारों को मिटा, उसके दय-पटल पर अपने ही ज्ञान को भर देता है । इस प्रकार साधक गुरु के ज्ञान को तो ले ही लेता है, परन्तु कहीं-कहीं पर यह भी होता है कि शिष्य की वाणी और गुरु की वाणी में भेद नहीं रह जाता, पहचान में नहीं आता कि कौन बोल रहा है । लेकिन डा० साहब की साधना तो और आगे शरीर पर भी प्रभाव डाल चुका थी, अर्थात् आपने शरीर से भी अपने गुरु में तद्रूपता प्राप्त कर ली थी ।^१

गुरु की कृपा आपपर पूर्ण रूप में थी । वह जानते थे कि डा० साहब पूर्वजन्म के संस्कार के कारण अधिकारी शिष्य थे । आपकी ओर से उन्हें बड़ी आशा थी । उन्होंने यह भी कहा था — मैं यह काम अपना नहीं कर रहा हूँ, अपने गुरु महाराज (कुदूस सुरेंद्र) का कर रहा हूँ । मैं न हूँ तो इस काम को तुम पूरा करना, मेरी आत्मा को इसने बढ़कर कोई दूसरी प्रसन्नता की बात नहीं होगी और यही मेरी दक्षिणा समझना । इसके लिए मैं हर समय तुम्हारी सहायता करूँगा ।” ये शब्द उन्होंने पहले भी कहे थे आर शरीर त्याग के समय, जब आप वहाँ उपस्थित थे, तब भी दुहराए थे । आपने आँखों में अश्रु भरकर यह आदेश स्वीकार किया था । अन्तिम बार चरण पकड़कर आपने गुरु से सदा कृपा रखने की प्रार्थना की थी ।^२

गुरु की आज्ञा पाकर डाक्टर साहब ने अपना समस्त जीवन प्रचार-कार्य में

1. जीवन-वर्णन, पृ० १७-२० (पं० मिहीलाल जी)

2. ” ” २१ ”

3. ” ” २३-२४ ”

सगा दिया, जिसके फलस्वरूप 'रामाश्रम-सत्संग' की स्थापना हुई। डा० साहब ने इसका नामकरण अपने पूज्य गुरु महात्मा श्री रामचन्द्रजी महाराज के नाम पर किया। आज यह लाखों ज्ञान-पिपासु एवं जिज्ञासु लोगों को अध्यात्म का अमृत-रस पिला रहा है।

इस मत का सिद्धान्त है कि सारा ससार ही ससार है, इसको छोड़कर हम कहाँ जा सकते हैं, रहो इसी में और सारे ससारी काम करो, पर इसमें अपना पैसेव मत रखो। इसकी निस्सारता को विवेक द्वारा विचार करते रहो, इससे अभ्यास में उन्नति होगी और जल्द ही साधक ईश्वर के समीप पहुँच सकेगा। वैराग्य शरीर से किसी वस्तु के त्यागने का नाम नहीं है, बल्कि मन को अलग रखने का नाम है।

इस मत में सेवा पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है कि अपनी उन्नति के लिए कुछ सेवा करो। जितना हो सके, दूसरों का उपकार करो। कहा गया है कि सेवा दो तरीके में होती है—शारीरिक और मानसिक। मानसिक सेवा तो वही लोग कर सकते हैं, जिनके अंदर मनोबल हो तथा जिन्होंने साधन और अभ्यास द्वारा अपनी आत्मशक्तियों को जाग्रत कर लिया हो तथा अपने मन में दूसरों के मन को तथा अपनी आत्मा से दूसरों की आत्मा को लाभ पहुँचा सकते हो। परन्तु शारीरिक सेवा तो प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य या किसी प्राणी की कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी भी कहा करते थे कि ईश्वर से प्रेम करो और उसके प्यारे पुत्रों में प्रेम करो। प्रेम की भावनाओं से प्रेरित होकर जब मनुष्य इस जगत के प्राणियों को अपना इष्ट बनाकर उनकी पूजा और सेवा करता है तभी ईश्वर अपने दर्शन देता है और उसका कल्याण करता है। किसी सत न कहा भी है।

यही है इबादत यही दीन ईमा,

फिर बुनिया में काम आवे इसा के इसा।

मनुष्य बनने के लिए, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा विराट पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए हमें अपने अन्दर पर-सेवा के भाव उदय करने होंगे और मान, बड़ाई तथा बदले की इच्छा को छोड़ तन, मन और धन से इस सेवा के कार्य में जुट जाना होगा और सारे ही प्राणियों को अपना प्रेम-पात्र बनाना होगा। तब उसकी दया हमारे ऊपर होगी।

अतः इस संतमत्त के वर्तमान आचार्य पं० मिहीलाल का आदेश है—“यदि तुम सांसारिक आपदाओं से बचना चाहते हो, यदि तुम गुरु-श्रृण से मुक्त होना चाहते हो, तो थोड़ा त्याग करो; लोक और परलोक में सुख पाने की इच्छा को त्याग दो; पर-सेवा में जुट जाओ, अपने समय का थोड़ा-सा भाग और अपने धन का कुछ अंश दूसरों के साथ उतार करने में व्यय करो; इसी से कल्याण होगा, तुम्हारे धन में वृद्धि होगी और तुम्हारी सारी आपदाएँ कट जाएँगी।”

जिस प्रकार स्वामी रामानुज ने अपने गुरु की बाणी को चौराहे पर सुनाया था, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी ऊँची आवाज में डा० साहब ने गुरु की बाणी का ढिंढोरा पीटा। आपने कहा—मेरे गुरुदेव की आज्ञा है कि “तुम इन विद्या के लिए पात्र-अपात्र का भी विचार न करो, जिसको प्यास है, उसको जल तो चाहिए ही, इसके बिना लोग दुःखी हैं, तुम सबको बाँटो।”

आपके पास जितने भी साधु-सन्यासी आते, आप यही सलाह देते—“आप लोग अपने परिश्रम का अन्न खाओ, क्योंकि जबतक आप दूसरों का अन्न खाओगे और उसके बदले उ का कुछ काम नहीं करोगे, आत्मोन्नति कर नहीं सकते। आत्मोन्नति के लिए भिक्षा के अन्न का परित्याग करना होगा। परिश्रम का अन्न खाकर तपस्या करोगे, तो सफलता प्राप्त होगी; क्योंकि प्रकृति आपकी तपस्या के भाग में से उन अन्नदाताओं का भाग निकालकर तत्काल उनके पास भेज देती है। फिर आपके पास क्या बच रह जाता है ? इसके अतिरिक्त आपको भोजन माँगने में बड़ा समय व्यय करना पड़ता है और आत्म-गौरव का भी ह्रास होता है।”

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर । (अथर्ववेद)

अर्थात् सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो, हजारों हाथों से बाँटो।

आपका कथन था कि “आत्म-विश्वास के अर्थ भी ऋषार्थ समझो। जो आत्म-विश्वासी है, वही ऋषार्थी है। एक दिन की सफलता और हमरे दिन की असफलता से प्रसन्न और दुःखी होनेवाले सज्जन आत्मविश्वासी नहीं माने जाते। निराशा और सदेह ही हमारे जीवन की महत्ता का नाश करनेवाले कीटाणु हैं। इसलिए ऐसे विचारों को अपने अंदर कहीं स्थान मत दो। मैंने

1. जीवन-दर्शन, पृ० ६३-६६

2. जीवन-दर्शन, पृ० ७६-७७

यह पता लगा लिया है कि ईश्वरीय शक्ति से सबध रखनेवाला मनुष्य शक्ति-शाली और विजेता बनकर ही रहता है और शिव की सभी शक्तियाँ उसका साथ देने को स्वयं बाध्य हो जाती हैं। याद रखो कि हम ईश्वरीय सन्तान हैं, हमने ईश्वराय शक्तियाँ हैं, हम अपने कार्य में अवश्य सफल होंगे।”

आप कहा करते थे कि सबसे बड़ा बोझ मनुष्य के ऊपर अहंकार का है। गुह किसी प्रकार यदि इसे दूर करा दे, तो साधक तुरत हल्का हो जाए, तुरत मुक्त हो जाए।

“अमृत-कुण्ड तक पहुँचने का जो मार्ग है, उसे शास्त्रों ने पाँच भागों में बाँटकर पाँच नाम अलग-अलग रख दिए हैं। इन्हीं का नाम—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनंदमय है।

आनंदमय कोष रेतीला मैदान है। यह पृथ्वी-तत्त्व से तैयार होता है। इसलिए बाहरी कर्मों से ही यह तैयार होता है। तप करना, व्रत रखना, तीर्थ, मूर्ति-पूजा इत्यादि अन्नमय कोष के साधन हैं। हठयोग के साधन—आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि दूसरे प्राणमय कोष के साधन हैं। उपासना मनोमय कोष के, बुद्धियोग विज्ञानमय कोष के और समर्पण आनंदमय कोष के साधन हैं। जो लोग जिन्दगी-भर एक ही साधन को पीटते जाते हैं, वे आगे नहीं बढ़ते।”

मनुष्यों के विचार, उनके भाव, उनके कर्म, उनकी रुचि, उनकी सामर्थ्य, उनके सस्कार इत्यादि जुदा-जुदा होते हैं। एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। इसलिए एक ही उद्देश्य के लिए भिन्न-भिन्न साधन-प्रणालियाँ बनाई गई हैं। एक ही क्रिया से सबको लाभ नहीं पहुँच सकता। इनके सहस्रो भेद हैं, पर वे सब तीन ही के अंतर्गत हैं। जिसमें इन्द्रिय और शरीर को सग लेकर मन काम करता है, और जीवान्मा जिसमें अपने को कर्त्ता समझती है, वह कर्मयोग कहलाता है। हठयोग, तत्रयोग, शब्दयोग, जपयोग, प्राणयोग, मुद्राएँ, आसन इत्यादि कर्मयोग कहे जाते हैं। दूसरा उपासना-योग है, जो केवल मन से ही किया जाता है। बाहरी कोई भी क्रिया इसमें नहीं होती और प्राणी अपने को कर्त्ता समझता है। ध्यान धारण, एकाग्रता और निरोध—यह सब उसके ही अंतर्गत है। तीसरा ज्ञानयोग है, जो मन के एकाग्र होने के पश्चात् बुद्धि द्वारा किया

जाता है। इसके साधन—स्वाध्याय, सतसंग और विवेक हैं। सारी साधनाएँ यही तक आकर समाप्त हो जाती हैं। आगे प्रेम-योग या समर्पण-योग है, जो साधना नहीं, बल्कि सिद्धि है।

इन तीनों के बीच का उपासना-योग सबसे श्रेष्ठ है, जल्द पहुँचानेवाला है, शीघ्र फल देनेवाला है और सरल है। आजकल के लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उपासना की तीन क्रियाएँ हैं—धारणा, ध्यान और प्रत्याहार। किसी एक ध्येय को पकड़कर मन को रोकना धारणा कहलाता है। जब ध्याता अथवा ध्यान करनेवाला अपने ध्येय में समा जाता है और अपने ध्येय का ज्ञान खो बैठता है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्येय को छाड़कर जब मन किसी और विषय की ओर दौड़ जाता है और अभ्यासी उसे फिर खींचकर ध्यान में लगाने का प्रयत्न करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। सारी चिन्ताओं से थोड़ी देर के लिए अपने को मुक्त करके दिव्य ज्योति का ध्यान हृदय-क्षेत्र में करना होता है; क्योंकि वही पर प्रीतिम के रहने का स्थान है।

गीता (अध्याय १८।६१) में भी भगवान ने ईश्वर का निवास हृदय में बताया है और उपनिषद् में भी कहा है कि ब्रह्म अगुण्ड-मात्र स्थान में हृदय में निवास करते हैं। अतः अन्य सतमतों का प्रणाली का तरह भुकुटा या आज्ञा-चक्र की भूमि को प्रथम पकड़ने और फिर वहाँ से ऊँचे को चढ़ाई करने की प्रक्रिया के बदले रामाश्रम-मत हृदय-देश में ध्यान करने का कहता है; क्योंकि उपासना-मार्ग का साधक इस विचार को लेकर चलता है कि प्रभु दूर नहीं, बल्कि उसके समीप के भी समीप है और हमारे निज के रहने का स्थान हृदय-देश में ही निवास करता है। वह न तो किसी दूसरे चक्र का भेदन हो करता है और न हृदय को छोड़कर दूसरी भूमि में जाता है। यदि कोई अद्भुत दृश्य वा अद्भुत शब्द उसके सम्मुख आता है, तो उधर से देवा-देवताओं का दर्शन से उसका कोई सरोकार नहीं होता; वह तो गहरी दृष्टि से उड़ी अँधेरी गुफा में अपने प्रियतम को टटोड़ता है और चारों ओर से वृत्ति समेटकर आँखों को बाहर से बंद करके अपने प्यारे की ढूँढ़ने में लग जाता है, उसका नाम ले-लेकर पुकारता है, दर्शन देने के लिए स्तुति और प्रार्थना करता है, उसके वियोग में

रोता है, बिकल होता है। कभी-कभी आशा के संचार होने पर गद्गद हो उठता है, तड़पता है, उसके प्रेमियों से उसका पता पूछता है, उसके प्रेमियों की खुशामद करता है, सेवा-गुश्रूषा से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, अपने को उनके चरणों में डालता है, उनका आश्रय लेता है, अपने को उनकी भेट चढ़ाता है, तन-मन-धन उन्हें समर्पण करता है। ये उपासना के साध्य हैं। इनकी धारणा और गुरु समर्पण कहते हैं।¹

यह है उपासना की क्रिया, जिसमें अपना कर्त्तव्य कुछ काम नहीं देता, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, केवल अहंकार त्याग कर सद्गुरु के आश्रित होना है और गुरु अपनी शक्ति से उसके मल और कुसंस्कारों के आवरणों को हटा देता है तथा शुद्ध और निर्मल बना दर्शन कराता है। इसमें जो कुछ समय खर्च होता है, वह अहंकार को तोड़ने के लिए किया जाता है, क्योंकि अहंकार मौजूद होते हुए समर्पण न कोई कर सकता है, और न हो सकता है।

अतः इस मत में योग-क्रिया का कोई स्थान नहीं है। गुरु के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मिटा देना, गुरु में अपने को फना कर देना, उसमें अपना अह-भाव त्यागकर एक हो जाना, साधक का मुख्य कर्त्तव्य है। इसी से कल्याण होता है। यह अवस्था आते ही भगवद्दर्शन हो जाता है, जिससे साधक वृत्तकृत्य हो जाता है। पर इस अवस्था के लाने में कुछ समय लगता है। इसके तीन दर्जे होते हैं। प्रथम अवस्था में जब साधक गुरु का चिन्तन निरन्तर करता है, उसकी याद हरदम रखता है, तब कुछ दिवस पश्चात् उसे अपना स्थूल शरीर प्रत्यक्ष गुरु का ही शरीर दिखाई देने लगता है, उसका मुख गुरु का ही मुख है, उसकी आँखें गुरु की ही आँखें हैं, उसकी जिह्वा गुरु की ही जिह्वा है, उसकी वाणी गुरु की वाणी है, उसके हाथ-पाँव, देह आदि सब गुरु के रूप हो गए हैं। यह पहली अवस्था है, जो स्थूल को स्थूल में लय कर देती है।

इसके पश्चात् द्वितीय अवस्था का प्रारम्भ होता है। इसमें अपना मन, बुद्धि और अहंकार, गुरु के मन, बुद्धि और अहंकार में लीन हो जाते हैं। यह सूक्ष्म का सूक्ष्म में लय होना कहलाता है।

तृतीय अवस्था में साधक की चैतन्य आत्मा गुरु की चैतन्य आत्मा में समा जाती है और वह पूर्ण रूप से लय-योगी बन जाता है। ऐसा लगता है कि तृतीय

अवस्था भी अन्तिम पद नहीं है। यहाँ का दर्शन भी अन्तिम दर्शन नहीं है। साधक को इसके आगे बढ़ना होता है।

रामाश्रम सत्संग और संतमतों की तुलना में उदार है, अतएव सबके लिए ग्राह्य है। इस सत्संग में किसी रुढ़िवादी नियम का बंधन नहीं है। मूर्त-पूजा भी वर्जित नहीं है और न इस मत के स्थापक डाक्टर साहब अथवा परमगुरु महात्मा श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान ही अनिवार्य है। साधक को अपने इष्ट देवता अथवा अपने गुरु का ध्यान करने की छूट है। डाक्टर साहब का ध्यान भी इस दृष्टिकोण से वे कर सकते हैं कि उनमें और अपने गुरु में अथवा अपने इष्ट देवता में कोई वास्तविक भेद नहीं है, स्वरूप भिन्न भले ही हो। निराकारवादी को डाक्टर साहब का उपदेश था : “दय मे उस ‘ॐ’ को देखो, जो अत्यन्त प्रकाशमान है और प्रकाश-रूप है, तुम सर्वाङ्ग प्रकाशमान हो रहे हो।”

रामाश्रम-सत्संग के उपदेशानुसार दिन-रात में कम-से-कम एक घंटा ध्यान अपेक्षित है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक ही बार एक घंटा ध्यान किया जाए। सुविधानुसार एक घंटे के समय को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। ध्यान की प्रक्रिया बहुत सरल है। ध्यान से पहले बात करना बंद कर देना चाहिए, पुस्तक पढ़ना छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से ध्यान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। सद्ग्रन्थों ने बताया है कि स्तुति, उपासना और प्रार्थना के क्रम पर चलकर मनुष्य उस सत्-चित्-ज्ञान-रूपी ब्रह्म के देश में जल्द पहुँच सकता है, उसका दर्शन-लाभ कर सकता है।

स्तुति, कीर्ति या बड़ाई का वर्णन करने को कहते हैं। उपासना होठ, जिह्वा और मन को स्थिर कर ऐसी कल्पना करने को कहा जाता है, जिसमें जिज्ञासु ऐसा ख्याल बाँधता है कि हम उसके बिल्कुल समीप और सम्मुख बैठे हैं और वह हमको देख रहा है। रोजाना के अभ्यास से यह सकल्प इतना दृढ़ और ठोस बन जाता है कि वह वस्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है। यहाँ हमारा यह अनुभव इतना पक्का बन जाता है कि जिसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रहती। इसी अवस्था को ‘उपासना’ कहा जाता है।

‘प्रार्थना’ का क्रम उपासना के उपरान्त आता है। बिना उपासना के प्रार्थना करना ऐसा है, जैसे हवा में तीर चलाना। वह थोड़ी होती है, उसका न तो कोई प्रभाव होता है और न लाभ मिलता है। प्रार्थना अपनी इच्छित वस्तु माँगने को कहते हैं, चाहे वह सासारिक हो, चाहे पारमार्थिक। उपासना-सहित

प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है और मंजूर भी होती है। उपासना के समय की प्रार्थना के लिए न तो जोर-जोर से चिल्लाने की जरूरत होती है और न बार-बार रट लगाने की। वह तो नम्रतापूर्वक धीमे-से एक बार उनके कानों में पहुँचा दी जाती है और बस। 'हाँ' और 'ना' का उत्तर भी उस प्रार्थी को उसी समय मिल जाता है। ऐसा नहीं है कि सभी प्रार्थनाएँ स्वीकृत ही हो जाएँ, यह सब अधीश्वर की कृपा पर निर्भर है। उपासना के स्थान तक पहुँचा हुआ भक्त भी बदल जाता है। वह जिद्द नहीं करना चाहता। भगवान की मर्जी पर ही प्रसन्न रहता है और इसी में अपना कल्याण समझता है।¹

भजन करनेवालों को भजन के प्रारम्भ में सबसे पहले मन-ही-मन गुरु को प्रणाम करना चाहिए। उसके बाद अपने भजन की क्रिया शुरू करनी चाहिए। रामाश्रम-सत्संग के नियम के अनुसार प्रथम गुरु-वन्दना, फिर ईश-विनय, उसके पश्चात् ध्यान की परिपाटी है। ध्यान के पश्चात् अन्तिम प्रार्थना शान्ति-पाठ का उच्चारण करके समाप्त की जाती है। गुरु-वन्दना, ईश-विनय और अन्तिम प्रार्थना का रूप निर्धारित है। इन सारी क्रियाओं को सब मिलाकर व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से किया जाता है। जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, यह निश्चित है। यह सारी क्रिया ४५ मिनट के भीतर समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् किसी पुस्तक का १५ मिनट स्वाध्याय भी होना चाहिए ताकि लोगों में प्रेम उभरे और बुद्धि पर से अविद्या का आवरण हटे।

इस मत में ईश्वर से पहले गुरु को रखा गया है। उसकी वन्दना भी ईश्वर-वन्दना से पहले करने को कहा है। ऐसा करने से, डाक्टर साहब के ही शब्दों में, निम्नलिखित लाभ है

“एक ओर यह मायावी स्थूल जगत है, जिसमें राजसी और तामसी विषयो की आँधी बड़े प्रबल वेग से बह रही है। दूसरी ओर आत्मा या ईश्वर है, जो महान् सूक्ष्म है। उसके स्थान तक पहुँचना और उसे पकड़ में ले आना साधारण काम नहीं है। मनुष्य इन दोनों के बीच में खड़ा है। जब वह इधर से मुख मोड़कर आत्मा की ओर जाना चाहता है तब मन का प्रवाह, जो नीचे स्थूल की ओर जा रहा है, उसे धक्का देता है और ऐसा करने से रोकता है।

“महागुरु का शरीर स्थूल होता है पर उनके शरीर के परमाणु सूक्ष्म होते हैं। वह स्थूल और सूक्ष्म के बीच की एक शीज है। उसकी शक्ति भी देखी-भाली है। मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी देखी हुई और स्थूल शक्ति का ध्यान अभ्यासी के लिए आसान पड़ता है। ऐसा करने से साधक अनेक से एक पर आ जाता है, चाहे वह भले ही स्थूल हो। आगे जब इसपर मन ठहर जाए तब उसे सूक्ष्म की ओर झुकाएँ और ईश-चिन्तन में लग जाएँ, पहुँचना वही सूक्ष्म और महान सूक्ष्म के देश में है। लक्ष्य वही है, पर उस लक्ष्य को प्राप्त करने का यह क्रम अति श्रेष्ठ और शीघ्र सफलता प्रदान करने-वाला है। ऐसा रूतों का अनुभव है। गुरु वंदना का यही लाभ आपको मिलेगा। यह मन को सूक्ष्म की ओर झुकाएगी और भगवान के चरणों तक पहुँचाएगी। उस समय ईश-वंदना करो, फिर ध्यान करो, अंत में प्रार्थना करके समाप्त कर दो।”

मूर्ति-पूजको के लिए पूज्य डाक्टर साहब की सम्मति है कि “या तो साधक पूर्ण भाव के साथ मूर्ति को मूर्ति के रूप में न देखकर इष्ट के रूप में देखते हुए उसकी आराधना करे, कल्पना को छोड़ पूर्ण विश्वास ले आवे। यदि ऐसा करने में उन्मत्त जान पड़े तो अपने गुरु के हृदय-मंदिर में जा घुसे और वहाँ विराजे हुए चैतन्य की मूर्ति की पूजा करने लगे। थोड़े दिन इसकी आजमाइश करके देखो कि जो वस्तु वर्षों के परिश्रम करने पर भी वह मूर्ति तुम्हें न दे पाई थी, बस, उस जीती-जागती देखी-भाली मूर्ति ने तुम्हें अपन कर दी या नहीं। यह बहुत ही सरल और शीघ्र फल देनेवाला साधन है। परन्तु इसके लिए गुरु भी पूर्ण हो और शिष्य भी पूर्ण श्रद्धावान हो।”

डाक्टर साहब का कहना था कि जब शिष्य पूर्णरूपेण अपने को गुरु को समर्पण कर देता है या गुरु उसे अपना लेता है, तो फिर गुरु शिष्य को कभी अकेला नहीं छोड़ता, हर समय उसके साथ रहता है।

रामाश्रम सत्संग में देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भंडारा होता है, जिनमें ज-माष्टमी के अवसर पर टुण्डना (आगरा), शिवरात्रि के दिन मथुरा और दिसम्बर में गया का भंडारा प्रमुख और महाभंडारा की कोटि के हैं।

1. पूज्य गुरु का प्रसाद।

2. ,, ,

६. **बहानी सत्संग**—‘राधास्वामी-सत्संग’ के दूसरे गुरु हुजूर साहेब के समय में श्री जयमंगल सिंह ने व्यास (पंजाब) में एक स्वतंत्र शाखा की स्थापना की। आपकी सिष्य-परम्परा में बाबा सावन सिंह हुए। उन्हीं की आज्ञा से बहानी सत्संग की स्थापना सद्गुरु श्री कृपाल सिंह ने की। यद्यपि इस संतमत की स्थापना केवल २० वर्ष पूर्व सन् १९४८ ई० में हुई और तीन वर्ष बाद सन् १९५१ ई० में सावन-आश्रम की स्थापना गुडमंडी, दिल्ली में हुई तथापि आज इस सत्संग का व्यापक रूप से प्रचार हो चुका है। प्रेम की धारा जो आपको हृदय में बह रही है, वह उसी का प्रताप है कि भारत के सभी बगों और जातियों व समाजों के अतिरिक्त यूरोप और अमेरिका के सभी मतों के ईसाइयों, इजराइल के यहूदियों, भारत, पाकिस्तान और अरब देशों के मुसलमानों, अफ्रीका एवं अमेरिका के हब्सियों, मलेशिया तथा अन्य पूर्वी देशों के बौद्धों का प्रेम, प्यार और सम्मान आपको प्राप्त है। आपके दीक्षितों में विश्व के लगभग सभी देशों, जातियों, विचारधाराओं तथा समाज के लोग सम्मिलित हैं।

श्री कृपाल सिंह जी धर्मग्रन्थों के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे कि परमार्थ में सफलता के लिए गुरु का मिलना जरूरी है, पर हर वक्त मन में यह खटका लगा रहता है कि किसी अघकचड़े से वाग्मना न पड़ जाए। इनके हृदय की सच्ची पुकार प्रभु ने सुनी और उस वक्त के सत सद्गुरु हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज का दिव्य स्वरूप इनके अन्तर में आने लगा। यह हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणों में जाने से सात साल पहले, सन् १९१७ ई०, की बात है।

हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज से मुलाकात भी एक विचित्र संयोग था। सन् १९२४ ई० की बात है। आप लाहौर में मिलिटरी एकाउण्ट्स दफ्तर में काम करते थे। नदी का तट देखने का शौक आपको व्यास नदी के तट पर ले गया। व्यास स्टेशन पर जो अमृतसर और जालंधर के बीच स्थित है, जब आप उतरे तब मालूम हुआ कि नदी-तट पर सतों का डेरा है। आप वहाँ गए और हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणों में पहुँचते ही देखा कि यह तो वही दिव्य स्वरूप है, जो सात साल से मेरे अन्तर में पथ-प्रदर्शन रहा है।

३६ वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद मार्च, १९४७ ई० में आपने अवकाश ग्रहण किया और उसके बाद से रात-दिन सतगुरु दयाल हुजूर बाबा सावन

सिंह जी महाराज के मिशन को पूरा करने में लगे हुए हैं। बाबा स्वयं २ अप्रैल, १९४८ ई० को जीवो के कल्याण का काम आपको सौंपकर परमधाम को सिधारा गए। गुरु के आदेशानुसार सन् १९४८ ई० में आपने 'रुहानो सत्संग' और सन् १९५१ ई० में दिल्ली में 'सावन-आश्रम' की स्थापना की, जहाँ जाति-पाँत, रंग-भेद, देश व समाज के भेदभाव के वगैर हर एक परमार्थभिलाषी को आत्मतत्त्व-बोध का व्यक्तिगत अनुभव दिया जाता है।

सन् १९५५ ई० में आपने यूरोप, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों का भ्रमण किया और लोगों को आत्मानुभव की बातें कहीं। सन् १९६३ ई० में आपने दूसरी बार विश्व-यात्रा की और हाल ही तीसरी बार ५२ देशों के निमंत्रण पर फिर विश्व-यात्रा पर गए थे। सन् १९५७ ई० में आप सर्वसम्मति से विश्वधर्म-सम्मेलन के अध्यक्ष चुन गए और आज तक इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के अध्यक्ष-पद पर बने हैं। आपकी अमृतवाणी सुनने का सौभाग्य मुझ हरिद्वार के अर्द्धकुम्भ (अप्रैल, १९६८ ई०) मले में प्राप्त हुआ था।

मानव-जाति के दुःख दूर करने और भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के हेतु आप एक स्वतन्त्रमुखी आन्दोलन आरम्भ कर रहे हैं, जो जन-जीवन को हर पहलू से उँचा उठाएगा और मानव-हृदय से सकाण्ता और कठोरता को दूर कर प्रभु-प्रेम और विश्व प्रेम की भावना का संचार करेगा, जिससे आपसी कलह, सासारिक क्लेश और मानसिक अशान्ति मिटे तथा सुख और सोहार्द की व्यापकता बढ़े।

सती के मिनन की व्याख्या करते हुए सत कृपाल सिंह जी कहते हैं—
“दो तरह की ताकतें प्रभु की दुनिया में काम करती हैं—एक है काल और दूसरा है दयाल। इनके अपने-अपने काम हैं। जिस तरह सेनापति और प्रधानमंत्री बादशाह या राष्ट्रपति से ताकत लेते हैं, लेकिन काम अपना-अपना करते हैं, या जैसे बिजली है, जो कहीं आग जलाती है तो कहीं बर्फ जमाती है, लेकिन ताकत एक ही है, वैसे ही काल और दयाल दोनों के अवतार होते हैं। जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब धर्मियों का नाश करने के लिए और धर्मियों का उद्धार करने के लिए तथा दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए प्रभु मानव-रूप में अवतरित होते हैं। चूँकि इनका कार्य सहार करके सृजन करना है, इसलिए ये काल कहे जाते हैं। और, दयाल के अवतार का अर्थ है संत जन। उनका कार्य है जीवों को जावागमन से छुड़ाकर प्रभु के धाम

वापस ले जाना। काल के अवतार होते हैं दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए और सत् जन (दयाल के अवतार) आते हैं दुनिया को गैर-आबाद करने के लिए। उनका काम है—तुरत मिलावे राम से उन्हें मिले जो कोय।

महागुरु आकर हमें जगाने हैं, अपने-आप को एहसास (स्मरण) दिलाते हैं कि तुम आत्मा हो, शरीर के इस मकान के निवासी हो। इसका खलानेवाला कोई अन्य ही है, जो महान्तम है। शरीर में तुम कायम हो किसी और ताकत के सहारे, जो इस जिस्म (शरीर) में तुम्हारा कण्ट्रोल (शासन) कर रही है, बरना नौ द्वार खुले पड़ें हैं, यह (शरीर का निवासी) कब का न भाग जाए। लेकिन यह भाग नहीं सकता। साँस बाहर जाती है, किन्तु बाहर रह नहीं सकती। कोई ताकत उसे डकेलकर वापस ला रही है। वह करण-कारण (कण्ट्रोलिंग पावर) सत्ता है, जो सबका प्रतिपालक और जीवनाधार है। वह परमात्मा है। उसको जानो। उससे जुड़ो।

दो भ्रू-मध्य आँखों के पीछे उस ज्योति-स्वरूप प्रभु की ज्योति को देखने-वाला बन जाओ। काम करते समय यह अनुभव तुम्हारे अंदर जाग उठे कि सब कुछ प्रभु कर रहा है, मैं कुछ भी नहीं करता। यह समझो कि मेरा किया कुछ न हो, जो हरि मावे सो हो।

संत जी कहते हैं कि जिस समाज में तुम हो, वह समाज तुम्हें सुबारक। अपने-अपने समाज में रहो। आने-आने रस्म-रिवाज और बोलचाल रखो। अपने-आप को जानो और प्रभु को पाओगे।¹

७. सिक्ख-धर्म—सिक्ख-धर्म सतमत के बहुत निकट है। फर्क यह है कि यहाँ सूरत-योग की प्रक्रिया नहीं है। विश्व-कल्याण की भावना, निराकार ईश्वर की उपासना तथा गुरु-पूजा की दृष्टि से यह सतमत से मिलता-जुलता है। इस मत में दस गुरु हुए हैं। अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह जी ने गुरु की परम्परा समाप्त करते हुए कहा कि आगे से श्रीगुरु-ग्रन्थसाहिब जी सबके गुरु होंगे। अतः सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ श्री गुरु-ग्रन्थसाहिब है। गुरु की भाँति ही उसके प्रति श्रद्धा रखने का आदेश है। बड़े-बड़े कोई १५०० पृष्ठों के गुरु-ग्रन्थ में आदि-गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की वाणी है। सत कबीर, रंदास, नामदेव, घना, फरीद, भोखन, बेणी, सूरदास आदि सत्ता और भक्तों की वाणियाँ भी संगृहीत हैं।

उनपर जो आचरण करेगा, वह तरे बिना नहीं रहेगा । आइए, हम उसकी हल्की सी भीकी लें—

१. गुरु परमेश्वर एको जानु ।

गुरु परमेश्वर एको जानु । जोति सु भाबे सो परमानु ॥
गुरु खरणी जाका मनु लागे । बुलु बरबु भन्नु ताका भागे ॥
गुरु की सेवा पाए मानु । गुरु ऊपरि सब कुरबानु ॥
गुरु के सेवकउ बुलु न बिआये । गुरु का सेवक बहबिसि जाये ॥
गुरु की महिमा कथनु न जाय । परब्रह्म गुरु रहिअ समाय ॥
कहे नामक जाके पूरे भाग । गुरु खरणी ताके मत लाग ॥

२. गुरु की सूरति मनमहि ध्यानु । गुरु के सबवि भन्नु मनु मानु ॥
गुरु के खरण रिबेलिए धारउ । गुरु परब्रह्म सब नमस्कारउ ॥
मत को सरमि भूलें ससारी । गुरु बिन कोई न उतरति पारी ।
कहु नामक प्रभु इहे जनाई । बिन गुरु मुक्ति न पाइए काई ॥

३. गुरु मेरी पूजा गुरु गोविन्दु । गुरु मेरा परब्रह्म गुरु भगवन्तु ॥
गुरु मेरा गिआनु गुरु रिब्धिआनु । गुरु गोपाल पुरुष भगवानु ॥
गुरु बोहि उतारे सब पारि । गुरु सेवा जप न छुडकारि ॥
अंधकार महि गुरुमत्रु उजारा । गुरु के संगि सगल निसतारा ॥
गुरु का सबहु न मेरे कोई । गुरु नामकु नामकु हरि होई ॥

गुरु-ग्रन्थ की पूजा का अर्थ है, गुरु-ग्रन्थ की वाणी के अनुसार अपने जीवन को पवित्र सचि में ढालना । उसे माथे से लगाने से, उसपर पखा झनने से ही उसका आदर नहीं होता । उसका सच्चा आदर होता है उसके अनुसार अपना जीवन सुधारने से ।

सिक्ख-धर्म में एक ईश्वर की उपासना की जाती है । गुरु ग्रन्थ में परमेश्वर के बहुत-से नाम आए हैं, जैसे—हरि, राम, प्रभु, भगवान, विभन, ब्रह्म, गोविन्द, गोपाल, गोसाई, ईश्वर, माधो, मुरारी, परब्रह्म, अल्लाह, करीम, रब्ब, रहीम, साहिब, मातु, पिआरा, प्रीतम, वाहगुरु आदि ।

प्रभु के असंख्य नाम हैं । इन नामों का स्मरण करने पर, इनका जप करने पर, सिक्ख-धर्म में बहुत जोर दिया गया है । यहाँ तक कहा गया है कि 'नाम न जर्पाहि ते आतमघाती' ।

इस नाम-जप का, नाम-स्मरण का अर्थ यह है कि हम उस परमेश्वर को एक पल के लिए भी न भूलें। उसे सदा याद रखें। हरदम अपना आँखों के आगे माने और जब हम मानेंगे कि वह प्रभु सर्वव्यापी है, घट-घट का वासी है, हर जगह मौजूद है, फिर हमसे कोई गलत काम होगा तो कैसे होगा ? जो आदमी भीतर और बाहर सबत्र भगवान् के दर्शन करता है, उसका जीवन पवित्र हुए बिना रह सकेगा कैसे ?

गुरु नानक का आदेश है—(१) नाम जरो, (२) कीरत करो, (३) वण्ड के छत्ता, याना पसीने की कमाई मिन-बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं उन्हीं को बाह्यगुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलना है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का आरम्भ हाता है जुजो मे। लोग मानते हैं कि आदिगुरु के सारे उद्देश्यों का मार इममे समा गया है। सिक्ख नित्य उसका मगन-पाठ करते हैं उसे जपते हैं। आइए, जुजो की एक झलक लें—

ऊँकार सतिगम करता पुरुषु निरमउ।

निरबंहे अकाल मुरति अजुनी संभ गुरु प्रसाद।

यह है मगनाचरण—

आदि सचु, जुगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु।

नानक कहते हैं कि सत्यरूप परमात्मा सदा से ही, आदि काल से हैं, युग-युग से हैं भूतकाल में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेंगे। ऐसे हैं वह सत्यरूप परमात्मा।

गुरु-ग्रन्थसाहिब के सुखमनी साहिब-अश, जो शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबध कमिटो, अमृतसर से प्रकाशित हुआ है, नित्य के पाठ के काम में आता है।

सतमत मन्वधी उगुंक्त वणन से स्पष्ट है कि सत्तो का एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है। सुरतयोग की साधना और गुरु को ईश्वर तुल्य समझकर पूजा या ध्यान करने का विधान सतमत में है। अतएव निगुण और एकेश्वरवादी होने के कारण मूर्ति-पूजा का वहाँ स्थान नहीं रहने पर भी साक्षात् गुरु की पूजा अथवा उसी मूर्ति वा चित्र की पूजा या ध्यान का विधान है। इसी कारण आषाढ़ शुक्ल १५ को सतमत के अनुयायी श्रद्धापूर्वक गुरु-पूजा करते हैं। इन सतमतों में रामाश्रम-सत्सग की यह विशेषता है कि इस मत में सुरतयोग की साधना पर न तो जोर दिया गया है और न मूर्ति-पूजा का

विरोध ही किया गया है। गुह में आस्था और ध्यान साधना के प्रमुख अंग माने गए हैं।

८. स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने विषय के सबसे उत्कृष्ट और संपन्न ग्रंथ 'उत्तर-भारत की संत-परम्परा' में स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी की गणना संतों की कोटि में की है। यह ठीक है कि जिनके स्थान पर पहुँचते ही मन के विकार नष्ट हो जाएँ तथा जिनके अंदर से हर समय आनंद और हर्ष की धाराएँ निकलती हुई अनुभव हो, उनको 'संत' कहते हैं। अतः संत की उपयुक्त परिभाषा के अनुसार निस्संदेह स्वामी रामतीर्थ और महात्मा गांधी संत थे। निस्संदेह ये दोनों भारत के आकाश के उज्ज्वल नक्षत्र थे और इनका स्थान अनेक संतों के भी ऊपर है। किन्तु आज संत की जो परिभाषा की जाती है, उसके अंतर्गत ये नहीं आते।

पुराने संतों का कार्य समयानुसार अधिकतर धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। उनका सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने का ढंग ही स्वभावतः उसी भावना से प्रेरित था। विश्व-कल्याण उन संतों का लक्ष्य रहा। उनका लक्ष्य कभी स्वार्थपरक नहीं रहा। उन लोगों ने आत्मानुभूति की अपेक्षा विश्व-कल्याण को हेतु नहीं माना। आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की सिद्धि साथ-साथ हो सकने में वे विश्वास रखते थे। और, उसी उद्देश्य को लेकर उन लोगों ने जीवन-भर कार्य किया। उनका जीवन उनके उपदेशों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनका सिद्धान्त था कि जहाँ सब समाज के भाई आपस में प्रेम-प्यार-सहित इकट्ठे मिल बैठें, वहाँ किसी एक या दूसरे समाज का कोई चिह्न-चक्र, रस्म-रिवाज या बंधन न रहे, सब अपने-अपने समाज में रहे, अपने-अपने रस्म-रिवाज और बोली रखें और इकट्ठे मिलकर अपने-आपको जाने, प्रभु को पहचानें। परमात्मा ने मनुष्यों को बनाया। मनुष्य ने समाज बनाया, इसलिए कि मनुष्य नेक-पाक सदाचारी जीवन व्यतीत करे, मनुष्य मनुष्य के काम खावे ताकि दुनिया में जीवन-यात्रा सुख से व्यतीत हो और सब मिलकर परमतत्त्व का अनुभव करें, अपने-आपको जाने और प्रभु को पहचानें।

इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी ने अपने कार्य क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया था, और वे एक ही साथ समाज की सर्वांगीण उन्नति में लगे हुए

ये । अतः जनकल्याण के दृष्टिकोण से यद्यपि संतमत तथा गांधीवाद के मौलिक सिद्धान्तों में कोई भी अन्तर नहीं है, न इन दोनों के प्रमुख साधनों में किसी प्रकार का भेद-भाव बताया गया है, तथापि गांधीवाद और स्वामी रामतीर्थ के विशुद्ध वेदान्त में न निराकार की उपासना की भावना है, न सुरतयोग के साधन की प्रक्रिया है और न गुरु-ध्यान का बंधन है, जो संतमत की आधारशिला रहा है । अतः इन दोनों महापुरुषों की गणना महात्माओं की कोटि में की जा सकती है, न कि संतों की कोटि में ।



दूसरा परिच्छेद

आधुनिक काल का सिंहावलोकन

“भारत-सरीबे बड़े विस्तार और आबादीवाले देश में, जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अति प्राचीन है, जिसके जनसमूह में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गईं, धार्मिक संप्रदायों के अगणित विभाग होना अस्वाभाविक बात नहीं है। भारत में अनेक मत-मतान्तर हैं, जिनके अनुयायियों की संख्या और साहित्य नगण्य नहीं हैं; फिर भी आबादी का एक भारी अंश ऐसा भी है, जो अपने को किसी संप्रदाय, पथ या मत में नहीं गिनता और अपने को साधिकार हिन्दू कहता है, क्योंकि वह किसी-न-किसी हिन्दू-जाति या बिरादरी का है। उसके चूल्हे-चौके, खान-पान, पर्व-त्योहार, जन्म, विवाह, प्रेत-कर्म, श्राद्ध आदि के काम-काज हिन्दू रीति-रस्म के साथ होते हैं। उन लोगों का धर्म भी हिन्दू-धर्म है, जिसके अनुसार वे किसी देवी या देवता की पूजा और भजन भी करते हैं, जिसमें परमात्मा, परमेश्वर, भगवान या ब्रम्हा की भावना भरी होती है। उनके यहाँ नवरात्रों में दोबारा नवदुर्गा की पूजा होती है, साथ साथ रामनवमी, गंगा-दशहरा, श्रावणी, जन्माष्टमी, पितृपक्ष, विजयादशमी, दीपावली, प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, सक्रान्ति, वसंत-पंचमी, शिवरात्रि, होली आदि पर्व-त्योहार और व्रत मनाए जाते हैं और विविध देवताओं की पूजा होती है। ऐसे लोगों को साधारणतया ‘स्मात्’ कहते हैं। स्मृति कोई संप्रदाय या पथ नहीं है। इसे साधारण जन-समुदाय का धर्म समझना चाहिए।”

भारत की हिन्दू-जनता को हम सात धार्मिक विभागों में बाँट सकते हैं :—

(१) वे, जो देवी-देवताओं को पूजते हैं, पर्व-त्योहार मनाते हैं और कुछ आवश्यक संस्कार करते हैं तथा अपना कोई उपास्य देव अथवा विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति नहीं रखते। ऐसे हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक है।

(२) वे, जो सभी देवी-देवताओं को पूजते हैं, सभी पर्व-त्योहार मनाते हैं और मुख्य-मुख्य संस्कार भी करते हैं, परन्तु साथ-साथ अपना कोई विशेष उपास्य देव भी नहीं मानते हैं; उनका भजन करते हैं और विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति भी रखते हैं—पि अपने को किसी विशेष पंथ या संप्रदाय का अनुयायी नहीं समझते या बताते ।

(३) वे, जो किसी विशेष संप्रदाय या मत के अनुयायी हैं और उसी के अनुकूल अपना आचार-विचार और व्यवहार रखते हैं । उन संस्कारों, व्रत-त्योहारों, उत्सवों और सिद्धान्तों या दार्शनिक विचारों को मानते हैं, जो उनके संप्रदाय, पंथ या मत के अनुकूल पड़ते हैं ।

(४) एक समुदाय सुधारवादी हिन्दुओं का है, जिसमें राधास्वामी, कबीर-पंथी आदि सम्मिलित हैं, जो निराकार ईश्वर की उपासना करते हुए गुरु एव गुरु-वाक्यों का आदर करते हैं, गुरु का ध्यान और उनकी पूजा करते हैं, उन्हें ईश्वर मानते हैं, किन्तु वेदान्तियों में विशेष आस्था नहीं रखते । सिक्ख-धर्म इसी कोटि का है ।

(५) एक ऐसे वर्ग के हिन्दू जन हैं, जो आर्य-समाजी कहे जाते हैं, जो देवी-देवताओं, अवतार आदि को नहीं मानते, किन्तु निराकार ईश्वर की उपासना करते और वेद को ईश्वर का वाक्य समझते हैं ।

(६) एक समुदाय शुद्ध वेदान्तियों का है, जो अपने को ही ईश्वर मानता है : सोऽहमस्मि और अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना करता है । इस समुदाय का ३. उपासना-मंत्र ओम् सोऽहम् आदि है ।

(७) एक विभाग उन लोगों का है, जो जन्म से तो हिन्दू-परिवार के अंग हैं, परन्तु अपने को अनीश्वरवादी कहते हैं और किसी तरह का धार्मिक बंधन नहीं मानते ।^१

उपयुक्त सात प्रकार के हिन्दुओं में प्रथम चार ही इस ग्रन्थ से संबंधित हैं; क्योंकि ये स्पष्टतया प्रतीक-पूजक होते हैं । इनकी सम्मिलित संख्या लगभग ८५% से ९०% है । इनमें प्रथम तीन ही आज हिन्दू-धर्म की रीढ़ हैं । ये उपास, व्रत तथा तीर्थयात्रा में विश्वास एवं आस्था रखते हैं । इनका विश्वास

है कि तीर्थाटन करने से पुण्य-लाभ के साथ-साथ आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है, बहुदर्शिता और उदारता की भावना आती है, सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से मुक्ति पाने के भाव मन में उद्भूत होते हैं। इन सबके अतिरिक्त इन्हें समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप तथा सौंदर्य का दर्शन कर आनन्द प्राप्त होता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगों से मिलकर इन्हें एक-दूसरे को जानने-समझने का मौका मिलता है और सर्वोपरि इनके बीच राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती है।

प्रथम तीन समुदायो में व्रत और उपासना की बड़ी महिमा है। प्राचीन काल में तो अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण सदृश बड़े कठोर व्रत भी किए जाते थे। अतिकृच्छ्र में केवल एक कोर भोजन किया जाता था। वह नौ दिनों का व्रत होता था। चान्द्रायण व्रत पूर्णिमा को पन्द्रह कोर पायस खाकर आरम्भ किया जाता है। उसके बाद प्रत्येक दिन एक-एक कोर कम खाया जाता है। उसके बाद फिर पन्द्रह दिनों के बाद अर्थात् अमावास्या से एक-एक कोर क्रम से भोजन बढ़ाया जाता है। फिर पूर्णिमा को पन्द्रह कोर भोजन पूर्ण करने का विधान है। इस प्रकार यह व्रत एक महीने का होता है। चिरले ही कोई इसे करते हैं। विष्णु, राम या कृष्ण के अनुयायी वैष्णव लोग प्रतिमास दोनों एकादशियों को व्रत रखते हैं। इस व्रत में फल, कद-मूल एवं दूध का भोजन करते हैं। शैब भी महीने में दो बार त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत रखते हैं और विवाहित स्त्रियाँ अपने चिरसोभाग्य के लिए द्वादशी को प्रदोष-व्रत रखती हैं।

ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के होते हैं—

(क) जिस व्रत के न करने से दोष लगता है, वह नित्य है; जैसे वैष्णवों के लिए एकादशी।

(ख) जो किसी विशेष फल के लिए किया जाता है, वह नैमित्तिक व्रत है।

(ग) किसी विशेष कामना से तिथि-विशेष पर जो व्रत किया जाता है, वह काम्य व्रत है।

चारों वर्णों और आश्रमों के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को व्रत रखने का अधिकार है। व्रतारम्भ में सयम और संकल्प आवश्यक है। व्रती को व्रत-कथा भी सुनना अनिवार्य है, यद्यपि चिरले ही कोई व्यक्ति इसका पालन करता है।

व्रतारम्भ के समय अशौच हो जाए तो व्रत जारी रखना वर्जित है। किसी कारण से कोई व्रत न किया जा सके तो प्रतिनिधि द्वारा यह कराया जा सकता है। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रतिनिधि हो सकते हैं। कोई ब्राह्मण भी, विशेषतः परिवार का पुरोहित, निष्क्रिय-द्रव्य लेकर प्रतिनिधि बन सकता है। इसका जबलन्त उदाहरण छठ-व्रत है, जिसका अनेक लोग कर्मी-व्रती को अपना प्रतिनिधि मानकर निर्वाह करते हैं।

प्रमुख व्रत

(१) बंशव-व्रत—(क) रामनवमी—श्रीरामचन्द्र जी का जन्म-दिवस (चैत्र-शुक्ल नवमी), (ख) कृष्णाष्टमी—भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस (भाद्र कृष्ण अष्टमी), (ग) वामन-द्वादशी—भगवान् वामन का जन्म-दिवस (भाद्र-शुक्ल एकादशी), (घ) वर्ष के प्रत्येक मास को दोनों एकादशी तिथियाँ (सभी एकादशियों में कार्तिक शुक्ल-पक्ष की एकादशी, जो देवोत्थान एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है और इसे अनेक स्मार्त्त मनाते हैं)।

(२) शिव-संबंधी—प्रत्येक मास की द्वादशी को प्रदोष-व्रत और त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत होता है। फाल्गुन मास की शिवरात्रि महाशिवरात्रि है। अनेक स्मार्त्त इस शिवरात्रि-व्रत को मनाते हैं। श्रावण मास विशेष रूप से शिवमास समझा जाता है। इसके प्रति सोमवार को पूजन तथा उत्सव होते हैं और उनमें स्त्री-पुरुष समान रूप से बड़े ही उल्लास से भाग लेते हैं।

(३) विष्णु-शिव सम्मिलित पर्व—कार्तिक-शुक्ल चतुर्दशी वैकुण्ठ चतुर्दशी के नाम से प्रख्यात है। इस तिथि को विष्णु और शिव की पूजा एक साथ होती है। यह समन्वयवादी व्रत है। परन्तु इस व्रत के माननेवालों की संख्या न्यून है।

(४) देवी-संबंधी व्रत—चैत्र तथा आश्विन मास के शुक्लपक्ष के प्रथम नौ दिन 'नवरात्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नौ दिन देवी का धूमधाम से पूजन कर दशमी को भव्य जुलूस के साथ जल में उनका विसर्जन किया जाता है। बंगाल, असम तथा बिहार में यह उत्सव बड़े ही उत्साह के साथ मनाया जाता है। आश्विन का नवरात्र तो व्यापक रूप से मनाया जाता है और हिन्दू-धर्म के हर वर्ग के लोग इसमें सम्मिलित होते हैं।

माघ शुक्ल पंचमी को सरस्वती की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है और साथ-साथ वसंतागमन का उत्सव भी हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता

है। इसीलिए यह वसंत पंचमी के नाम से भी पुकारा जाता है। विद्यार्थी-समाज इस पर्व को विशेष रूप से मनाता है। स्कूलों तथा कॉलेजों में छात्र सरस्वती को भव्य मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी पूजा करते तथा प्रसाद का वितरण करते हैं। फिर दूसरे दिन सभी एकत्र हो उन मूर्तियों का जुलूस निकालते हैं और अवीर-गुलाल उड़ाते हुए अंत में उन्हें जल में प्रवाहित कर देते हैं।

अनेक स्थलों पर वैशाख-शुक्ल नवमी को सीताजी की जन्म-तिथि का उत्सव भी मनाया जाता है।

(५) सूर्य-व्रत—प्रत्येक सन्क्रांति को सौर्य-संप्रदायवाले सूर्य की उपासना करते हैं, किन्तु मुख्य सन्क्रांति माघ और वैशाख मासों की क्रमशः भकर तथा मेष नक्षत्रों की ही है, जिन्हें सभी लोग किसी-न-किसी रूप में मनाते हैं। इस त्योहार में नदी-स्नान और दानादि का माहात्म्य है। रविवार सूर्य का दिन है, अतः अनेक हिन्दू रविवार को भोजन के साथ किसी भी रूप में नमक का व्यवहार नहीं करते। निस्संदेह सूर्य की पूजा स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए की जाती है और सप्ताह में एक दिन नमक न खाने का भी यही उद्देश्य है। सूर्य की पूजा से आध्यात्मिक वृद्धि नहीं होती। कार्तिक-शुक्ल षष्ठी को, जो बड़ी नेम-निष्ठा एवं पवित्रता के साथ छठ-पर्व मनाया जाता है, उसकी भी उपादेयता अनेकानेक चर्मरोगों, जिनमें प्रधानतया कुष्ठरोग है, से छुटकारा पाना ही है। फिर भी विहार में लोग इस पर्व को बड़े भक्ति-भाव से मनाते हैं। सूर्य-षष्ठी को दिन-भर निर्जला उपवास रखकर संध्या में डूबते सूर्य को पहला अर्घ्य देते हैं और सप्तमी के प्रातः-काल बाल सूर्य-दर्शन एवं उसकी रश्मियों का जल के माध्यम से स्पर्श करते हुए दूसरा अर्घ्यदान कर व्रत की समाप्ति करते हैं। सूर्य के विषय में शास्त्रों का वचन भी है : आरोग्य भास्करादिच्छेदं।

(६) गणेश-पर्व—ऐसे तो प्रत्येक मास की चतुर्थी तिथि गणपति की तिथि है, किन्तु विशेष करके भाद्र-शुक्ल चतुर्थी अधिक प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में तो यह समारोह के साथ मनाई जाती है।

(७) अन्य पर्व—अन्य पर्वों में अनन्त चतुर्दशी (भाद्र-शुक्ल चतुर्दशी), यम-द्वितीया-व्रत (कार्तिक-शुक्ल द्वितीया) तथा तीज-व्रत (भाद्र-शुक्ल तृतीया) महत्त्व-पूर्ण हैं। यम-द्वितीया विशेष रूप से भार्ही-बहन का पर्व है। इस दिन बहन

भाई की पूजा करती है और उसकी कलाई में राखी बाँधकर उसकी दीर्घायु और जीवन-रक्षा की कामना करती है तथा अन्त में अपने हृदय का प्रेम उसे मिष्टान्न खिलाकर प्रकट करती है। बहन के इस निष्कपट और गहरे प्यारके प्रतिफल भाई आनन्द से भर उठता है और अपनी प्रिय तथा बहुमूल्य वस्तु उसे उपहार में दे डालता है। तीज-व्रत सुहागिन स्त्रियाँ ही करती हैं; क्योंकि यह उनका सीमाश्रयबद्धक और सुहाग-रक्षक महान व्रत समझा जाता है। स्त्रियाँ इस तिथि के दिन और रात निजंला उपास कर दूसरे दिन सुबेरे अच्छे पकवान बनाकर पति के साथ ग्रहण करती हैं। पति-पत्नी का यह पुण्य पर्व हिन्दू-परिवार में बड़े आदर के साथ मनाया जाता है। आश्विन कृष्णष्टमी को केवल सतान-वती नारियाँ 'जीबन्मुनिका'-व्रत रखती हैं। आश्विन का पूरा कृष्ण पक्ष पितृ-पक्ष कहलाता है और अमावास्या को विशेष रूप से पिण्डदान और तर्पण किया जाता है। इस अवसर पर नैष्ठिक हिन्दू गया जाकर वहाँ के पड़ोस द्वारा पितृ श्राद्ध की क्रिया पूर्ण करते हैं। ऐसा विश्वास है कि गया की प्रेतशिला पहाड़ी पर पिण्डदान एवं फल्गु नदी के किनारे श्राद्ध करने पर और उसके जल से तर्पण करने पर पितर पितृ-लोक से उद्धार पा जाते हैं।

सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण एवं सङ्क्रांति के दिन पर्व के दिन समझे जाते हैं। ऐसे अवसरों पर पवित्र स्थलों के जलाशयों एवं नदियों में स्नान कर दान करने की महत्ता है। कोई-कोई उस दिन उपवास, जप और श्राद्ध-क्रिया भी संपन्न करते हैं। मुख्य-मुख्य स्थलों पर उत्सव मनाया जाता है और मेला लगता है। ग्रहण के दिन कुश्नौर (दिल्ली) के बृहत् जनाशय में स्नान करने से हिन्दू लोग अपने को पाप-मुक्त समझते हैं। सङ्क्रांति में गंगा और गोदावरी का स्नान सबसे पवित्र माना जाता है।

तीर्थ और तीर्थ-यात्रा

पद्मपुराण में तीन प्रकार के तीर्थ कहे गए हैं—(१) जंगम, (२) स्थावर और (३) मानस। पवित्र स्वभाववाले ब्राह्मण और सकामप्रद गाय जंगम तीर्थ हैं। गंगादि नदियाँ, पवित्र सरोवर, अक्षयवटादि वृक्ष, गिरि-कानन, समुद्र, काशी आदि पुरियाँ स्थावर तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, शम, दम, दया, दान, सतोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, तपस्या आदि मानस तीर्थ हैं। इसी पुराण के अनुसार पृथ्वी पर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। किन्तु मुख्य तीर्थ (१) बदरीनारायण,

(२) द्वारका, (३) रामेश्वरम् तथा (४) जगन्नाथपुरी—ये चार धाम हैं। ये भारत की चारो दिशाओं की सीमाओं पर स्थित हैं ; अतः इनकी यात्रा करने से समस्त भारत की परिक्रमा हो जाती है।

(१) अयोध्या, (२) मथुरा, (३) माया (हरिद्वार), (४) काशी, (५) कांची, (६) अवंतिका (उज्जैन) तथा (७) द्वारका की गणना मोक्षदायिनी पुरियों में है। प्रयाग तीर्थों का राजा और पुष्कर तीर्थों का गुह माना जाता है।

शिव के स्थानों में (१) अमरनाथ (काश्मीर), (२) केदारनाथ, (३) पशुपतिनाथ (नेपाल), (४) विश्वनाथ (काशी), (५) वैद्यनाथ (देवघर, बिहार), अरुणाचल (मद्रास), (७) ओकारनाथ (मध्यभारत), (८) सोमनाथ (सौराष्ट्र, गुजरात) तथा (९) महाकाल (उज्जैन) सबसे प्रमुख हैं।

देवी के स्थानों में (१) कामाख्या (आसाम), (२) काली (कलकत्ता), (३) गुह्येश्वरी (नेपाल), (४) विष्वाचल (उत्तर प्रदेश), (५) मीनाक्षी (मदुरा), (६) कन्याकुमारी (केप कॉमोरिन) तथा (७) चामुण्डी (मंसूर) मुख्य तीर्थ हैं।

विष्णु-संबंधी तीर्थों में (१) बदरीनारायण, (२) अयोध्या, (३) मथुरा, (४) द्वारका, (५) जगन्नाथपुरी, (६) विष्णुमठ (गया) और (७) श्रीरंगम् (मद्रास) मुख्य हैं।

प्रत्येक तीन वर्ष पर मलमास (अभिमास) आता है। इस मास में राजगीर (बिहार) के कुंडों में स्नान का विशेष महत्त्व है। लाखों भावुक हिन्दू स्नानार्थ राजगीर जाते हैं।

नदियों में गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी परम, पवित्र तीर्थ मानी जाती हैं। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुक्षेत्र के बृहत् तालाब में स्नान का विशेष माहात्म्य है।

पुण्य-लाभ होने के अतिरिक्त तीर्थटन करने से आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है। बहुदर्शिता और उदारता की भावना उदित होती है, सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से बचने की प्रेरणा जगती है। इससे समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप के दर्शन का सुयोग मिलता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगों के परस्पर मिलने-जुलने से राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती है।^१

उत्सव और त्योहार

चैत्र-शुक्ल नवमी आठवें अवतार भगवान राम का जन्म-दिवस है। राम-भक्त इसे बड़े उत्साह में मनाते हैं, इस दिन व्रत रखते हैं और पूजा करते हैं। उत्तर-भारत का, और विशेषकर मिथिला तथा अयोध्या का, यह महत्त्वपूर्ण त्योहार है। इसी महीने में चैत्र-शुक्ल १५ से सवत्-वर्ष आरम्भ होता है।

श्रावणी पूर्णिमा विशेषकर ब्राह्मणों का पर्व है। इस दिन वे रक्षा-वधन द्वारा अन्य वर्णों के लोगों को आशीर्वाद देते हैं। ब्राह्मण-परिवार में इस दिन कलश-स्थापना होती है।

भाद्र-कृष्ण अष्टमी भगवान कृष्ण का जन्म-दिन है। अनेक हिन्दू इस दिन व्रत रखते हैं और कृष्ण जन्म का समय (आधी रात) व्यतीत होने पर भोजन करते हैं। बृन्दावन, राजस्थान और गुजरात में इसका अधिक महत्त्व है। आचण के शुक्ल पक्ष में तो वे कृष्ण की लाल मूर्ति को भूले पर झुलाते हैं, जिस उत्सव को 'भूलन' कहा जाता है।

आश्विन का कृष्ण पक्ष पितरो का पर्व है। इस पक्ष में भावुक हिन्दू अपने पितरो को पिण्डदान करते हैं। अन्तिम दिवस, जो 'महालया' के नाम से प्रसिद्ध है, सबसे महत्त्वपूर्ण दिवस है। गया में श्राद्ध करने का बृत्त महत्त्व है। लाखों हिन्दू पिण्डदान के लिए गया जाते हैं।

आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक नवरात्र माना जाता है। इसमें दुर्गा की मूर्ति की स्थापना और पूजा होती है और दशमी को नदी या पोखरे में उसका विसर्जन किया जाता है।

आश्विन-शुक्ल दशमी को, जो 'विजयादशमी' के नाम से विख्यात है, श्रीरामचन्द्र ने रावण से युद्ध के लिए प्रस्थान किया था। इस दिन अनेक क्षत्रिय क्षत्रियों की पूजा करते हैं। यह सर्वसाधारण के उत्साह और उत्सव का दिन है। जनता इस पर्व को मनाती है। इन दिनों जगह-जगह रामलीला समागोह के साथ की जाती है। विजयादशमी के दिन नीलकण्ठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है। कार्तिक-अमावास्या को दीपमालिका-उत्सव होता है। इस अवसर पर घर-घर की सफाई होती है और रंग विरग की सजावटों से उसका कलेवर बदल दिया जाता है। व्यापारी-वर्ग उस दिन महालक्ष्मी की पूजा करते हैं। रात में घर-घर में सैकड़ों दीप जल उठते हैं। बच्चे पटाखे छोड़ते हैं और

फुलझड़ियाँ लेकर नाचते हैं। ज़िबेर देखे उधर आनंद का ही नज़ारा मिलता है। वैश्य-समाज के लिए यह नए साल की शुरुआत है। अतः वे नए बही-खाते खोलते हैं और हानि-लाभ की आजमाइश जुआ खेलकर करते हैं। उस दिन जुआ खेलना कानूनन बर्जित नहीं है।

वसंत के आगमन के उपलक्ष्य में माघ-शुक्ल पंचमी को वसंतोत्सव मनाया जाता है। उस दिन गृह-लक्ष्मियाँ तरह-तरह के पकवान बनाती हैं। छात्रगण अपने-अपने विद्यालयों में सरस्वती-पूजा समारोह के साथ करते हैं और फल एवं मिष्ठान्न का प्रसाद-वितरण करते हैं। फाल्गुन-पूर्णिमा को होलिका-दहन होता है और दूसरे दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को रंग और गुलाल के साथ होलिकोत्सव मनाया जाता है। निम्नवर्ग के लोग डफ और भाल बजाकर गीत गा-गाकर मदमस्त हो भूम उठते हैं। शाम में गोधूलि की बेला में नगर और गाँव में धूम-धूमकर लोग नए वर्ष में प्रवेश करने के लिए भेद-भाव भूलकर सम्मिलित रूप से जीवन-यापन करने का आह्वान करते हैं। कुटुम्बजन एक-दूसरे के घर जाकर मिलते हैं और उनके यहाँ बने पकवान खाते हैं। हिन्दू समाज में यह एक ऐसा दिन है जब लोग ऊँच-नीच का भेद-भाव भूलकर एक-दूसरे से समान स्तर पर मिलते हैं और एक-दूसरे के चेहरों पर गुलाल मलते हैं। सामर्थ्य के अनुसार सभी नए उज्ज्वल वस्त्र पहनते हैं। फिर भी देखा जाता है कि हमारे देश में हतनी निर्धनता है कि अधिकतर निर्धन मजदूर-वर्ग के लोग गंदे तथा फटे-पुराने कपड़ों पर ही होली का आनंद लूटते हैं।

महाराष्ट्र का गणेशोत्सव, बंगाल की दुर्गा-पूजा, उड़ीसा की रथ-यात्रा, द्रविड-देश का पोंगलमास और मिथिला का शरत्पूर्णिमा कोजागरी-महोत्सव ऐसे त्योहार हैं, जहाँ क्षेत्रीय विशेषता रखते हैं।

विभिन्न देव-देवियों में समन्वय की भावना

विभिन्न संप्रदायों के आपसी भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न प्राचीन काल से होता आ रहा है। कबीर, सूर, तुलसी आदि दूरदर्शी सत्तों ने भी समन्वय का प्रबल आन्दोलन उठाया और अपनी आवाज़ें बुलंद कीं। सांप्रदायिक फूट और विरोध से होनेवाली हानियों को खूब समझकर ही शंकराचार्य ने अनेक संप्रदायों का खण्डन करके अपने स्मार्त्त-मत में सबका समन्वय किया। अतः आधुनिक काल में स्मार्त्त-मत समन्वयवादी है। भारत की ७५% जनता स्मार्त्त है और

विभिन्न देवी-देवताओं का समान रूप से आदर करती है और बिना भेद-भाव के पूजा करती है।

आधुनिक काल के देवता

शिव

विभिन्न देवताओं में शिव की पूजा आज भारत में सर्वव्यापक है। "उत्तर में कैलास-मानसरोवर में लेकर दक्षिण में श्री लंका तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में मणिपुर तक कितने स्थानों में और कितने रूपों में शिव-शिवा की आराधना होती है, यह कहना संभव नहीं है। यहाँ तक कि योगीजनों ने इन्हे हृदय में देखा और शिवोऽह् कहने में परमानंद प्राप्त किया, भोगियों ने इसमें भोग पाया और साधकों ने गुरु पाए। देव, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, पुरुष, स्त्री, महर्षि, शूद्र आदि सबने समान श्रद्धा से इनकी आराधना की। गाँव गाँव में लोगो ने इनकी स्तुति और प्रशंसा में गीत बनाए और सारा भारत शिवमय हो उठा।"

सुदूर बाली-द्वीप (इण्डोनेशिया) में सभी हिन्दू-धर्मावलम्बी, जो वहाँ ब्राह्मण-पंडित कहलाते हैं, शैव हैं। वे शिव-माहात्म्य प्रकाशक ब्रह्मपुराण को अत्यन्त गुह्य शास्त्र समझकर सुरक्षित रखते हैं और ब्राह्मणों को छोड़कर किसी अन्य जातिवालों को वह ग्रंथ नहीं दिखलाते। उनका विश्वास है कि ब्रह्माण्ड-पुराण ही पुराण है और किसी पुराण का संसार में अस्तित्व नहीं है।

ब्रह्म के दो रूपा हैं—निष्क्रिय और सक्रिय। अशेष कारण-रूप में यह निष्क्रिय है, कूटस्थ है। जब इसमें स्वभाव में सन्दन या क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है। यह मूल सन्दन या मूल क्षोभ ही शिव का नृत्य है।

निष्क्रिय ब्रह्म शिव है और सक्रिय ब्रह्म माया है, किन्तु प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति और ससार-रूपी नृत्य में निष्क्रिय और सक्रिय में कोई भेद नहीं रह जाता। निष्क्रिय सक्रिय और सक्रिय निष्क्रिय बन जाता है। कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती है और शिव नृत्य करते हैं तो कभी शिव द्रष्टा रहते हैं और पार्वती नृत्य करती है। कभी तो दोनों का सम्मिलित नृत्य होता है। सृष्टि का प्रवर्तन, शिवा का लास्यनृत्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्तन शिव का

ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है। किन्तु यह यथार्थ में ब्रह्म के स्वभाव, उसकी नित्य इच्छा, नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनन्द का कल्लोल है।

नटेश, नटेश्वर या नटराज की मूर्ति और चित्र की कल्पना नाना प्रकार से की जाती है और पुराण, स्तोत्र तथा काव्यों में इनके नाना प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं। मंदिरों और गुफाओं में इनके बहुत-से उत्कीर्ण और रंगे हुए चित्र तथा मूर्तियाँ मिलती हैं। असम-राज्य में कामाख्या के मंदिर में महाकाल की मूर्ति दीवार के साथ बनी हुई है। नालदा की खुदाई में भी ऐसी मूर्ति मिली है। किन्तु इन सबमें प्रसिद्ध दक्षिण-भारत के चिदम्बरम् की मूर्ति है।

मुसलमानों के आने के पूर्व भारत में शिव की उपासना लिंग और मूर्ति दोनों रूपों में होती थी। अनेक मंदिरों में शिव की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। ह्युएन-सांग ने अपने यात्रा-विवरण में वाराणसी में ताम्र की विशाल शिवमूर्ति का उल्लेख किया है। किन्तु आज शिव-पूजा सर्वत्र लिंग-रूप में है। चिदम्बरम्, दशपुर तथा कतिपय अन्य स्थानों में स्थापित मूर्तियाँ अपवाद-स्वरूप हैं। केदारनाथ की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की जाती है, किन्तु वास्तव में यह न मूर्ति का रूप है और न लिंग का। यह एक-डेढ़ हाथ चौड़े, चार हाथ लंबे और दो हाथ ऊँचे प्रस्तर के टीले के समान है।

चिदम्बरम् में नटराज के रूप में शिव की प्रतिमा है। इसका प्रतिरूप भारत के ढाक-विभाग के टिकट पर भी प्रसारित हो चुका है।

दशपुर (भदसौर) की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा, जिसकी तोल लगभग १२५ मन है और ऊँचाई ६ फुट तथा मोटाई ११ फुट है, एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास होता है कि कहीं शिला विविध रंगों से रजित तो न की गई है। संपूर्ण भारत तो क्या, विश्व में ऐसी भव्य और आश्चर्यजनक मूर्ति कहीं दृष्टिगोचर होना असंभव है। इस भव्य प्रतिमा को देखकर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यह त्रयोदश ज्योतिर्लिंग है।

राम

नर को नारायण-रूप में देखना और नारायण को नरत्त्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सम्प्रदाय की मनोहर, किन्तु अद्भुत विशेषता है। पूर्ण

ब्रह्म परमात्मा को राम या कृष्ण के रूप में और राजा राम अथवा ग्वाले कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म के रूप में देखकर प्रत्येक भारत-संतान का रोम रोम पुष्कित हो जाता है।

बाल्मीकि ने भगवान राम पर नरत्व का कुछ कठोर आवरण-सा डाल दिया है और सारी रामायण में उन्हें एक सर्वगुण-सपन्न महापुरुष के रूप में दिखलाया है। इनके नारायणत्व के विषय में केवल यत्र-तत्र संकेत मात्र है और विद्वानों का मत है कि अवतारवाद के सिद्धान्त के मान्य होने पर राम को अवतार-रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य में भक्तों ने जहाँ-तहाँ प्रसिप्त अश्रु मिला दिए तथा बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना कर डाली, यद्यपि आरंभ में बाल्मीकि कृत रामायण के केवल पाँच काण्ड थे।

राम आज अनेक हिन्दुओं के हृदय पर विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं, यद्यपि तुलसीदास के रामचरित-मानस के आधार पर कुछ भक्त राम को विष्णु का अवतार न मानकर ब्रह्मा विष्णु-शंकर के रचयिता के रूप में देखते हैं। जो भी हो, शिव के सदृश राम की पूजा सर्वदेशीय न होकर विशेषतया बिहार और पूर्वीय उत्तर-प्रदेश तक सीमित है, यद्यपि देश के अन्य अंचलों में भी यत्र-तत्र राम के उपासक तथा राम के मंदिर मिलेंगे। राम-भक्त रामानंद-संप्रदाय के अनुयायी होते हैं और अयोध्या, सीतामढी, चित्रकूट और जनक-उनके मान्य तीर्थस्थान हैं।

संस्कृत भाषा में बाल्मीकीय रामायण, लोमस-रामायण, मंजुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण महामाला, सौहार्द रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य रामायण, चान्द्र रामायण, मन्द रामायण, स्वायम्भू रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण-चम्पू, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण आदि की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त महाभारत में भी वनपर्व में रामायण की पुरानी कथा गाई गई है। पुराणों में भी रामायण की कथा आई है। ब्रह्माण्ड-पुराण में जो रामकथा वर्णित है, वही अलग करके अध्यात्म-रामायण के नाम से प्रकाशित हुई है। प्रायः समस्त क्षेत्रीय भाषाओं में भी छोटे या बड़े रूप में रामकथा आई है। इनमें बंगला भाषा की कृतिवास-रामायण, तेलुगु की रगनाथ रामायण और तमिल की कम्ब-रामायण का हिन्दी-अनुवाद भी आज प्राप्य है। इनमें कम्ब-रामायण की

भाषा अति प्रवाहपूर्ण, ओजस्विनी तथा आलंकारिक है। कवि ने अपनी रचना में संस्कृत तथा तमिल-अलंकारों और मुहावरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

जनकनंदिनी सीता की पूजा और उनके मंदिर प्रायः राम मंदिर के अंग हैं, किन्तु आमली (जयपुर) और सीतामाडी (कोटा) में सीता के स्वतंत्र मंदिर हैं। राम के उपासक अनिवार्य रूप से सीता के उपासक होते हैं। कहा गया है कि राजीवलोचन की प्राणवत्तभा के प्रसाद के बिना सासारिक वैभव, कैवल्य-मुक्ति एवं परमपद—इन तीनों वैभवों में से जीव-मात्र के लिए किसी भी प्रकार के कल्याण की प्राप्ति नितान्त असंभव है। अतः भक्त अनिवार्य रूप से युगल-जोड़ी की उपासना करते हैं। सीतोपनिषद् ही एकमात्र उपनिषद् है, जिसमें सीता को आदिशक्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से पूजित दिखाया गया है। श्रीरामचरित्र दास जी ने संस्कृत-भाषा में 'जानकी-चरितामृत' की रचना की है। संस्कृत में रामचरित-संबंधी आठ ग्रन्थ आज प्राप्य हैं। देश की विभिन्न भाषाओं में भी रामचरित की रचना हुई है। हिन्दी-भाषा तो रामचरित तथा सीताचरित से भरपूर है। इनमें तुलसीकृत रामचरितमानस अद्भुत ग्रंथ है। उत्तर-भारत की हिन्दी-भाषी जनता में जितना रामचरितमानस का प्रचार है, उतना किसी दूसरे ग्रंथ का नहीं। इसमें उपनिषदों और गीता के महावाक्य प्रसंगवश यत्र-तत्र मिलते हैं।

यद्यपि राम के भाइयों की उपासना प्रचलित नहीं है, तथापि जहाँ-तहाँ उनके मंदिर मिलते हैं। इनमें ऋषिकेश का भरत-मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ से लगभग तीन मील पर लक्ष्मण-भूला के पास का लक्ष्मण-मंदिर प्रसिद्ध है; किन्तु भरतपुर का विशाल लक्ष्मण-मंदिर एकमात्र मंदिर है, जहाँ लक्ष्मण के साथ उर्मिला की मूर्ति है। शत्रुघ्न का मंदिर मुझे त्रिवेन्द्रम् (केरल) को छाड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिला। इन मंदिरों में श्रद्धावान् भावुक हिन्दू दर्शनार्थ जाते हैं और विधिपूर्वक पूजा करते हैं।

कृष्ण

राम के सदृश कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। आरम्भ से अंत तक कृष्ण में नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत हैं कि इनमें विभेद करना कठिन है। कृष्ण-चरित्र में नरत्व और ब्रह्मत्व अलक्ष्य हो नहीं सकते।

जिन्होंने कृष्ण को ब्रह्म-रूप में देखा, उन्हें सिद्धि और मुक्ति मिली और जिन्होंने केवल मनुष्य-रूप में देखा, उन्होंने धोखा खाया। श्रीकृष्ण-चरित्र से महाभारत, और विशेषकर उसका परिशिष्ट-अंश, हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत-पुराण भरे-पड़े हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण का दसवाँ स्कन्ध तो एकमात्र श्रीकृष्ण-चरित्र ही है। घर-घर इस दसवें स्कन्ध का प्रचार है। श्रीगोपालोत्तर तापिष्ठ्युपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म एक है दो नहीं। माया में वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व है, उकारात्मक विश्व-तेज है, मकारात्मक अनिरुद्ध (कृष्ण के पुत्र) प्रज्ञा है और अर्धमात्रात्मक कृष्ण है, जिसमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत को बनानेवाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति है। बेद-रूप गोपियो से उत्पन्न ज्ञान-सगत कृष्ण है। प्रणव-रूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृति-रूप भी कहते हैं। इसलिए गोपाल विश्वव्यापी ऊँकार-रूप है। महाभारत में कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान्, सर्वप्रिय, सत्यवादी, अद्वितीय योद्धा तथा राजनीतिज्ञ के रूप में आया है। हरिवंश-पर्व में, जो बहुत बाद की रचना है और जो स्पष्टतः महाभारत का खिल-पर्व है, कृष्ण की बाल-लीला का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत-पुराणान्तर्गत दसवें स्कन्ध द्वारा की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बृन्दावन-लीला का प्रचार बहुत पीछे महाभारत के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर हुआ—

श्रीकृष्ण द्वारकावासिन् गोप-गोपी-जनप्रिय ।

कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ॥

चित्तामणि विनायक वैद्य सदृश विद्वानों की राय है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसवी सन् से लगभग २५० वर्ष पूर्व मिला। वैद्य महोदय का कथन है कि “वर्तमान महाभारत के समय तक यही धारणा थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से केवल निविषय प्रेम करनेवाली परम भक्ता थी; परन्तु धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग में जब भक्ति की भीमासा होती है तब संभव है कि भक्ति की उपमा उस प्रेम से दी गई हो, जो असती का जार से होता है।”

भारत के धार्मिक इतिहास में ‘राधा’ का प्रादुर्भाव एक अद्भुत घटना है। गोपाल-तापिष्ठ्युपनिषद् में कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी जगत को बनानेवाली

कृष्णात्मिका मूल-प्रकृति है। कालान्तर में रक्मिणी का स्थान स्पष्ट रूप से राधा ले लेती है और रक्मिणी पीछे पड़ जाती है और यह भावना कि श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं और उनकी शक्ति राधा माया है, जो उनकी चिरसगिनी है, पुष्ट हो जाती है। सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण सुन्दरता, त्रिगुण और महारस की चरमसीमा हैं। राधोपनिषद् में कहा है : “बुद्धिमानों को उचित है कि नित्य कृष्णचन्द्र का ध्यान करे, उनकी पहली प्रकृति राधिका नित्या, निगुण, सर्वालंकार-शोभित, प्रसन्न, सब प्रकार के लावण्य से सुन्दर है। हमलोगों का जन्म इनके अधीन है। इनके अंश से बहुत-से विष्णु, रुद्रादि उत्पन्न होते हैं। मानसिक पूजा, ध्यान, कीर्तन, स्तुति इत्यादि सब कुछ मानसिक अनुभूति द्वारा उनकी अगाध महिमा के सुख-सिन्धु में उत्पन्न नित्य (अविनाशी) पद प्राप्त होता है। और किसी से नहीं, और किसी में नहीं, और किसी से नहीं। यह वेद-वचन है, यह वेद-वचन है।”

श्रीकृष्ण या युगलमूर्ति राधा-कृष्ण की पूजा विशेष रूप से बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश और राजस्थान में प्रचलित है, यद्यपि कुण्डलपुर, अमलनेर-सदृश कुछ मदिरो में राधा के स्थान पर युगलमूर्ति कृष्ण-रक्मिणी की प्रतिमा पाई जाती है। निम्बार्क और वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी पश्चिम भारत में और चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी पूर्व भारत में विशेष रूप से राधा-कृष्ण के भक्त हैं। वल्लभ-संप्रदाय कृष्ण के बाल-रूप की आराधना करता है। इस संप्रदाय का गुजरात में विशेष प्रचार है। इसके अनुयायी गुरु को ईश्वर मानते हैं और ‘जय श्रीकृष्ण’ तथा ‘जय गोपाल’ से परस्पर अभिवादन करते हैं। वल्लभ-संप्रदायवाले मदिरो में विविध प्रकार के पक्वान्न और फल भगवान कृष्ण को भोग लगाए जाते हैं और पुजारियों तथा मंदिर के सेवकों द्वारा प्रसाद के रूप में भक्तों के बीच बँचे जाते हैं। उदयपुर (नाथद्वारा) का ‘राजभोग’ प्रसिद्ध है। वृन्दावन राधाकृष्ण-भक्तों का प्रमुख तीर्थ है।

राधा

राधावल्लभी संप्रदाय में राधा की प्रधानता है। राधारानी महाशक्ति और स्वामिनी हैं। भगवान कृष्ण उनके आज्ञानुवर्ती हैं। उनकी आज्ञा से ही

1. राधोपनिषद्, तृतीय परिपाठ।

विश्व की सृष्टि, भरण और हरण होता है। स्वामी हितहरिवंश जी ने संवत् १६४२ के लगभग वृन्दावन में इस संप्रदाय की स्थापना की। वृन्दावन में राधा-वल्लभ स्वामी का मंदिर मौजूद है, जो इस उप-संप्रदाय का मुख्य स्थान है। राधा-वल्लभ की उपासना इसकी विशेषता है।

स्वामी नारायणी संप्रदाय के अनुयायी भी राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति के उपासक हैं। इसका प्रवर्तक स्वामी नारायण ने ऊँच-नीच के भेद को त्यागकर सभी जातियों के लिए पथ का द्वार खोल दिया। इस्लाम-मतावलंबी खोजा लोगों को भी इस पंथ में स्वीकार किया। इसके अनुयायी अधिकांशतः मूर्ति के स्थान पर चित्रपट की पूजा करते हैं और गृहस्थ-जीवन-यापन करते हैं। इनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है, परन्तु उपासना-विधि बल्लभ-संप्रदाय की है।

राधाकृष्ण के उपासक परिणामी संप्रदाय के भी हैं। सर्वधर्म-समन्वय इनका लक्ष्य है। इनका मत राधावल्लभी-जैसा है। यह संप्रदाय भगवान् कृष्ण की साक्ष्य-भाव की उपासना की शिक्षा देता है।

विष्णु

ऋग्वेद के मंत्रों में विष्णु का नाम अपेक्षाकृत कम स्थानों में पाया जाता है। वेद में 'विष्णु' मूल का पर्यायवाची है। उत्तर-वैदिक काल में विष्णु त्रिदेवों के साथ—ससार के पालनकर्त्ता देवों में—देव के रूप में आदृत हुए और उनकी मर्यादा अद्यावधि अक्षुण्ण बना रही। विष्णु के उपासकों में विष्णुस्वामी का संप्रदाय सबसे प्राचीन है। विष्णुस्वामी ने लोक-रुचि के अनुकूल वष्णव-संप्रदाय की नींव डाली। मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी। अतः उन्होंने विष्णु के प्रतिमा-पूजन को ही शास्त्र-सम्मत बतलाया। उन्होंने काया-कण्ठ को निरर्थक और विष्णु के नाम-स्मरण को मोक्ष का साधन बतलाया। उनका उपदेश ब्राह्मणों तक ही सीमित था। अतः यह मत सर्वव्यापी नहीं हो सका। विष्णु की भक्ति के सबसे महान् प्रवर्तक रामानुजाचार्य हुए। आपने शंकर के अद्वैत मत के विरोध में विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। इस संप्रदाय-वाले लक्ष्मी तथा विष्णु और उनके अवतारों की पृथक् पृथक्, किंवा युगल-रूप में उपासना करते हैं। यद्यपि श्रीराम पर विशिष्ट भाव रखते हैं तथापि विशेष रूप से विष्णु और उनकी पराशक्ति लक्ष्मी की ही उपासना करते हैं।

रामानुज के मतानुसार ध्यान और उपासना मुक्ति के साधन हैं; ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है। मुक्ति-प्राप्ति का उपाय भक्ति है और भवगान के चरणों में आत्म समर्पण करने से जीव को शान्ति एवं मुक्ति मिलती है। भगवान की प्रसन्नता से ही मोक्ष मिलता है। इस संप्रदाय का ज्वादा प्रचार दक्षिण में है, जहाँ अनेक भव्य मूर्तियाँ विशाल मंदिरों में स्थापित हैं। इन मंदिरों में प्रमुख श्रीरङ्गम्, त्रिवेन्द्रम्, चिदम्बरम्, विष्णु-काची, बदरीनारायण और त्रिपुरी के बालाजी के मंदिर हैं। रामानुज-संप्रदाय के वैष्णवों के ये मान्य तीर्थस्थल हैं।

लक्ष्मी के मंदिर यत्र-तत्र विष्णु मंदिर के सान्निध्य में पाए जाते हैं। किन्तु स्वतंत्र रूप से महालक्ष्मी के मंदिर कोल्हापुर, बंबई, वाटर, तिरुवागेश्वर तथा मन्नागुडी में हैं। बंगाल को छोड़ स्वतंत्र रूप से लक्ष्मी-पूजा का प्रचलन अन्यत्र नहीं है। यह कौतूहल की बात है कि बंगाल में विष्णु-पूजा की प्रधानता न होने पर भी लक्ष्मी पूजन प्रचलित है।

गणेश

गणेश की मूर्ति साक्षात् ओंकार-सी प्रतीत होती है। शास्त्रों में गणेशजी ओंकारात्मक माने गए हैं। अतः ओंकारात्मक होने के कारण गणेश की सब देवताओं में अग्रिम पूजा की जाती है। कोई शुभ कार्य आरम्भ करने पर पहले गणेश को नमस्कार किया जाता है।

गणपति के उपासकों का भाव है कि महागणपति (परमात्मा) ने अपनी इच्छा से अनन्त विश्व में अनन्त ब्रह्माण्ड रचे और हर ब्रह्माण्ड में अपने अंश से त्रिमूर्ति प्रकट की। उसी दृष्टि से सभी संप्रदायों के हिन्दुओं में सभी मंगल-कार्य के आदि में गौरी गणेश की पूजा होती है। यात्रा के आरम्भ में गणेश का स्मरण किया जाता है। पुस्तक, पत्र, बही-खाता आदि प्रारम्भ करने के पहले श्रीगणेश का स्तवन या श्री गणेशायनम लिखने की पुरानी प्रथा चली आती है। विश्वास है कि समस्त विघ्नों का नाश करने की शक्ति गणेश में विद्यमान है। इसलिए गृह-प्रवेशद्वार पर गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती है।

प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट संप्रदाय था, जो गणपति के नाम से पुकारा जाता था। महाराष्ट्र के पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। अतएव आज भी बंगाल की दुर्गा पूजा और संरस्वती-पूजा की भाँति, महाराष्ट्र में

भाद्र-शुक्ल चतुर्थी को गणपति-पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती है। गणेश-चौथ व्रत तो सारे भारत में मान्य है। मोरेश्वर क्षेत्र (मोरेगाँव) गाणपत्य संप्रदाय का प्रधान पीठ है। गणपति के मंदिर सारे भारत देश में मिलते हैं। तिरुचिरापल्ली में पहाड़ के ऊपर (जिसको 'गोल्डेन रॉक' कहते हैं) सबसे प्रसिद्ध गणेश-मंदिर है। गणेश का सबसे बड़ा मंदिर हम्पी में है, जिसकी मूर्ति बारह हाथ ऊँची है।

सुब्रह्मण्यम् (स्वामी कार्तिकेय)

स्वामी कार्तिकेय पुराणों में शिव के ज्येष्ठ पुत्र दर्शाए गए हैं। ये देवताओं के सेनापति माने जाते हैं। दक्षिण-भारत में इनका नाम सुब्रह्मण्यम् है। दक्षिण के मंदिरों में सुब्रह्मण्यम् को प्रमुख स्थान प्राप्त है। शिव और विष्णु के मंदिरों की प्रभुति सुब्रह्मण्यम् के अनेक विशाल मंदिर बने हुए हैं। उत्तर-भारत में इनका एकमात्र मंदिर अमृतसर-पठानकोट रेलवे-मार्ग के बटाला स्टेशन से चार मील दूर अबलेष्वर में है। यहाँ स्वामी कार्तिकेय के नाम से इनकी मूर्ति स्थापित है। जो स्थान दक्षिण में सुब्रह्मण्यम् को प्राप्त है, वह उत्तर-भारत में गणेश को है।

ब्रह्मा

ब्रह्मा संसार के रचयिता माने जाते हैं, किन्तु पुष्कर (अजमेर) के सिवा इनका अन्य कोई प्रसिद्ध मंदिर नहीं है; यद्यपि त्रिवेन्द्रम में एक मंदिर का निर्माण केवल ब्रह्मा की मूर्ति के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त जोधपुर जिले के ओसिया में अनेक देवताओं के साथ ब्रह्मा की मूर्ति है और उसी जिले के खेर में ब्रह्मा का मंदिर है। गुजरात के खेर-ब्रह्मा स्टेशन के पास एक विशाल मंदिर में ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति है। ब्रह्मा-संबंधी प्रसिद्ध पुष्कर-तीर्थ राज-स्थान के अजमेर नगर से लगभग ७ मील दूर है। अनेक हिन्दू ब्रह्मा के दर्शन एवं पूजन के लिए पुष्कर जाते हैं। [अजमेर नगर में भारत के मुसलमानों का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ एक पहुँचे हुए फकीर ख्वाजा हसन चिश्ती की कब्र है।]

सरस्वती

सरस्वती स्पष्टतया वैदिक देवता है।

उत्तस्थानः सरस्वती ओरा हिरण्यवर्त्ति । बृत्रज्जो वष्टि सुष्टुतिम्

—ऋग्वेद, मण्डल ६, सूक्त ५, मंत्र ६१।७

अर्थात् किरणों (हिरण्य) का रथवाली, वृक्ष का नाश करनेवाली, घोर-रूपिणी सरस्वती हमारी सुन्दर स्तुति को स्वीकार करे ।

सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं । इसी कारण माघ-शुक्ल पंचमी (वसन्त-पंचमी) को सरस्वती की पूजा विशेष रूप से विद्यार्थी-समाज में प्रचलित है । सरस्वती की सुन्दर भव्य मूर्ति, जो हाथ में वीणा लिए हुए पर विराजमान रहती है और जिसके सामने सफेद कमल-दल खिले रहते हैं, बनाकर सभी छात्रगण एक शिक्षक-समुदाय उनकी पूजा विधिपूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ करते हैं और दूसरे दिन गाजे-बाजे एवं उनकी जय-ध्वनि के साथ उन्हें पवित्र जल में प्रवाहित कर देते हैं । सरस्वती देवी संगीत-विद्या की भी अधिष्ठात्री हैं, इसलिए इनके कर-कमलों में एक वीणा सदा विराजमान रहती है । यह देवी वास्तव में सारी जिन्दगी और ऊँचे विचार की प्रतीक हैं ।

संपूर्ण भारत में सरस्वती का स्वतंत्र मंदिर कहीं देखने को नहीं मिलता ।

दुर्गा

मारी-देवताओं में दुर्गा का स्थान सर्वोपरि है । शाक्तमत की तो यह आधार-शिला है । भारत के विभिन्न अंचलों में दुर्गा के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ मिलती हैं । दुर्गापूजा का सर्वप्रधान ग्रंथ दुर्गा-सप्तशती है । यह मार्कण्डेय-पुराण के ८१ से ८३ अध्याय तक है । इसमें ५६७ श्लोकों को ७०० मंत्रों में विभक्त किया गया है, इसलिए इसे दुर्गा सप्तशती कहते हैं । दुर्गा-सप्तशती में दुर्गापूजा का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमें मानव-बुद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धान्त सम्निहित हैं । आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकास के—स्थूल, सूक्ष्म और परे—जितने रूप हो सकते हैं, उनके प्रपंचात्मक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षों पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है ।

“दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्र-शक्ति का प्रतिरूप है । जो व्यक्ति और व्यक्तियों का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक रूप—बल, संपत्ति-बल और ज्ञान-बल—से सिंह-सदृश है, उस व्यक्ति में, उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है । राष्ट्र को पशुबल (कार्तिकेय), संपत्ति-बल (लक्ष्मी) और ज्ञान-बल (सरस्वती) अवश्य चाहिए, किन्तु बुद्धिहीन के लिए बल, संपत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नहीं, बरन् आत्म-सहारा के लिए प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं । इसलिए मनुष्यता के आदिदेव, बुद्धि के महाकाय (गणपति) वर्तमान है, जिनकी

विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवर्ण रहते हैं। सभी दिशाओं में पैली हुई राष्ट्रशक्ति ही राष्ट्र की दो, चार, आठ, दस सहस्र और अनन्त तथा असंख्य मुजाएँ हैं और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र ही, दिक्पालों के अस्त्र-शस्त्रादि, इनके आयुध हैं। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसका विरोध न हो। यही महिष है, जिसकी शक्ति सर्वदा संहार करती रहती है। दुर्गा के रूप में यह भारत शक्ति की उपासना है।" मधु-कैटभ की कथा में समाज की आदिम अविकसित अवस्था का चित्र है। इस अवस्था में व्यक्तिगत पशुबल अर्थात् शारीरिक बल काम करता है, बुद्धि काम नहीं करती।

दुर्गा-सप्तशती में बारबार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्व-व्यापिनी और एक है और उनकी इच्छा से उनके असंख्य रूप हो जाते हैं।

यन्त्र-प्रतीक पर भी सभी देवताओं की तरह देवी की पूजा होती है। यन्त्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं।

महादुर्गा के विभिन्न रूपों में काली की पूजा विशेष रूप से बंगाल में प्रचलित है। काली-तत्त्व का विवरण अप्रकाशित उपनिषद् के गुह्यषोढान्यसोप-निषद् में आया है। कहा गया है कि जिसे महालक्ष्मी के नाम से संबोधित करते हैं, वह सर्वाङ्गसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, 'षोडशी' हैं। इनके और भी अगणित नाम हैं, जैसे—महाश्री, चड, चडी, चडिका, चामुण्डी, भद्रकाली, नाना प्रकार की काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवान की पत्नी, भगवती, परा आदि।

"काली के एक हाथ में सद्यश्छिन्न मुण्ड है, जिससे रक्त बिन्दु टपकता रहता है। यह महापुरुष का मुण्ड है। यह अज्ञान अथवा मोह, विष्णु के हिरण्यक्षादि, शिव के त्रिगुरारि, दुर्गा के महिषादि और बुद्ध के मार है। विद्या और अविद्या की क्रियाओं के कारण सृष्टि का सकोच और विकास होता रहता है। अविद्या जीवन के प्रधान उद्देश्य महानन्द अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति का बाधक है। इसलिए साधकों से आत्म-दशन के लिए इसका सर्वदा शिरश्छेद होता रहता है। इससे सर्वदा रक्त-विन्दुओं का टपकना, इसकी निरन्तर क्रियाशीलता का परिचायक है।

“देवी के कटिभाग में शवों के हाथों की माला लटकती हुई है। अधुनिक युग के राम, कृष्णादि की तरह महाज्ञानों जीवन-मुक्त साधक ही शव हैं, जिनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण वे निश्चल वृत्तिवाले रूप को ग्रहण कर चुके हैं। वासना-शून्य उनका हृदय ही काली का श्मशान है, जिसमें वह नृत्य करती है। इन्हीं शवों के कर्म-बधन के प्रतीक उनके हाथ हैं, जिन्हें छिन्न कर कर्षणायी माँ आत्मसात् कर लेती है, जिससे उनके भक्तों को तत्त्व-प्राप्ति हो।”

दुर्गा के समान विभिन्न रूप किसी देवता के नहीं हैं। एक ओर वह अन्न-पूर्णा के रूप में भक्तों की कामना पूर्ण करती है, ता दूसरी ओर दुर्गा के रूप में शत्रुओं का वध करती हैं।

दुर्गा के विभिन्न रूपों के भारत में अनेक मंदिर हैं, जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी पूजा और उपासना की जाती है। देवी के विख्यात मंदिर हैं—(१) वैष्णवी देवी, जम्मू-कश्मीर, (२) विन्ध्यवासिनी देवी, विन्ध्याचल, उत्तर-प्रदेश, (३) गुह्येश्वरी देवी, नेपाल, (४) काली, कलकत्ता; (५) कामाख्या, असम, (६) चामुण्डी, मैसूर, तथा (७) कुमारी, कन्या कुमारी।

सूर्य

ऋग्वेद में सूर्य का देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिककाल में सूर्य की उपासना विशेष रूप में प्रचलित थी। प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र सूर्य-परक है। ऋग्वेद में (७।६२।२), कौषीतकी ब्राह्मण-उपनिषद् में (२।७), आश्वलायन गृह्यसूत्र में और तैत्तिरीय आरण्यक में सूर्योपासना के स्तोत्र, विधियाँ आदि दी हुई हैं। वेद में विष्णु सूर्य का पर्यायवाची शब्द है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण सूर्य को परमात्मा का प्रतिरूप मानते हुए अन्य देवों को सूर्य के अधीन मानता है। सूर्य को अपना इष्टदेव और सर्वोपरि देवता मानने-वाले व्यक्ति ‘सौर’ कहलाते हैं। विष्णु सौर की सख्या आज भारत में नगण्य है। ये लोग गले में स्फटिक-माला और ललाट पर रत्नचन्दन का तिलक तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं। ये अष्टाक्षर मन्त्र जपते हैं और रविवार को तथा सक्रांति को नमस्कार नहीं खाते। सूर्य के दर्शन कि बिना वे जल

ग्रहण करना भी पाप समझते हैं। अतएव वर्षा-काल में उन्हें बहुत कष्ट होता है। संभवतः इसी कारण उनकी सख्या नगण्य हो गई है। सौर-मत्तावलंबी सूर्य-मन्त्रादि के जप को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

आज अनेक स्त्री-पुरुष शारीरिक व्याधियों और चर्म-रोगों से त्राण पाने के लिए सूर्य-व्रत तथा सूर्योपासना करते हैं।

भारत में पहले सूर्य की उपासना मन्त्रों द्वारा होती थी। किन्तु, जब मूर्ति-पूजा का चलन आरम्भ हुआ, तब सूर्य की प्रतिमा भी यत्र-तत्र स्थापित हुई। उत्कल-प्रदेश (उड़ीसा) में सूर्योपासना का विशेष रूप से प्रचार था। कोणार्क में एक विश्वविख्यात सूर्य-मंदिर है, जिसका 'कोणादित्य' कहते हैं। ब्रह्मपुराण के अट्ठाईसवें अध्याय में इसी तीर्थ तथा एतत्संबंधी सूर्य-पूजा का वर्णन है। काश्मीर में मार्तण्ड (सूर्य) की मूर्ति का भग्नावशेष मिला है। सुदूर जावा द्वीप (इण्डोनेशिया) में भी सूर्य की रथारूढ़ मूर्ति मिली है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि सौरमत का प्रचार कभी भारत में खूब था, किन्तु इस समय स्वतंत्र सूर्योपासकों का प्रायः अभाव-मा है। फिर भी भारत में सूर्य-पूजा की आज भी काफी प्रतिष्ठा है। पंचदेवों और नवग्रहों में उनका प्रमुख स्थान है। सभी स्मान उनकी पूजा करते हैं। कार्तिक-शुक्ल षष्ठी और सप्तमी को तो अनेक हिन्दू विशेष रूप से सूर्य की पूजा करते हैं। प्रतीत होता है कि विष्णु की पूजा परमात्मा के रूप में प्रचलित हो जाने पर स्वतंत्र रूप से सूर्य की उपासना मद पड़ गई।

सूर्य के मंदिर आज देव (गया), सहनिया (छत्रपुर), गलताजी (जयपुर), शसोद्वार-तीर्थ (भालावार), आसिया (जोधपुर), आरसविल्ली तथा सूर्यनार कोइल में हैं।

हनूमान (महावीर)

यह भारतीय परंपरा की विशिष्टता है कि जिस बिग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्मा का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवतागण उस रूप के उपासक बन जाते हैं। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की पूजा करते हैं। किन्तु हनूमान इसके महत्त्वपूर्ण अपवाद हैं। कहीं भी हनूमान को ब्रह्मा का प्रतीक नहीं माना गया है। किन्तु भगवान राम के परमप्रिय भक्त के

रूप में हनुमान की उपासना होती है। कहीं भी परब्रह्म से उनका तादात्म्य संकेत-रूप से भी नहीं किया गया है। भारत की धार्मिक परंपरा में यह अद्भुत बात है। इसी कारण हनुमान-संबंधी न कोई उपनिषद् है और न किसी ग्रंथ की ही रचना की गई है।

हनुमान की उपासना विशेष रूप से उत्तर-भारत में है और राम-उपासक विशेष रूप से हनुमान-उपासक पाए जाते हैं, यद्यपि अनेक स्मार्त भी हनुमान की आराधना करते हैं।

हनुमान के मुख्य मंदिर वाराणसी में सकटमोचन, अष्टोध्या में हनुमानगढ़ी; रैनवाल (जयपुर) और पुनरासर (बीकानेर) बहुत प्रसिद्ध हैं। सूचीन्द्रम (केरल) में हनुमान की एक विशाल मूर्ति है, जिसपर गुलाब-जल चढ़ाया जाता है। कहा जाता है कि यह गुलाब-जल विक्षिप्त, पागल और अपस्मार (मृगो) के रोगियों का उपचार है। हाल ही में रामवन-सतना में हनुमान जी की विशाल मूर्ति की स्थापना हुई है।

शाक्तमत

शाक्तमत की व्यापकता भारत में विशेष रूप से थी, किन्तु अब शुद्ध शाक्तों की संख्या काफी घट गई है। शाक्तमत के प्रधान पाठ उड्डीयान (उत्कल), जालंधर (पंजाब), श्रीशैल (आंध्र), काठमाण्डू (नेपाल) और असम रहे हैं। इनमें सबसे प्रबल केन्द्र कामरूप (कामाख्या, असम) और उसके निकटवर्ती स्थान रहे हैं। यहाँ शाक्तमत विशेष रूप से प्रचलित रहा है। कामरूप में देवी त्रिपुरा-सुन्दरी की पूजा होती है। पूजा वस्तुतः नारी-योनि की होती है। इस योनि के प्रतीक के चारों ओर नव-योनियों का चित्र रहता है। संपूर्ण प्रतीक को श्री-काकरा कहा जाता है। इन शाक्तों की दो श्रेणियाँ हैं—(१) कौलिक और (२) समयायित। कौलिक मूर्ति अथवा चित्र की पूजा करते हैं और समयायित निराकार को। कौलों में दो वर्ग हैं—पूर्व-कौल और उत्तर-कौल। पूर्व-कौल योनि के चित्र की पूजा करते हैं और उत्तर-कौल जीवत सुन्दरी युवती की योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय मांस, मत्स्य, मदिरा आदि का सेवन करते हैं और इनका व्यवहार पूजा की प्रमुख सामग्री के रूप में करते हैं। वे योनि को 'भैरवी-चक्र' की सज्ञा देते हैं। पूजा के समय जात-पात का विचार नहीं

किया जाता। सभी जाति के पूजक उस समय ब्राह्मण समझे जाते हैं, पर पूजा के पश्चात् सभी अपनी-अपनी जाति में गिने जाने लगते हैं।

असम-प्रदेश में ही नहीं, बल्कि मारे भारत में कामाख्या के मंदिर की विशेष मान्यता है। यह गोहाटी से दस मील दूर पहाड़ पर अवस्थित है। पुराणों की कथा के अनुसार सती की योनि यहाँ गिरी थी। अतः कामरूप-पीठ (कामाख्या) 'योनि-पीठ' के नाम से प्रसिद्ध है और मंदिर में कोई मूर्ति नहीं है। मंदिर के भीतर गुफा है। गुफा के एक कोने में पत्थर है, जिसपर योनि का चित्र अंकित है। उसी स्थान से निकला हुआ झरना निरंतर उस योनि प्रतीक को सिंचित करता रहता है।

कामाख्या के मंदिर के अतिरिक्त इस क्षेत्र में घटाकरण, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी आदि के मंदिर प्रसिद्ध हैं। असम में अम्बुवती (अमैती)-पर्व प्रतिवर्ष आषाढ़ के आरंभ में मनाया जाता है। यह देवी के रजोदर्शन का पर्व है। यह तीन दिनों तक रहता है। ऐसा समझा जाता है कि इन दिनों तक देवी का रजोदर्शन होता है। अतः इस अवधि में मंदिर का दरवाजा बंद रहता है और किसी को भी मंदिर में जाने की अनुमति नहीं रहती।

शाक्तमत में तांत्रिक क्रियाओं की प्रधानता है। आज से कुछ काल पूर्व तक तंत्रों को बुरा-भला कहने की प्रणाली चल पड़ी थी। यह मान लिया गया था कि तंत्रों में पूजा पाठ की आड़ में व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया गया है और तांत्रिक क्रियाएँ उपासना के नाम पर गन्धर्व की विषय-वासनाओं की तृप्ति के साधन हैं। रति-वासना की उच्छृंखल तुष्टि का बहाना तांत्रिक चक्रोपासना में मिलता है। अब धीरे-धीरे यह धारणा कम हो रही है। साधक के लिए तन्त्राचार्यों ने जिन बातों की विशेष परिस्थितियों में अनुमति दे रखी है, उनका निःसंदेह दुर्हययोग किया गया है। परन्तु इसमें तन्त्र विद्या (तन्त्रण) दूषित नहीं हो सकती। तन्त्र-ग्रंथों के अनुशीलन से कई आध्यात्मिक प्रश्नों के समझने में सहायता मिलती है। कठिनाई यह है कि तन्त्र-ग्रंथ जिस दुर्बोध भाषा में लिखे गए हैं, उसकी समझना करना सुगम नहीं है। सच्चा साधक ही इसका अर्थ ठीक-ठीक लगा सकता है। किन्तु साधक प्रायः चुप रहना पसंद करते हैं। "इसके साथ यह भी पूणतया सत्य है कि तांत्रिक उपासना की आड़ में मद्य-मैथुन के सेवन का अवसर मिलता है और अनेक साधक इसी प्रलोभन में पड़कर न केवल

भोग-विलास में लिप्त होकर रह जाते हैं, बल्कि शाक्तमत, जैसे सरल और सुगम साधन-मार्ग को भी हास्यास्पद बना देते हैं ।”

कतिपय वर्ष हुए, कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर जॉन ऊडरफ ने आर्थर एवेनन के उपनाम से अंग्रेजी में अनेक उपयोगी ग्रंथों का प्रणयन किया । सब से अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दुओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और उनकी भावनाओं में परिवर्तन होने लगा । अगमानुसंधान-समिति (कलकत्ता) का बृहत्कार्य इस दिशा में विशेष इलाचनीय है । भूमिका और कामाख्या इसके प्रधान पीठ हैं । बहुचराजी के विशाल मंदिर में केवल बाला-यन्त्र स्थापित है । केरल में प्रतिमाओं के अतिरिक्त यन्त्र की भी पूजा होती है ।

भारत के अन्य देवी-देवता

ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति का सम्मिलित रूप दत्तात्रेय हैं । विसर और गिरनार पर्वत पर बने इनके विख्यात मंदिर हैं । गिरनार पर्वत पर बने मंदिर में मूर्ति के बदले दत्तात्रेय की चरण-पादुका है ।

विष्णु और शिव परब्रह्म के दो प्रमुख रूप माने गए हैं । अतः इन दोनों की सम्मिलित कल्पना हरिहर में की गई है । इस तरह की मूर्ति भारत में यत्र तत्र पाई जाती है । इनमें बदराना (भालावाड, राजस्थान) और हरिहर (मैसूर) के मंदिर प्रसिद्ध हैं । मूर्ति का दाहिना भाग शिव-रूप है । इस ओर के मस्तक के भाग में रुद्राक्ष की माला और ऊपर के हाथ में त्रिशूल है । बायाँ-भाग विष्णु का है और ऊपर के हाथ में चक्रसुदर्शन है तथा नीचे का हाथ अभय-दान मुद्रा प्रदर्शित करते दीखता है ।

भगवान के अवतार नृसिंह की मूर्तियाँ जगह-जगह स्थापित पाई जाती हैं, जिनमें मुख्य वागेश्वर (नारनौल स्टेशन के समीप), षोडश-भुजी कोल-नृसिंह (बगलोर-पूना मार्ग), अहोविल (मद्रास-रायचूर रेल-पथ), सिंहाचलम् (हावडा-मद्रास मार्ग) और पन्ना नृसिंह (विजयवाडा से ७ मील) के मंदिर हैं । कहा जाता है कि अहोविल में ही हिरण्यकशिपु की राजधानी थी, जहाँ खम्भे में नृसिंह भगवान प्रकट हुए । सिंहाचलम् के नृसिंह की मूर्ति बारहों महीने चंदन-चर्चित रहती है । वंशाख अक्षय तृतीया को चंदन हटाया जाता है और केवल उस दिन ही

भगवान का पूर्ण दर्शन होता है। अक्षय तृतीया के अतिरिक्त भगवान की मूर्ति, चंदन के लेप से ढके रहने के कारण, बहुत बड़े कुम्भ या गोल चंदन-स्तूप के सदृश दीख पड़ती है। पन्ना-नृसिंह में भगवान पर शर्वत चढ़ाया जाता है। पूरे मंदिर में चारों ओर भूमि पर शर्वत फैला रहता है, किन्तु यह बड़े ही अचभे की बात है कि मक्खी या चींटी वहाँ दीख नहीं पड़ती। क्या यह चमत्कार नहीं? पुजारी शर्वत का आधा भगवान को पिलाकर शेष आधा प्रसाद के रूप में दशनार्थी को लौटा देने है। नृसिंह का एक अति प्रतिष्ठित मंदिर उत्तराखंड के जाली-मठ में है।

भगवान के मत्स्य, वराह और कूर्म-अवतार के मंदिर छिट-फुट पाए जाते हैं। वराह-रूप में विष्णु तथा वराही-रूप में लक्ष्मी के बहुत कम मंदिर हैं। त्रिवेन्द्रम् के एक विशाल मंदिर में वराह और लक्ष्मी-रूप में वराही की मूर्तियाँ साथ-साथ स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त विदिशा में उदयगिरि-गुफा में और महाबलिपुरम् में एक विशाल 'फ्रैस्को' में वराह के दर्शन होते हैं। सिंहाचलम् तथा धरणीधर (पालनपुर-कडला रेल-पथ) में भी वराह की मूर्ति स्थापित है।

श्रीकाकुलम् रोड स्टेशन के निकट श्रीकूर्मम् में भगवान कूर्म की मूर्ति उल्लेखनीय है।

परशुराम

भगवान के सातवें अवतार परशुराम की भी यत्र-तत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें त्रिवेन्द्रम्, परशुराम-क्षेत्र और धावडसी के मंदिर उल्लेखनीय हैं। धावडसी बगलोर-पूना रेल-पथ के सतारा रोड स्टेशन के पास है। यहाँ बजेन्द्र स्वामी नामक एक विख्यात सत निवास करते थे। वे परशुराम के भक्त थे। उनकी समाधि के पास परशुराम की मूर्ति स्थापित है। परशुराम-क्षेत्र रत्नागिरि जिले के चिपलून तालुके में है। गाँव के मध्य में परशुराम जी का भव्य मंदिर है। बैसाख की अक्षय-तृतीया को यहाँ परशुराम-जयंती समारोह के साथ मनाई जाती है।

नर-नारायण

बडोदा के प्रतापनगर स्टेशन से रेलगाड़ी डमोई जाती है। वहाँ नर-नारायण की मूर्ति है। बडताल (काठियावाड) में भी नर-नारायण की मूर्ति है। नर-नारायण ने बदरिकाश्रम में कठोर तपस्या की थी, परन्तु आश्चर्य है कि

वहाँ पर उनके नाम का न कोई मंदिर है और न कोई मूर्ति ही । किन्तु बदरीनाथ-धाम के मार्ग पर जोशी-मठ में नर-नारायण की मूर्ति है ।

पक्षी-तीर्थ

मद्रास-रामेश्वरम् रेल-मार्ग पर चेगलपेट स्टेशन के निकट प्रसिद्ध पक्षी-तीर्थ है । यहाँ का वेदगिरि नामक पर्वत तीर्थ-स्वरूप माना जाता है । पर्वत की समतल भूमि के पास एक लंबी ऊँची शिला है । उसके एक किनारे पर यह कुंड है, जिसे गिद्ध-तीर्थ कहते हैं । एक पुजारी वहाँ दस बजे सुबह आता है और कटोरी एवं तश्तरी पटक-पटक कर बार-बार संकेत करता है । थोड़ी ही देर में दो पक्षी, कभी साथ-साथ और कभी एक के पीछे दूसरे आते हैं । वे एक बार पुजारी के हाथ से और दूसरी बार कटोरी में मुँह डालकर प्रसाद ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् पानी पीकर उड़ जाते हैं । आकार में वे चील से कुछ बड़े होते हैं । लोगो का विश्वास है कि वे मुनियों के अवतार हैं । अतः भावुक दर्शनार्थी उनका जूठा शेष प्रसाद ग्रहण करते हैं । कुछ लोग शका करते हैं कि वे पालतू पक्षी हैं और ये सब क्रियाएँ पुजारी का पाखंड हैं ।

कालभैरव

कालभैरव की मूर्तियाँ भी जगह-जगह मिलती हैं । इनमें सौदे (बबई-रायपुर रेल-पथ के जेऊर स्टेशन के समीप), जोधपुर के कापरडा, बाँदीकुई स्टेशन के निकट मेहदीपुरघाटा, बीकानेर जिले के कोडमदेइवर और बुंदी के पास लोयबा में कालभैरव के मंदिर हैं । इनमें कापरडा का मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है । भैरव की इधर बहुत मान्यता है ।

विश्वकर्मा

रतलाम से १९ मील दूर दक्षिण में रूनीजा ग्राम में विश्वकर्मा का मंदिर है । लोहार और बढ़ई इसे पवित्र क्षेत्र मानते हैं । यहाँ पर क्षेत्र-शुक्ल तृतीया को मेला लगता है ।

देवताओं के अतिरिक्त अनेक संतों के भी स्वतंत्र मंदिर हैं और कहीं-कहीं किसी देवता के मंदिर में प्रतिष्ठित उनकी मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—(१) शंकराचार्य : (क) बगलोर में शृंगेरी, (ख) केदारनाथ, जहाँ उन्होंने ने कंबल्य प्राप्त किया था और (ग) हरिद्वार से लगभग १७ मील दूर लक्ष्मण-भूला के पास गंगा के किनारे एक मंदिर में शंकराचार्य के साथ चारों मठों के

आदि अविष्ठाताओं की मूर्तियाँ हैं। (२) रामानुजाचार्य : त्रिवेल्लोर स्टेशन से ११ मील दक्षिण भूतपुरी नामक बस्ती है, जिसका स्थानीय नाम पेदम्बुदूर है। वही श्री रामानुजाचार्य ने जन्म लिया था। अनन्त सरोवर के समीप एक विशाल मंदिर मे आपकी भव्य मूर्ति विराजमान है। (३) चैतन्य महत्प्रभु . नवद्वीप धाम और बृदावन के मंदिरों मे आपकी मूर्ति स्थापित है। (४) गोरखनाथ : गोरखपुर का मुख्य मंदिर इन्ही योगिराज का है। यही जगह उनकी मुख्य तप स्थली तथा गद्दी की थी। उनके चार प्रधान मठ है—गोरखपुर, जूनागढ़, पेशावर और भडगनाथ (दक्षिण भारत)। हरिद्वार मे हाल ही मे गोरखनाथ का एक भव्य मंदिर सगमरमर का बना है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का दशनीय मंदिर अमरकटक मे है।

(५) नारद—तुलजा भवानी महाराष्ट्र की कुल-स्वामिनी है। यह स्थान शोलापुर से २४ मील दूर है। यही पर नारद को एक सुन्दर मूर्ति है।

(६) कपिल मुनि—सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि का मंदिर बीकानेर जिले के कोकलायतजी मे एक बहुत बड़े सरोवर के तट पर है। यह बहुत ही प्रतिष्ठित मंदिर है। यही पर कपिल मुनि का आश्रम था। यह राजस्थान के प्रसिद्ध तीर्थों मे से एक है।

धर्मारण्य-क्षेत्र का केन्द्र सिद्धपुर है। जैसे पितृ-श्राद्ध के लिए गया प्रसिद्ध है, वैसे ही मातृ-श्राद्ध के लिए सिद्धपुर प्रसिद्ध है। यहाँ पर महर्षि कर्दम का आश्रम था और यही पर भगवान कपिल का अवतार हुआ था। यहाँ विन्दु-सरोवर के दक्षिण-किनारे छंदे मंदिरों मे महर्षि कर्दम, उनकी पत्नी देहुती तथा कपिल मुनि की मूर्तियाँ हैं।

(७) कांचीगुडा-मनमाड रेल-मार्ग पर परभनी से १७ मील दूर मानवत रोड स्टेशन है। यहाँ से २० मील पर मुद्गल-तीर्थ है। गादावरी नदी के मध्य मे मुद्गल ऋषि का मंदिर है।

(८) वाडो-विजयवाडा रेल-पथ पर वाडो से ७० मील की दूरी पर विकारावार स्टेशन है। वहाँ से ५ मील पर अनंतगिरि पर्वत है। यह मावण्डेय ऋषि की तपोभूमि है। एक मंदिर मे मार्कण्डेय जी की मूर्ति स्थापित है।

(९) राजस्थान मे दो नारियाँ आज देवी के रूप मे परम पूजित हैं :
(१) करणी देवी और (२) रानी सती। इनकी कथा इस हैकार है—

करणी देवी—बीकानेर से मारवाड जंक्शन जानेवाले रेल-मार्ग पर बीकानेर से २० मील दूर देशनोक स्टेशन है। इसी स्टेशन के निकट करणी देवी का मंदिर है। करीब ५०० वर्ष पूर्व जोधपुर के सुआप गाँव में मेहोजी नामक एक देवीभक्त थे। हिंगलाज (बलूचिस्तान) की देवी की इन्होंने आराधना की। मेहोजी की भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने दर्शन दिया। मेहोजी ने वर माँगा कि 'मेरा नाम चले'। देवी ने 'एवमस्तु' कह दिया। मेहोजी को सप्तम पुत्री के रूप में देवी का जन्म हुआ। नवजात शिशु ने प्रसूति-गृह में ही अपनी माता को चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया। बचपन से ही करणी नामक इस बालिका ने अनेक चमत्कार दिखाए। इन्हीं के आशीर्वाद से बीकानेर-राज्य की स्थापना हुई। अतः बीकानेर-राजवंश की यह कुलदेवी हुई। इनके नाम पर एक विशाल मंदिर का निर्माण हुआ, जिसके अन्तर्गत एक स्वर्ण सिंहासन पर आप विराजमान हैं।

रानी सती—सवाई माधोपुर से लुहास तक जानेवाले रेल-मार्ग पर जयपुर से १०७ मील दूर भुनभूत स्टेशन है। राजस्थान का यह एक सुन्दर नगर है। नगर से बाहर रानी सती का मंदिर है, जो राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ बारह सतियाँ हुई थी—(१) सांता सती, (२) आदि सती, (३) मनोहरी सती, (४) मनभावनी सती, (५) जमुना सती, (६) ज्ञानी सती, (७) पूरा सती, (८) पिरागी (प्रयागी) सती, (९) उलमेली सती, (१०) टोली सती, (११) बाली सती और (१२) गुजरी सती। इन सतियों के भी स्थान यहाँ बने हैं। रानी सती को जगदंबा का ही स्वरूप मानकर उनकी अर्चना-पूजा होती है।

रानी सती का नाम नारायणबाई था। उनके हवसुर सेठ जालीराम अग्रवाल पहले हिसार में रहते थे; किन्तु वहाँ के नवाब से मतभेद हो जाने के कारण ये भुनभूत चले आए। इनके पुत्र का विवाह नारायणबाई से हुआ था। द्विरागमन कराकर जब इनके पति तनघनदास लौट रहे थे तब वन में हिसार के नवाब की सेना ने इनपर अचानक आक्रमण कर दिया। युद्ध में तनघनदास मारे गए, किन्तु नवविवाहिता नारायणबाई घबराई नहीं और उसने शस्त्र ग्रहण कर लिया और शत्रुदल पर टूट पड़ी। नारायणबाई दुर्गा के रूप में दीख रही थी। उसके तेज के सामने शत्रु ठहर न सके और अन्त में

उमके पाँच उलझ गए। पर नारायणबाई पति-वियोग सह न सकी और वहाँ पति-देह के साथ वह सती हो गई। सती के आज्ञानुसार ही उसका चितामधम झुनझुन लाया गया और जिस स्थान पर भस्म लानेवाला घोड़ा रुका था, वहाँ पर सती का मंदिर स्थापित हुआ।

रानी सती के मंदिर राजस्थान में स्थान-स्थान पर हैं। बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर नगर के सिकन्दरपुर मैदान में छोटी गण्डकी नदी के दक्षिणी तट पर उन्ही के नाम पर एक छोटा, किन्तु बड़ा ही सुन्दर मंदिर बना है। इधर कई वर्षों से यह धार्मिक तथा सांस्कृतिक चर्चाओं का केन्द्र बन गया है। हाल ही में मुजफ्फरपुर से ३६ मील दूर उत्तर में जगज्जननी सीताजी की जन्मभूमि सीतामढ़ी शहर में भी जालान-वंशीय मारवाड़ियों ने अपनी इस कुलदेवी रानी सती की मूर्ति एक छोटे-से मंदिर में स्थापित की है।

(१०) स्वामी नारायण-संप्रदाय के संस्थापक स्वामी सहजानंद जी की मूर्ति गढ़पुर (सुरेन्द्रनगर-भावनगर रेल-मार्ग) में स्थापित है। इस मत के संस्थापक यहाँ बहुत समय तक रहे थे, किन्तु बड़ताल स्वामी नारायण-संप्रदाय का मुख्य तीर्थ है। यहाँ स्वामी नारायण का विशाल मंदिर है। मंदिर में ही स्वामी नारायण द्वारा स्थापित लक्ष्मीनारायण की युगल-मूर्ति है। यह स्थान आनंद स्टेशन के पास ही है।

दिव्यधाम मंत्रालय

मंत्रालय दक्षिण-भारत का एक ऐसा पुण्य-क्षेत्र है, जिसके भक्तिपूर्ण प्रशान्त वातावरण के दर्शन-मात्र से मन की मलिनता दूर हो जाती है, जहाँ अध्यात्म-शक्ति को पहचान जाने पर नास्तिकता घुटने टेक देती है और जहाँ की देवी-लीलाओं को जानने पर विज्ञान (Science) गुँगा रह जाता है। मंत्रालय आंध्रप्रदेश के कर्नूल जिले में स्थित आदोनी तालुके का एक दिव्य क्षेत्र है। यह मद्रास-बंबई के मुख्य रेल-मार्ग पर स्थित मंत्रालय रोड स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है।

मंत्रालय-क्षेत्र का महत्त्व माध्व-संप्रदाय के महान् सत श्री राघवेन्द्र स्वामी के कारण है। मंत्रालय का इतिहास बताता है कि जिस किसी ने भी भक्ति-पूर्वक इस क्षेत्र में रहकर राघवेन्द्र स्वामी की स्तुति एवं सेवा की, वह रिक्त-हाथों और खिन्न मन से कभी न लौटा।

शक-संवत् १५९२ के श्रावण मास की द्वितीया (कृष्ण पक्ष) के दिन स्वामी जी ने पूर्व निर्मित अपने वृन्दावन में प्रवेश किया, अर्थात् समाधिस्थ हुए । समाधि में प्रवेश के पूर्व उन्होंने हाथ में जयमाला ले ली थी और पूर्वाभिमुख होकर, श्वास-निरोध कर वेदघोष करना प्रारंभ किया और अंत में सूचित किया कि वे ७०० वर्षों तक योगबल से भक्तों पर कृपा करते रहेंगे ।

२ अक्टूबर, १९६७ को वेनेजुएला (दक्षिणी अमेरिका) की एक महिला मंत्रालय-तीर्थ में आने पर ऐसी प्रभावित हुई कि अमेरिका लौटने पर उसने अपने एक मित्र को लिखा कि 'मैंने विश्व के अनेक धार्मिक स्थलों के दर्शन किए, पर मंत्रालय में मुझे जो आत्म-सुख मिला, वह अन्यत्र मैं कहीं न पा सकी ।'

मंत्रालय में न केवल राघवेन्द्र स्वामी जी का वृन्दावन है, अपितु वहाँ मुख्य प्राण (वायुदेव) का मंदिर है । इस तीर्थ-स्थल में हमेशा यात्रियों की भीड़ लगी रहती है । उनके ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था भी नि शुल्क की जाती है । इन सभी सुविधाओं के कारण मंत्रालय आर भी लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र बन गया है । यहाँ पर राघवेन्द्र स्वामी जी की पुण्य समाधि-तिथि श्रावण-कृष्ण द्वितीया को मनाई जाती है और उस अवसर पर प्रतिवर्ष तीन दिनों तक विशेष रूप से उत्सव-समारोह होता है । इसमें सम्मिलित होने के लिए देश के कोने-कोने से हजारों भक्तजन आते हैं ।

नागूर-आंडवन का अद्भुत मंदिर

यह मंदिर भी है, और मस्जिद भी । यहाँ आपको 'ओम् नमः शिवाय नारायणाय नमः ओम्' की मन्त्र-ध्वनि भी सुनाई देगी और "बिस्मिल्लाह-रहमान-इरंहीम ला-इलाही इल्लिल्लाह" का पवित्र पाठ भी आपके कानों में गूँजेगा ।

यह विलक्षण मंदिर-मस्जिद दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नाम-टिणम् बंदरगाह से छह मील दूर नागूर में स्थित है और नागूर आंडवन के नाम से प्रसिद्ध है । 'आंडवन, तमिल का शब्द है, जिसका अर्थ है भगवान ।

मद्रास शहर से एंग्मूर स्टेशन से रेल द्वारा नागूर पहुँचा जा सकता है, हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के भक्तजन 'नागूर-आंडवन' की मनीषी मानते

हैं और दशनाथ वहाँ जाते हैं। शुक्रवार के दिन वहाँ विशेष भीड़ रहती है। प्रायः सभी दशनाथी वहाँ मुँडन कराते हैं।

इस मन्दिर-मस्जिद के सात फाटक हैं। वे इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, द्वेष, लोभ, बीमारी, बुढ़ापा और असत्य नामक सात द्वारों को पार कर ले, तो उसे भगवान के दर्शन होंगे।

दर्शनार्थियों में रागियों की सख्या काफी होती है। भक्तों का यह विश्वास है कि नागूर-आडवन की कृपा से असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। भक्तों की तो यह भी आस्था है कि आडवन के सान्निध्य में जिस किसी भी इष्टदेव की उपासना सच्चे हृदय से की जाए, भगवान उसी रूप में दर्शन देते हैं।

नागूर-आडवन हिन्दुत्व और इस्लाम का ही नहीं, उत्तर और दक्षिण-भारत को भी जोड़नेवाली कड़ी है।

कला की कसौटी पर चाहे यह मन्दिर-मस्जिद भले ही खरी न उतरे, परन्तु भारत की धार्मिक एकता का अनुपम प्रमाण है।

—माणकचन्द नाहर ('नबनीत' से साभार)

नदियाँ

भारत की कुछ नदियाँ देवताओं के रूप में पूजित हैं। भारतीय एकता के प्रबल समर्थक हमारे धर्माधिकारियों ने और संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों ने जिन नदियों को एक श्लोक में बद्ध कर दिया है और अपने पूजा-जल में जिन सरिताओं के जल की सन्निधि की माँग की है, उनके नाम हैं—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदे, सिन्धु, कावेरी; जले स्मित सन्निधिं कुह ॥

इस प्रकार इस श्लोक में (१) गंगा, (२) यमुना, (३) सरस्वती, (४) गोदावरी, (५) नर्मदा, (६) सिन्धु और (७) कावेरी का महत्त्व दिखाया गया है। किन्तु आज सरस्वती लुप्त हो गई है और सिन्धु पाकिस्तान में चली गई है। पुराण-काल में सरस्वती और सिन्धु के स्थान में सरयू और कृष्णा की मर्यादा बहुत बढ़ गई। हरिद्वार और भरतपुर में गंगा-मन्दिर, यमुनोत्री का यमुना-मन्दिर और बाटानगर में कृष्णा नदी का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। हरिद्वार में गंगा के

जल तथा प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम के जल में मृत व्यक्तियों का अस्थि-प्रवाह माक्ष-प्रदायक समझा जाता है। पंडित जवाहरलाल, नेहरू जो किसी हद तक वैज्ञानिक युग के तक से प्रभावित थे तथा धार्मिक अंधविश्वासों में जिनकी आस्था बिल्कुल ही नहीं थी, वे भी गंगा से प्रेम रखते थे। अपने वसीयतनामों में उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनके अस्थि-भस्म का कुछ हिस्सा भारत की शस्यक्षयामला धरती पर बिखेर दिया जाए और कुछ गंगा के पुनोत्पन्न जल में प्रवाहित कर दिया जाए।

गंगा नदी की महिमा पुरातनकाल से चली आती है। हिन्दुओं में सभी श्रेणी के लोग इसके प्रति अपूर्व श्रद्धा रखते हैं और कवि से लेकर साधारणजन इसे माँ के रूप में देखते हैं। आरंभिक काल से ही इसकी तटवर्ती भूमि साधु-संतों की तपोभूमि रही है। इसके जल में अमृत का गुण समझा जाता है। ऐसा विश्वास है कि मरणोन्मुख व्यक्तियों के मुख में इसका जल डालने से मृत्यु-कण्ट से ही नहीं, बल्कि अन्य पापों से भी उन्हें मुक्ति मिल जाती है। यह तो निर्विवाद है कि इसका जल चाहे कितने दिनों तक किसी बर्तन में क्यों न रखा छोड़ दिया जाए, उसमें काँड़े नहीं उत्पन्न होते, जबकि ससार की अन्य नदियों के जल में, जब वह आदि-स्रोत से पृथक् कर किसी छाटे-से पात्र में बदल कर दिया जाता है, कीड़े पैदा हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भारत के जितने भी मोक्ष-दायक नगर हैं, सभी गंगा के किनारे बसे हुए हैं, जिनमें हरिद्वार, ऋषिकेश, प्रयाग तथा काशी प्रमुख हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तो नदियों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। सौभाग्य से भारतवर्ष में अन्य देशों की तुलना में नदियों की बहुतायत है। देश को शक्ति-संपन्न तथा समृद्ध बनाने में नदियों की शक्ति का उपयोग जोरों से हो रहा है। इस प्रयास को नदी-घाटी-योजना की सज्ञा दी गई है। इन नदियों से न केवल बड़ी तथा छोटी नहरें निकालकर कृषकों को खेत सींचने के लिए जल पहुँचाया जा रहा है, बल्कि इनसे ऊँचे-ऊँचे बाँध बाँधकर इनकी जल-शक्ति से पैदा की गई बिजली नगर-नगर तथा गाँव-गाँव में पहुँचाकर अनेक छोटे-बड़े उद्योग खड़े किए जा रहे हैं। इनके जल तथा मिट्टी से खेतों की उर्वरा-शक्ति बढ़ती है और ये खाद्यान्न की समस्या को मछलियाँ देकर बहुत हद तक हल करती हैं। हो सकता है, भविष्य में इन

नदियों की उपयोगिता भारतवासियों के लिए और अधिक हो जाए। इस समय देश में परिवहन (ट्रान्सपोर्ट) की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। सड़कें, रेल-मार्ग तथा हवाई-मार्ग इसके लिए पर्याप्त नहीं सिद्ध हो रहे हैं। सड़कें तथा रेल-मार्ग बनाना न केवल अधिक महंगा पड़ रहा है, बल्कि इससे खेती के काम में आने योग्य भूमि का भी व्यर्थ अपव्यय होता है। इसलिए यहाँ सोचा जा रहा है कि नदियाँ इतनी गहरी कर दी जाएँ, जिससे बड़ी-बड़ी स्टीमरें उनसे होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुगमतापूर्वक आ-जा सकें। भारतीय जन-जीवन में यह भावना बहुत गहराई तक धर कर गई है कि जो कुछ भी उनके जीवन में उपयोगी सिद्ध हुआ है, उसके प्रति वे अपनी कृतज्ञता उसे देवी या देवता की संज्ञा देकर व्यक्त करते हैं। यह परंपरागत संस्कार है।

केरल-प्रदेश की कुछ विशेषताएँ

केरल में देवी-देवता प्रायः वे ही हैं, जिन्हें हम देश के दूसरे भागों में पाते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवी-देवता भी हैं, जिनकी उपासना की वहाँ विशेष प्रवृत्ति है। इनमें सबसे प्रमुख 'शास्ता' है। शिव तथा मोहिनी-रूप विष्णु के संयोग के फलस्वरूप इस देवता के जन्म की सामान्य धारणा होने के कारण इसे 'हरिहर-पुत्र' कहा जाता है। अन्य देवताओं के समान इस देवता की उपासना के संबंध में केरल के तंत्र के प्रामाणिक ग्रंथों में अनुष्ठान-पद्धतियाँ निर्धारित की गई हैं। शास्ता की उपासना तमिलनाडु में भी होती है। इसी प्रकार 'शंकर-नारायण' भी है, जिनकी कल्पना अर्ध-शिव तथा अर्ध-विष्णु के रूप में की गई है। इनके बहुत-से मंदिर पाए जाते हैं और इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन सामान्य धर्म-ग्रंथों में है। एक और देवता है—किरात-मूर्ति। ये मलयालम में 'वेट्टकोरूमकम' कहलाते हैं। इनकी पूजा केरल तक ही सीमित है। इस देवता को शिव-पार्वती का पुत्र माना गया है। देवियों में रुजित है, जो अपनी आकृति में दुर्गा है। इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन केरल के तंत्र-ग्रंथों में है।

आर्यों की संस्कृति तथा उनके साहित्य से यदि कोई राज्य सबसे अधिक प्रभावित हुआ है, तो वह है केरल। फिर भी केरलवासियों को अपनी द्रविड़-परंपरा तथा सच्चाई पर आधारित तमिल-संस्कृति पर गर्व है।

धार्मिक इतिहासकार एकमत हैं कि आदि मनि वासियों की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा तथा सर्वचेतनवाद पर आधारित थी। बंदर, साँप, गरुड, मछली आदि जन्तुओं तथा वृक्षों की पूजा होती थी। केरल का अति प्राचीन समाज पुजारियों के नियंत्रण में नहीं था। अतः उपासना-प्रणाली भक्त की इच्छा पर निर्भर रहती थी। स्वार्थ से प्रेरित उपासकों को जो सहायक मालूम पड़ते, वे ही आराध्य बन जाते थे। मुरुगन (सब्रह्मण्य), मायोन (विष्णु), इन्द्र, कोरल (काली), शिव, अद्यपन, चातन आदि आराध्यों की श्रेणी में आ सके। धीरे-धीरे भक्ति-चरक साहित्य में नाग, मछली, बंदर आदि जन्तुओं, वृक्षों तथा पत्थरों का देवी-देवताओं से निकट-संबंध स्थापित किया गया।

ऐसे तो उत्तर-बिहार में नाग-पंचमी (आवण-शुक्ल पंचमी) कुछ लोग मनाते हैं, किन्तु यह प्रथा शनैः-शनैः लुप्त हो रही है। किन्तु दक्षिण-भारत और विशेषकर केरल में सर्प-पूजा का प्रमुख स्थान है। केरल में सर्प-पूजा की परंपरा की मूल कथा दक्षिण-भारत में आर्यों के प्रवास के साथ जुड़ी हुई है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्राह्मण संत-योद्धा परशुराम क्षत्रियों पर विजय प्राप्त करने के बाद दक्षिण चले गए। वहाँ उन्होंने महासागर में से गोआ के दक्षिण में गोकर्णम् से लेकर कन्याकुमारी तक फैली भूमि की एक नई सृष्टि की। वही भूखंड केरल कहलाया। तब परशुराम ने उसे चौंसठ नव्द्विद्वि ब्राह्मण-परिवारों को दान कर दिया। किन्तु वहाँ बसनेवालों को पीने योग्य पानी का अभाव खटका; क्योंकि पानी खारा था। इसपर परशुराम ने परमेश्वर का ध्यान किया और प्रार्थना की कि जल को शुद्ध और पेय बना दिया जाए। भगवान ने परशुराम से सर्पराज वासुकि की आराधना करने को कहा। परशुराम ने वासुकि को प्रसन्न करने के लिए कठिन तप किया। इसपर वासुकि ने प्रसन्न होकर केरल के जल को तो शुद्ध कर दिया, लेकिन बदले में सर्पों के लिए ऐसे शरण-स्थलों की माँग की, जहाँ वे निरापद रह सकें। वासुकि ने परशुराम से वचन ले लिया कि उनके भक्त और अनुचर उन स्थलों का कभी अतिक्रमण नहीं करेंगे और उनमें रहनेवाले सर्पों को कभी और किसी तरह की हानि नहीं पहुँचाएँगे। परशुराम ने आश्वासन दिया कि केरल में सर्पों की पूजा और रक्षा की जाएगी। जिस स्थल पर परशुराम ने तपस्या की थी, वहाँ उन्होंने सर्प-बिहार बनवाया और सर्पों के राजा और राणी—नागराज और नगलक्ष्मी—का मंदिर स्थापित किया।

एक समय भयंकर आग लगी। स्त्रियाँ सर्प-विहार को उस समय तक सींचती रही जबतक धरती शीतल नहीं हो गई। सर्प अपने रक्षको से, विशेषकर स्त्रियो मे, बहुत प्रसन्न हुए। इनको अनवरत वश-वेल और चिरस्थायी सपदा का वर दिया।

कोचीन जानेवाले राजमार्ग से कुछ दूर हटकर त्रिवेन्द्रम से लगभग पैंतालीस मील उत्तर एक छोटे-से शांतिपूर्ण गाँव मे सर्प-विहार (मन्नारशाला) अब तक है। आज भी प्राचीन नबूदिगि-वंश का परिवार वहाँ रहता है और मन्नारशाला की देखरेख करने की परंपरा का पालन करता है। इन दिनों भी वहाँ प्रतिवर्ष 'अयात्यम-पूजा' की जाती है और श्रद्धालु यात्रियों का ताँता बँध जाता है। परिवार की ज्येष्ठ बन्धा, जिसपर पौरोहित्य का भार होता है, प्रतिदिन सर्पों को अपने हाथ मे हल्दी मिश्रित-खाबल के आटे की खीर अर्पित करती है। सर्पों को खीर काते तो स्यात् किसी ने देखा हो, पर यह तो निश्चय का क्रम है कि निश्चित एवं सुरक्षित स्थान पर रखे गए खीर से भई पीतल के पात्र दूसरे दिन सबेरे खाली मिलते हैं।

यह सच है कि केरल और उसके निकटवर्ती प्रदेशो मे सर्प बहुतायत सख्या मे पाए जाते है। कहा जाता है कि आजतक मन्नारशाला के पुरोहित-वंश का कोई व्यक्ति सर्प-दश से नहीं मरा। असख्य नर-नारी आज भी इस सर्प-विहार की यात्रा करते है। भेंट-पूजा मे चढ़ाई हुई सामग्री यो ही खुले मे पड़ी रहती है, पर बिना अनुमति के कोई उसमे से एक तिनका भी उठाने का साहस नहीं कर सकता। कहते हैं कि यदि कोई ऐसा अपराध कर बैठे तो उसे ऐसा महसूस होने लगता है कि उसके सारे शरीर पर साँप रेंग रहे हैं और उसके लिए कोई कार्य करना असभव हो जाता है।

केरल मे नबूदिगि ब्राह्मणो का एक प्राचीन-परिवार सतान के लिए की जानेवाली विशेष पूजा का पौरोहित्य भी करता है।

केरल मे हर जगह बहुत तरह के साँप होते हैं, अजगर से लेकर साधारण चेरा साँप तक, जो घरो के अंदर पाए जाते है। साँप के काटने का आयुर्वेदिक उपचार करनेवाले तीन सौ से अधिक विष-वैद्य केरल मे हैं। गाँव के लोग पुराने संस्कारो के कारण विष-वैद्यों पर ही अधिक भरोसा करते हैं। विष-वैद्यों

तक उनकी पहुँच सुगम भी होती है। इन विशेषज्ञों को राज्य-सरकार के आयुर्वेद-विभाग की ओर से अनुदान भी मिलता है। विष को दूर करनेवाले इस अति प्राचीन उपचार में बहुत प्रवीणता प्राप्त की जा चुकी है। यदि इसका वैज्ञानिक अध्ययन और शोध किया जाए और दुर्लभ जड़ी-बूटियों की औषधियों के रहस्य की खोज की जाए तो संसार का कल्याण होगा।

दुर्योधन तथा रावण के मंदिर और उनकी पूजा

महाभारत के नायकों अर्थात् पांडवों को सभी वन्दनीय मानते हैं, किन्तु हमारे देश में एक भू-भाग ऐसा भी है, जहाँ पांडवों की निन्दा तथा दुष्ट प्रकृति-वाले कौरवों की पूजा होती है। उत्तराखण्ड के अन्तर्गत एक लघु भू-भाग में पांडवों का घोर तिरस्कार किया जाता है और उन्हें शत्रु समझा जाता है तथा इसके विपरीत दुर्योधन को कुलदेवता की तरह पूजित किया जाता है। देहरी-गढ़वाल और हिमाचल-प्रदेश की प्राकृतिक सीमा बनाती हुई एक विशाल उपत्यका है, जिसे राम-द्वार घाटी कहते हैं। अपने नाम के ही अनुरूप यह घाटी अत्यन्त दुर्गम है और यहाँ पहुँचना अत्यधिक कष्टसाध्य है। इसी घाटी के निम्नले भाग में टाँस नदी प्रवाहित होती है। टाँस नदी आगे चलकर देहरादून के समीप कालसी में यमुना में मिल जाती है। इसी नदी की घाटी में अल्प आबादी के लगभग दो दर्जन गाँव हैं। इन्हीं गाँवों में दुर्योधन को आराध्य इष्ट-देव माना जाता है और उनके पक्के मंदिर बने हुए हैं, जहाँ विशेष अवसरों पर दुर्योधन की विधिवत् पूजा आयोजित होती है। एक गाँववाले मूर्ति को सुसज्जित पालकी में बैठाकर गाजे-बाजे के साथ नृत्य और गान करते हुए दूसरे गाँव ले जाते हैं। दूसरे गाँववाले उसे उसी भाँति आगे के गाँव में पहुँचा देते हैं। यह क्रम चलता रहता है। निर्धारित गाँव में पहुँचने पर लोग मूर्ति का विशेष रूप से पूजन तथा सामूहिक रूप से नृत्य और गायन करते हैं।

इसी तरह बस्तर के गोडो की एक बड़ी शाखा रावण की पूजा करती है। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'धर्मयुग', ३ अक्टूबर, १९६५ ई०)

हम ऊपर कह आए हैं कि आदिम-निवासियों की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा एवं सर्वचेतनवाद पर आधारित है। बदर, साँप, गरुड, मछली आदि जीव-जन्तुओं तथा वृक्षों की वे पूजा करते हैं। मानव-मन में वे प्रतीक भय अथवा आश्चर्य पैदा करने में आदिम-काल में सफल हुए। बिना आयुष के

आदिमानव का सिर इनके सामने भय अथवा श्रद्धा से झुक गया और उन्होंने अपने अविकसित मस्तिष्क से उनके पूजन का विधान प्रस्तुत किया। उन्हें यह भी विश्वास होने लगा था कि वृक्षों पर नाना प्रकार के प्रेत निवास करते हैं। अतः पितृ-पूजा, निंग के प्रति श्रद्धा, नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा, जीव-बलि नर-बलि तथा भूतावशेष से आराध्यों से संपर्क रखने की प्रथा आदि तो समझ में आती है, किन्तु महान् आततायी राक्षस रावण तथा अत्यन्त दुराचारी दुर्योधन की पूजा की प्रथा का कारण अगम्य-सा ज्ञात होता है। अधिक-से अधिक यही हो सकता है कि इन दो समाज-विरोधी आत्माओं की पूजा उनके अबशिष्ट अनन्य अनुचर करते हो और अपने को सारे मानव-समाज से बचाकर दुर्गम स्थान में जम बसे हों। फिर भी यह अद्भुत तो है ही।



तीसरा परिच्छेद

भारतीय प्रतीक-पूजा का चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य-कला पर प्रभाव

सलित कला का संबंध मनुष्य के मानसिक विकास से है। अतः यह उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है। इस कला के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीत-कला और काव्य-कला सम्मिलित हैं। इन कलाओं का आभंद केवल कलाकारों को ही नहीं, बल्कि इनके उपभोक्ताओं को भी प्राप्त होता है। किसी सुन्दर प्रतिमा के कमनीय कलेवर, सुविद्याल नेत्र, क्षीण कटि और अलंकारादि यदि दर्शक को विभोर नहीं कर सके तो मूर्तिकार का प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि संगीत या काव्य चित्त पर अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल सका, तो संगीतज्ञ या कवि की वाणी त्रुटिपूर्ण समझनी चाहिए।

चित्रकला

उपयुक्त कलाओं की श्रेष्ठता के क्रम में विद्वानों में मतभेद रहा है। वात्स्यायन अपने 'काम-सूत्र' नामक ग्रन्थ में चित्रकला का तीसरा स्थान देते हैं। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं धर्मार्थ-काम-मोक्षादि प्रदायिनी माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के ४३वें अध्याय में चित्रकला की श्रेष्ठता के विषय में उल्लिखित है कि जिस प्रकार पर्वत-मालाओं में सुमेरु, पक्षियों में गरुड और मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ और मान्य है।

चतुर चित्रकार मनुष्य के प्रायः रूपपूर्ण भावों को सजीव बना देने की सामर्थ्य रखता है। संस्कृत-नाटककार भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित नाटक में लिखा है कि लक्ष्मण द्वारा श्रीराम को उनके जीवन की घटनाओं का जो चरित्र अंकित कर दिखलाया गया, वह इतना सजीव था कि उसे देखकर राम का प्रिया-वियोग पुनः जाग्रत हो उठा और वे सहसा कह उठे—

तदर्थ्यतस्माद् विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि ।

प्रत्यावृत्तः पुनरपि स मे जातकी विप्रयोगः ॥

अर्थात्—‘हे लक्ष्मण ! इस चित्र को हटा लो । अब मैं इसे अधिक देर तक नहीं देख सकता । इस चित्र के अवलोकन से मानो सीता का वियोग पुनः लौट आता है ।’ इसी प्रकार उत्तर-रामचरित में अन्य कई स्थानों पर बड़ी रसिकता के साथ चित्रकला के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है ।

चित्र-नक्षत्र-ग्रन्थ में चित्रकला की उत्पत्ति के सबब में दो कथाएँ आई हैं । पहली कथा के अंत में राजा भयजित को ब्रह्मा ने आशीर्वाद दिया कि चित्रकला की विद्या द्वारा ससार का बहुत कल्याण होगा और ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा ने राजा को चित्रकला की शिक्षा दी । विश्वकर्मा ने देवलोक में चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया—“विश्व की सृष्टि करने के बाद ब्रह्मा ध्यानावस्थित हुए । उनके ध्यान से विष्णु, महादेव, इन्द्रादि देवता भी दिव्य प्रभाव से सपन्न हो गए । उन लोगों ने अपने-अपने प्रभाव से श्रीसपन्न आकृतियाँ आविर्भूत की । उन आकृतियों ने पृथक्-पृथक् रूप धारण किया और अलौकिक वस्त्रालकारों से सुशोभित हुईं । उन देवताओं के हाथों में उन्हीं के अनुरूप अनेक प्रकार के आयुध थे । अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें भिन्न-भिन्न गुण भी व्यक्त हुए । देवता लोग अपना-अपना चित्र देखकर बड़े प्रसन्न हुए । इसपर ब्रह्मा ने कहा कि ससार के प्राणी इन्हीं चित्रों को पूजोपहार देकर कृतकृत्य होंगे और देवताओं ने ब्रह्मा की बात मान ली ।”¹

दूसरी कथा विष्णुधर्मोत्तर के प्रथम खंड के १२९वें अध्याय में आई है, जिसका सार है कि ऋषि नर-नारायण ने तप से भ्रष्ट करने के लिए आई हुई अप्सराओं को लज्जित करने के लिए चित्र द्वारा रूपवती रमणी उर्वशी को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् देव-शिल्पी विश्वकर्मा ने चित्र-विद्या की शिक्षा दी ।

कहा जाता है कि चित्रकला उतनी ही प्राचीन है, जितना यहाँ का साहित्य । यह तो निर्विवाद रूप में सिद्ध है कि तीसरी शताब्दी के पूर्व इसकी ख्याति हो चुकी थी, क्योंकि वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में चौंसठ कलाओं के साथ चित्र-कला का भी उल्लेख किया है ।

“चित्र-प्रेम प्रागैतिहासिक काल से हमारे जीवन को ओत-प्रोत करता आ रहा है । सिन्धु-घाटी की सभ्यता में, आज से कम-से-कम पाँच हजार पूर्व, विभिन्न

भांडो पर अनेक प्रकार की ज्यामिति लिखाई मिलती है, जिससे उस युग में हमारे पूर्वजों के जीवन से उसका अत्यन्त गहरा संबंध लक्षित होता है।

“उसके बाद हमारी वैदिक संस्कृति में चित्रों का प्रेम कम न रहा होगा। उत्तर-वैदिक काल से ईसवी सन् तक और उसके बाद हमारे वाङ्मय में जो समाज प्रतिबिम्बित हुआ है, उसमें सर्वत्र समाज चित्र-विद्या में निष्णात है। घर-घर में चित्रावलियाँ थी, प्रत्येक सुसंस्कृत नागरिक चित्र की विशेषताओं से परिचित होता और स्वयं चित्र अंकित करने में समर्थ होता। उन युगों के चित्रमय अवशेष न जाने कहाँ चले गए? पर इस अभावान्मक साक्ष्य से हमें इस निर्णय पर नहीं कूद पड़ना चाहिए कि तब चित्र बनते ही न थे—भविष्य में होनेवाले शास्त्रीय शोध की हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

“इस समय हमें पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में बिखरी हुई गुफाओं और उनकी चित्रित भित्तियों में ही संतोष करना होगा, जो अबतक प्रकाश में आई हैं। अनुमानतः इनका समय पहली शताब्दी ई० पूर्व में शुरू होता है। इनमें अनेक गुफाओं—जैसे भाजा, पाण्डुलेण, विदिशा, नासिक इत्यादि—में ऐसे चित्र रहे होंगे, जिनके बहुत ही अस्पष्ट अवशेष मिलते हैं। ये अवशेष इतने सूक्ष्म हैं कि इनसे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। फलतः हमें अपनी खोजों को अर्जुनता तक ही सीमित रखना पड़ता है।”

वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय चित्रकला अपने उज्ज्वल रूप में थी। राम के महलो में भित्ति-चित्रों का उल्लेख है (२।१५।३५)। कंकेयी के कनक-भवन में तो अलग चित्रगृह बने हुए थे (२०।१०।१३)। उत्तर-रामचरित में तो उल्लेख है कि सीता को प्रसन्न करने के लिए राम ने अपनी जीवन-लीलाओं के चित्र बनाए थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि नर्मदा की घाटी के पाषाण प्रकोष्ठों में प्राप्त चित्रकला लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है। विद्वानों के इस अभिमत में अति-शयोक्ति भी हो सकती है, किन्तु मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में प्रागैतिहासिक लोगों के बनाए हुए चित्र मिलते हैं। यहाँ के गुफा-मंदिर की छतों पर अंकित

हाथी, रथ, वृक्ष तथा नग्न स्त्री-पुरुषों के अनेक चित्र हैं, जिन्हें सर जॉन मार्शल प्रथम शताब्दी के मानते हैं ।

छोटानागपुर-क्षेत्र के सिंगनुर नामक स्थान की एक गुफा के अंदर भी कुछ प्रागैतिहासिक चित्र-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जो यत्र-तत्र चट्टानों पर अंकित हैं । ये नर्मदा-घाटी की चित्रकला से भिन्न हैं । इन चित्रों में कुछ-कुछ युद्ध या शिकार के दृश्य अंकित हैं । इन सबकी रचना चाहे जब हुई हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें कला के कई एक उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं ।

किन्तु यह तो निर्विवाद है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त मिट्टी के बरतनों तथा सिक्कों पर पशुओं के जा चित्र अंकित हैं, वे उस समय के मनुष्यों का चित्रकला-प्रेम प्रकट करते हैं, वे कम-से-कम ३,००० वर्ष पुराने हैं । इससे ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी-घाटी के प्राचीन निवासियों में प्रचलित चित्रकला की एक अलग शैली थी, जो भारत की प्रागैतिहासिक कला का एक प्रबल उदाहरण प्रस्तुत करती है । इन बरतनों पर सिंह, चीता, बराह, बारहसिंगा, बैल, मछली तथा पक्षियों के चित्र अंकित पाए गए हैं, और इन कृतियों के साथ वनस्पति-वर्ण एवं रेखागणित की आकृतियों को जिस कौशल से अंकित किया गया है, वह बड़ा ही विलक्षण है । इस कला के अंदर यथार्थता तथा सजावट की प्रवृत्ति अपनी विशेषता रखती है ।”

श्री चक्रवर्ती का विचार है कि “ऐसा कोई आधार तथा सूत्र नहीं प्राप्त होता है, जिससे कला की इस प्रणाली को वैदिक चित्रकला के साथ, जिसका उद्गम बाद का है, संबद्ध किया जा सके ।

यह तो हुई पौराणिक और प्रागैतिहासिक काल की बातें । किन्तु जब हम ऐतिहासिक घटनाओं की ओर दृष्टि करते हैं तो पता चलता है कि भारत जैसे विशाल देश में चित्रकला की शृंखलाबद्ध परंपरा के इतिहास पर प्रकाश डालना बड़ा ही दुर्लभ कार्य है । इसका कारण यह है कि भारत एक देश नहीं है, प्रत्युत इसे एक उपमहादेश कहना चाहिए; क्योंकि इसके अंदर विभिन्न संस्कृतियों के प्रदेश हैं और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की चित्रकला में जो अंतर पड़ता है, उससे कुछ ऐसा आभास मिलता है कि देश की समष्टिगत चित्रकला की ऐतिहासिक शृंखला विच्छिन्न है । किन्तु ईसा के २०० वर्ष पूर्व निर्मित अजंता की

गुफाओं की भास्कृत्य-कला तथा काँगड़ा एवं गढ़वाल की राजपूतकालीन चित्रकला को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय चित्रकला की परंपरा विच्छिन्न हुई है। भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक अनुसंधान के फलस्वरूप कुछ नए तथ्य प्रकट हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि भारत की चित्रकला का एक शृंखलाबद्ध इतिहास है, जो कम-से-कम २,००० वर्षों तक अविरल गति से चलता रहा है।

इन्हीं तथ्यों से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि हमारे देश की चित्रकला की विकास-धारा प्रारंभिक उद्भवकाल, यदि अधिक नहीं तो ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व, से अबतक अविरल गति से प्रवाहित होती रही। चित्रकला के इस प्रवाह-मार्ग में कला के रूप यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के थे, उनकी शैलियाँ और प्रणालियाँ भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती नहीं थी, बाह्य स्वरूप भिन्न-से प्रतीत होते थे; तथापि सभी रूपों में, सूक्ष्मतः स्वरूप में तादात्म्य था। आर्य और वैदिक सभ्यता के अंतर्गत जब चित्रकला को विशेष स्थान प्राप्त हुआ, उससे बहुत पहले से ही इस भूमि पर चित्रकला अपने विकसित स्वरूप में विद्यमान थी। आर्यों के पूर्ववर्ती भारतीय आदिवासी, जो इस देश के विभिन्न भागों में निवास कर रहे थे, चित्रकला में प्रवीण थे।¹ किन्तु आदिकाल से चित्रकला की प्रवृत्ति भले ही मनुष्य में हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि चित्रकला का उत्थान मूर्ति-पूजा के विकास के बाद हुआ।

बौद्धधर्म और चित्रकला :

बौद्धधर्म के भिक्षुक अपने धर्म का प्रचार चित्र द्वारा किया करते थे। वे अपने साथ तैल-चित्रपट रखते थे, जिनपर जातक-कथाएँ (भगवान बुद्ध के ५५० वर्ष पूर्व की कथाएँ) चित्रित रहती थी। इसी कारण बौद्ध-कालीन नालंदा तथा तक्षशिला सदृश बड़े-बड़े शिक्षा-केन्द्रों में अन्य विद्याओं के साथ चित्र-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। इस काल में चित्रकला के प्रधान विषय महात्मा बुद्ध थे। चित्रकार अपनी भक्ति-गुष्पाजलि भगवान बुद्ध के चरणों में अर्पित करते थे।

भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली सदी ईसा-पूर्व के प्रारंभिक वर्षों में लगभग एक साथ गांधार और मथुरा में बुद्ध, शिव और

1. मोहेंजोदड़ों से काँगड़ा तक : श्री श्यामाप्रसाद अक्षरवर्ती

कृष्ण की प्रतिमाओं के विकास के रूप में हुआ। भारतीय आधुनिक कला का सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटों के समय सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना। यह भारतीय कला के उत्थान का द्वितीय काल है। इसी काल में अकित चित्रकला के अपूर्व और दर्शनीय उदाहरण अजंता, वादामो, एलोरा आदि दर्शनीय गुफाओं में आज भी विद्यमान हैं। इसी समय सार्वभौम कल्पनाओं और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओं में हुई।

विख्यात वैयाकरण पाणिनि (ईसा के ४००—३०० वर्ष पूर्व) के ग्रंथों में कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण-लीला के ये चित्र ब्रह्मण-युग की प्राचीनतम कला-कृतियाँ माने जाते हैं। पाणिनि ने अपने ग्रंथों में 'सौमिक' नामक जन-समुदाय का उल्लेख किया है। इस समुदाय का काम चित्र-प्रदर्शन का था और इन लोगों के पास श्रीकृष्ण-जीवन तथा उनके साहसिक कार्यों के सभी चित्र रहते थे। उन्हीं चित्रों से ये लीला-प्रदर्शन करते थे। बाद के युग में राजपूताना तथा उड़ीसा में कुछ ऐ-व ताशों (Playing cards) का प्रचलन हुआ, जिनमें कृष्ण लीला संबंधी चित्र बने हुए थे। इसी प्रकार जन-समुदाय के चित्र-प्रदर्शन भ्रमणशील दलों को 'भक्ता' कहा जाता था। इससे १४० वर्ष पूर्ववाले काल में महर्षि पतंजलि ने भी इसी व्यवसाय में संलग्न एक जन-समुदाय का उल्लेख किया है।

“प्रारंभ में बौद्ध-संन्यासियों के लिए भोक्तृता से नितात अलग रहकर आध्यात्मिकता में पूर्णरूप से रत रहना आवश्यक था। किन्तु भिक्षुओं में सर्जनात्मक प्रतिभावाले कुछ ऐसे लोग भी थे, जो अपने आराधना-स्थलों और आश्रमों को तुलिका और छेनी के कौशल से सजाकर रखने में आनंद की अनुभूति प्राप्त करते थे। धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ गया और इसे भक्ति की अभिव्यक्ति की एक विद्या के रूप में मान्यता मिल गई। लगभग नौ सौ वर्षों की सारी बौद्धकला का सृजन अकेले भिक्षु कलाकारों के वंश की बात मही थी। काल पाकर इस कला को राज्याध्यक्ष मिला और तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकार तथा मूर्तिकार भी इस काम में लग गए।

“तभी कुछ ऐसा हुआ कि प्राचीन भारत के कुछ कलाकार धार्मिक सिद्धान्त के कट्टर अनुशासन में न चलकर, रंग और रेखाओं की शक्ति के उपयोग में

आनंद लेने लग गए। उनकी कला में एक नई ताजगी आई, जो ऐन्द्रिक भी थी और सबेदनपूर्ण भी। अनुराग एवं विराग की भूमिकाओं का अद्भुत समन्वय इसमें हुआ। ऐसी कला-कृतियों में अजंता-कला-मंडप सर्वोपरि स्थान रखते हैं।”

अजंता की गुफाएँ—महाराष्ट्र-राज्य के औरंगाबाद जिले में अजंता की गुफाएँ स्थित हैं। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई पथ पर भुसावल से आगे पचोरा से जानेवाली छोटी लाइन पर पाटुर स्टेशन मिलता है, जिसके समीप ही फर्दापुर गाँव है। फर्दापुर से अजंता साढ़े तीन मील पर है। फर्दापुर में यात्रियों के लिए सुविधा-संपन्न डाक-बैंगला है।

अजंता में कुल मिलाकर तीस गुफाएँ हैं, जो पहाड़ की चंद्राकार काटकर बनाई गई हैं। गुफाओं के नीचे बहती हुई बघोरा नदी ने अजंता की प्राकृतिक शोभा में विशेष वृद्धि की है। यह बड़ा-एकान्त स्थान है। पुरातत्त्व के विद्वानों का मत है कि दूसरी सदी ईसवी-पूर्व से गुफाएँ काटी जाने लगी थी। यह कार्य सातवीं शताब्दी तक चलाता रहा। बौद्धों को ये गुफाएँ उसी सपने का साकार रूप हैं, जो बौद्ध-कला के प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व करता हैं। चीनी यात्री फाहियान और ह्युएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इन कला-मंदिरों का उल्लेख किया है। लॉरेस बिनयान के अनुसार अजंता की कला एशिया की कला के इतिहास में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है, जितना यूरोप में यूरोपीय कला का है।

इतनी महत्वपूर्ण कला-कृतियाँ लगभग एक हजार वर्षों तक कला-जगत की अनभिज्ञता का शिकार रहकर अज्ञानक सन् १८१९ ई० में कैने प्रकाश में आईं, इसकी भी अजब कहानी है। मद्रास-फौज के एक अवकाश-प्राप्त ऑफिसर ने चीते के आखेट में गुफा-द्वार पर पहुँचकर घनी हरीतिमा के अंतराल में बैंगनी पत्थरों के खंभों के बीच, सुनहरे लाल रंग में कुछ ऐसी चीज देखी, जिसने कप्तान को जिज्ञासा-पूर्ण उत्साह से भर दिया। वे यह सोचकर गौरवान्वित हुए कि वे संसार को एक ऐसी चीज का पता देने जा रहे हैं, जो वास्तुकला की दृष्टि से निश्चय ही महत्वपूर्ण है। तब से परवर्ती कुछ वर्षों में दर्शकों द्वारा अजंता के चित्रों का जितना नाश हुआ, उतना संभवतः विगत बारह-बीस सौ वर्षों में भी नहीं हुआ

होगा। वस्तुतः जहाँ तक मनुष्य के हाथ पहुँच सकते हैं, वहाँ तक के अधिकांश चित्र मिट चुके हैं।

कुछ काल बाद अजंता के समुचित संरक्षण का भार निजाम-सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और वहाँ ठहरने की, अध्ययन करने की एवं उसे प्रकाशित करने की समुचित योजनाएँ बनीं। संप्रति अजंता को राष्ट्रीय महत्त्व का प्राचीन अवशेष (नेशनल मॉन्युमेण्ट) मान लिया गया है और हैदराबाद देशी राज्य के भारत में विलीन होने के बाद उसके संरक्षण तथा प्रबन्ध का भार भारत-सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर वहन किया जा रहा है।

अजंता महाराष्ट्र के औरंगाबाद नगर से सत्तर-बहत्तर मील पर है। वस्तुतः वहाँ इस शब्द का उच्चारण 'अजिण्ठा' है, जिस नाम का वहाँ एक छोटा-सा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ दर्शनार्थियों के लिए एक सुन्दर विश्राम-गृह का प्रबन्ध है, जहाँ से यात्री-बस द्वारा सुविधा से प्रायः दो मील की यात्रा करके अजंता की गुफाओं तक पहुँचा जा सकता है। सत्तर-बहत्तर मील का यह सारा रास्ता प्राकृतिक सौंदर्य से भरा हुआ है—ऊँचे-ऊँचे श्यामवर्ण पहाड़, बीच-बीच में मैदानों को घेरे हुए हैं। साल, सागवान और विशेष रूप से पारिजात अपनी सुरभि का प्रतिदान किया करते हैं।

अजंता के ये कला-मंदिर इसलिए अधिक महत्त्व रखते हैं कि इनमें एक साथ वास्तु, मूर्ति और चित्र-कलाओं के नमूने देखने को मिल जाते हैं। किन्तु मुख्यतः अजंता की विश्वव्यापी प्रसिद्धि उसकी चित्रकला के कारण है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि जो युग संस्कृत-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है, वही अजंता के चित्रों के निर्माण का युग है।

विभिन्न विद्वानों ने अजंता की कला का अध्ययन कर उसे विश्व की कला-कृतियों के सदस्य में देखा है और अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। चित्रों का मुख्य विषय बुद्ध का वास्तविक जीवन तथा उनके पुनर्जन्म की कथाओं (जातकों) का चित्रण है। अजंता की कला अपने-आप में बिल्कुल मौलिक है।

अजंता के चित्रों में कथाएँ कही गई हैं, जिनमें विषय से संबंधित पुरुषों और उनके विषयों को सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि दीवारों पर ऊपर-नीचे ब्रह्म के सहारे खींची गई लंबी और सशक्त मोड़ खानेवाली रेखाएँ इन कलाकारों ने खींची कैसे होगी।

अजंता के चित्र तत्कालीन चित्रकला के विविध रूपों और रंगों को ही नहीं, बरन् समाज के रहन-सहन आदि के भी द्योतक हैं। अजंता का चित्रकार जहाँ कुछ दृष्टियों से आदर्शवादी या रहस्यमय-सा प्रतीत होता है, वही समाज के रहन-सहन के चित्रण में वह पूर्णतया यथार्थवादी है।

श्री कन्हैयालाल नंदन के शब्दों में—“अजंता के कलाकार रेखाओं के धनी थे। उन्हें एक-एक रेखा की स्थिति का ज्ञान था। अजंता में हाथों का चित्रण उनके इसी ज्ञान का परिणाम है, जहाँ हाथों हाथ में सारी बात सँभल कर देने की क्षमता है। मन-स्थितियों और भावों के अनुसार बदलती त्वचा के एक-एक रेशे के परिवर्तन को इन कलाकारों ने रेखाओं में बाँधने का प्रयास किया है।

पशु-पक्षियों के चित्रण में कलाकारों ने असाधारण प्रतिभा दिखाई है। चूँकि जातक-कथाओं के अनुसार पूर्व-जन्मों में बुद्ध हरिण, हाथी, हंस आदि रह चुके हैं; इसलिए कौन कह सकता है कि किस पशु-पक्षी में इन कलाकारों को यह महान् आत्मा निवास करती नहीं दिखाई पड़ी ?”

अजंता के चित्रों में बुद्ध-चरित्र से संबंधित चित्रों की बहुलता है। वे वस्तुतः द्वितीय हैं। अजंता के चित्रों में जातक-कथाएँ अनुपम ढंग से चित्रित की गई हैं। उनमें बुद्ध का एक चित्र है, जो ऐसे विचित्र रूप में निर्मित किया गया है कि उसे हम किधर से भी देखें, वह भी हमें देख रहा है—ऐसा नजर आता है, मानो बुद्ध ससार को सम-दृष्टि से देख रहे हैं। उनमें आकर्षण है। रंग से इतनी बारीकी से काम किया हुआ है कि देखते ही बनता है।

बुद्ध से संबंधित विषयों के अतिरिक्त नारी-चित्रण अजंता की चरम उपलब्धि है। नारी-चित्रण किसी प्रत्यक्ष धार्मिक या साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं हुआ, मात्र चित्रण के आनंद के लिए हुआ है।

केश विन्यास भी अजंता की कला में अपना प्रमुख स्थान रखता है। अनेक प्रकार के वेणी-विधु और उन्हें षण्मण्डित करने की विधियाँ आज के भारतीय महिला-समाज को अभी युगों तक नई-नई उपलब्धियों की शिक्षा दे सकती हैं।

अजंता की चित्रकारी में हाथों के माध्यम से भाव-व्यंजना में अत्यधिक सहायता ली गई है। हाथों की अंगुलियों के बनाने में चित्रकार ने कमाल कर

दिया है। प्रत्येक अंगुली का अपना एक वृथक कार्य प्रतीत होता है। मुँह के बिना हाथ अकेले ही भाव-व्यंजना में समर्थ है। यद्यपि आँख, नाक, कान बनाने की प्रविधि (तकनीक) एक है, तब भी भाव-व्यंजना के कारण उनमें इतनी विविधता आ गई है कि वे एक-से नहीं लगते।

“अजंता के कलाकारों ने विश्व की निगाहों में पनपते, हरे-भरे वसंतोत्सव मनाते, पीधो चिड़ियों, बदरों, हिरनों, हाथियों, खेतों, पहाड़ियों, नगरों और राजमहलों के बीच ुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का, विभिन्न मन-स्थितियों में जो चित्रण किया है, उनमें वे अपनी अभिव्यक्ति की सजीवताएँ छलकाते दीख पड़ते हैं। इन चित्रों में अकित सारा भौतिक जीवन अपनी हँसी और रुदन के बीच आध्यात्मिक जीवन का प्रादुर्भाव प्रदर्शित करता है, उस आध्यात्मिक जीवन का, जहाँ करुणा और दया का साम्राज्य है। वहाँ त्याग की आत्मा प्रदर्शित है, पर भौतिक जीवन से दूर भागकर घुणा के रूप में नहीं। यह त्याग उस राज कुमार के जीवन में उदित होता है, जिसकी आँखों में तेज है, जिसने तपस्वी जीवन बिताकर भौतिकता से दूर भागने के बजाय उसी के बीच रहकर निर्वाण के रास्ते को खोज निकाला, जो इन भौतिकताओं के बीच खड़ा किसी विशेष दृश्य पर आँख नहीं गराए है; मगर सारा विश्व उनकी आँखों के सामने है। इन चित्रों में मानव के द्वित्व की छाया एक साथ दिखाई पड़ती है। एक ओर भौतिक क्रियाशीलता के प्रति उसकी उत्साह-भावना, जिज्ञासा, सौंदर्य और आनन्द की पिपासा और ऐन्द्रिक सुख की अभिलाषाएँ हैं, तो दूसरी ओर उसी जगह इन्हीं सबके त्याग में प्रकाश की अनवरत खोज का अद्भुत उपदेश। भौतिक और आध्यात्मिक मिलन कला के एक ऐसे ससार में लाकर हमें छोड़ देता है, जहाँ न अनुरक्ति की प्रधानता है, विरक्ति की, जहाँ चरम अनुराग और चरम विराग एक तन हो गया है।

“चित्रकला मानवीय कल्पना की नितान्त रोमाञ्चकारी सचित्र साहस-गाथा है। किन्तु कला के मूल्यांकन और रसास्वादन-संबन्धी धारणाओं में समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहता है, जैसा कि स्वयं चित्रांकन की रीतियों और शैलियों में भी परिवर्तन हुआ करता है। प्रत्येक युग के अपने मन-पसंद बिंब होते हैं, अपनी भावनाएँ होती हैं। परिवर्तन की इसी प्रक्रिया में मानव का सौंदर्य-विवेक परिमार्जित और विकसित होता है। काल की तुला पर तोलने पर

कई बार अतीत के माने हुए विग्न कलाकारों के चित्र आज की कला-दृष्टि को तृप्त करने में असफल सिद्ध हो सकते हैं ।

‘किन्तु कुछ चित्रों में ऐसी कोई खूबी होती है कि कोई बड़े-ने-बड़ा आलोचक भी उनमें मोन-मेष नहीं निकाल सकता और उनकी महानता अधुण्य बनो रहती है । अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि और भिक्षापात्रधारी बुद्ध ऐसे ही महान चित्र हैं । इनकी समूची कल्पना अत्यंत उदात्त है ।’

श्रीपुर नगर की कला—इसी प्रकार के चित्र मध्यभारत के छतीसगढ़ के श्रीपुर नगर में हैं । श्रीपुर नगर का प्राकृतिक सौंदर्य अलौकिक है । इसकी छांभा निरखते ही बनती है । यहाँ पर लक्ष्मण-देवालय का पवित्र मंदिर है, जिसकी शिल्प-कला अजंता की शिल्पकला से भी बढ़कर है । इसको देखकर विदेशी शिल्प मर्मज्ञ भी डंग रह जाते हैं । इसके चारों तरफ जंगल-ही-जंगल है । उसकी परिक्रमा करती हुई महानदी बहती है, मानो वह भी उस कला को देखकर विस्मय से आत्म-विभोर होकर चारों ओर उस शिल्पकार को ढूँढ़ रही हो, जा अभी सामने से चना गया है । कला के प्रसिद्ध पारसी श्री रायकृष्ण दास का अजंता की कलाकृति पर कथन है—“अजंता की परिक्रमा करने के बाद हमें दो विषयों पर विचार करना चाहिए । एक तो अजंता में जो रूप प्रस्तुत किए गए हैं, उनका आदर्श क्या है ? यह तो निश्चित है कि उस रूप का आदर्श चित्रण-मात्र है । फिर भी हम यह नहीं मान सकते कि चित्रकार ने ऐसा लोक उपास्यत किया है, जिसका जड़-मिट्टी में न हो । हम गुप्तकालीन साहित्य में रूप चयन की प्रायः चर्चा पाते हैं । जान पड़ता है कि इस रूप-चयन से एक ऐसी अलौकिक सुन्दरता-बहु-विशेष की प्राप्ति हुई थी, जिसे हम तत्कालीन कला में प्रतिफलित पाते हैं । इस प्रकार यह कलाकार के मानस और दृश्य जगत का सुन्दर समन्वय था । कहीं-कहीं पर इसमें अतिरंजन है, फिर भी इन आकृतियों में तथ्य की घडकन मौजूद है ।

“अजंता की पौली का बौद्ध-कला के पक्ष में कोई ऐसा तर्क नहीं है; जिसे महत्त्व दिया जाए । फिर भी कला के इतिहासकार यही तक सीमित नहीं रहे ।

1. महान चित्रों का नाशालार ('जबनीत' नवम्बर, १९६७) :

डॉ० पी० सन्याल ।

उन्होंने यहाँ तक निर्णय दे डाला कि चित्रकार बौद्ध भिक्षु रहे होंगे। अजंता के चित्रों में तत्कालीन गुप्त-शैली समाविष्ट है, जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी के समान उदाहरण मिलते हैं, जो किसी प्रकार पृथक् नहीं। वस्तुतः अपनी कलाओं में किसी युग में भी धार्मिक विभाजन नहीं हुआ। हम जिसे बौद्ध-कला कहते हैं, उसका मूल बौद्ध-धर्म से संबंधित नहीं, क्योंकि प्रारंभिक बौद्ध-धर्म कलाओं के प्रति असहिष्णु न होता तो एक नई बौद्ध-शैली की उद्भावना संभव थी।

“बौद्ध-भिक्षुओं के अंकन की बात तो हास्यास्पद है। हम स्थान-स्थान पर देखते हैं कि आलेखनों में जैसी विशेषता है, वह प्रकाश चित्राचार्यों द्वारा ही संभव है, इतर जनों द्वारा नहीं। जा मनोविनोद के लिए व धार्मिक भावना के कारण आलेखन करते हैं, उन आलेखनों का परंपरा से, पूर्व-काल और उत्तर-काल से, ऐसा अनिष्ट संबंध है, जो परंपरागत चित्रकारों को ही सुलभ है।”

राजपूत-शैली—राजपूत-शैली हिन्दू-जीवन-दर्शन के प्रस्तुत करने में प्रसिद्ध रही है। उसमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक चित्र भी बनाए गए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं के चित्र तो पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। राजपूत-पेंटिंग के अनुसार एक चित्र में वैकुण्ठ में निवास करनेवाले विष्णु का चित्र है। लक्ष्मी पास में बंठी है। शिव, गणेश और ब्रह्मा भी वहाँ दिखाई देते हैं। ब्रह्मादि देवता विष्णु से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

रामलीला को चित्रित करने के लिए राम की गाथा और सीता की अग्नि-परीक्षा के चित्र बनाए गए हैं। राधा-कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक चित्र बन गए। कृष्णलीला के रास-मंडल, चौर-हरण, गोवर्धन-धारण, गोपियों के साथ जल-विहार, राधा-कृष्ण-मिलाप, कृष्ण द्वारा कालिय का दमन, दावानल का उपचयन जैसे चित्र अपने अनुपम रूप में पाए जाते हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

पलायन के बाद जब हुमायूँ भारत लौटा तब वह अपने साथ दो ईरानी चित्रकारों को भी लाया, जिनके प्रयास से भारत में नई चित्रशैली का जन्म

हुआ। यद्यपि मुगल-चित्रशैली और राजस्थानी (राजपूत) शैली में भारी अंतर है, तथापि यह निश्चित है कि राजस्थानी शैली पर मुगल-शैली का प्रभाव पड़ा। उत्तर-पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात तथा उसके आसपास की चित्रशैली का ह्रास हुआ और इधर कृष्ण-भक्ति के प्रभाव से राजस्थान में चित्रकला को नवजीवन प्राप्त हुआ। सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णलीला पर राजस्थान में चित्र बनाए जाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में कृष्ण और राधा को नए अर्थों में चित्रित किया जाने लगा। कृष्णलीला के साथ-साथ रासलीला, रागमाला, नायिका-भेद, बारहमासा, रामायण आदि के कथा-चित्र बनाए जाने लगे।

राजपूत-कलम के अधिकतर चित्रकार मुसलमान थे। जब औरंगजेब ने ललित कलाओं को संरक्षण देना बंद कर दिया तब मुगल-दरबार से पलनेवाले चित्रकार राजपूतों को धरण में जा बसे।

राजस्थानी चित्र-शैली के मुख्य केन्द्र मेवाड़, बीकानेर, जोधपुर, बूंदी, उदयपुर, किशनगढ़, जैसलमेर आदि थे। इन्होंने रामायण, महाभारत, विष्णु तथा शिव के धार्मिक आख्यानो से विषय का चुनाव किया और उन्हें रेखाओं और रंगों में पूरित कर दिया। संपूर्ण रामायण—राम के जन्म से लेकर अयोध्या के राजा होने तक—की एक-एक कथा चित्रित मिलती है। इसी प्रकार कृष्ण का संपूर्ण जीवन-चरित्र चित्रों में चित्रित है। गीता-प्रेस, गोरखपुर में इन चित्रों की प्रतिलिपियों का सुन्दर संग्रह सुसज्जित है।

राजपूत चित्रशैली में कोमलता, मोहकता एवं सूक्ष्मता है। राधा और कृष्ण के माध्यम से नारी और पुरुष के साश्वत प्रेम का चित्रण किया गया है। मंदिरों और राजभवन की दीवारों पर भी अनेक चित्र अंकित हैं। धार्मिक कथनों और राजाओं के जुलूस, दरबार आदि के चित्रों से भित्तियों को सुसज्जित किया गया है।

किशनगढ़-कलम—राजपूत-नरेश जहाँ रणक्षेत्र में कालभैरव बनते थे, वहाँ सुख-मंदिरों में बैठकर तूलिका की धिरकती चाल को परखा करते थे। इसीलिए राजस्थान की रक्तरंजित भूमि में लघु-चित्रों की अमर बेल रोपी जा सकी। किशनगढ़ की राजपूत-कलम अपने पूर्ण जीवन को प्राप्त हुई। किशनगढ़ के श्रीकृष्णलीला संबंधी चित्र नितांत नए, विमुग्धकारी और रहस्यपूर्ण

हैं। अनेक चित्राकन १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के चित्रों से भिन्न हैं। कुछ चित्रों का सृजन एक ही कलाकार द्वारा हुआ था, इनके पीछे कवित्व भी लिखे हैं। प्रश्न उठता है कि वह अज्ञात कवि कौन था, जिसकी कलम से ऐसे नयनाभिराम मौलिक चित्रों का अंकन हुआ। इस समस्या का समाधान करते हुए बाला सहाय शास्त्री ने बताया कि इस चित्रकला के उन्मायक स्वयं किशनगढ़-नरेश सावंत सिंह थे, जो बल्लभ-संप्रदाय के भक्त कवियों में कवि नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हैं।

महाराज सावंत सिंह (१६९९-१७६४ ई०) ने 'नागरीदास' उपनाम से चित्र और काव्य का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया। आसपास ब्रज में अभी भी बल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव मंदिरों में इनके रचे पद गाए जाते हैं। इन्होंने मनोरथ-भंजरी, रसिकरत्नावली और बिहारो-चंद्रिका—इन तीन ग्रंथों की रचना की। इन्हीं ग्रंथों ने किशनगढ़ की चित्रकारी को रसमय विषय प्रदान किए। यदि किशनगढ़ के चित्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो उनमें प्रेम की बौकी पीर अंगड़ाई लेती हुई नजर आती है। इस चित्र-शैली में एक प्रकार की नारी-जागृति का चित्रण हुआ है।

महाराज सावंत सिंह को चौदह वर्ष की एक अपूर्व सुन्दरी बाला से प्रेम हो गया। कालान्तर में सावंत सिंह कवि नागरीदास हो गए और वह गायिका किशोरी 'बणीठणी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस किशोरी को सावंत सिंह प्रेम से 'वानी' कहकर पुकारते थे, अतः सावंत सिंह अपने पुत्र को राजगद्दी देकर वृन्दावन चले गए। नागरीदास और वानी ने वृन्दावन बिहारो के चरणों में गीत गाते हुए अपने जीवन को समर्पित कर दिया। इस सलोनी कहानी ने किशनगढ़ के चित्रों में जान डाली। इस युगल छवि को इनके महान प्रेम के कारण ही चित्रों में गद्या-भाष्य की जगह चित्रित किया गया।

सावंत सिंह ने चित्तरे अमल सुरध्वज निहालचंद को प्रेरित प्रभावित किया। इस चित्रकार ने कृष्णलीला सबंधी अनेक चित्र बनाए। इनके सहायक अमरचंद और सीताराम ने मंदिरों के लिए सुन्दर पिछवाड़ों का भी ताना-बाना बुना।

—डॉ० रामावतार अग्रवाल

नाथद्वारा (उदयपुर) की पिछवाड़ियाँ—नाथद्वारा-शैली का भारतीय चित्रकला में एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ के चित्रकारों ने कागज और कपड़ा

—दोनों पर ही श्रीनाथ जी का चित्राकन किया है। कपड़े पर की यह चित्रकारी विश्व-भर में प्रसिद्ध है। वेष्टर बनाए गए चित्र, जो पिछवाई के नाम से विख्यात हैं, बड़े आकर्षक होते हैं। नाथद्वारा के सैकड़ों परिवार इस चित्रकला में निष्णात हैं। बालक से लेकर बूढ़ तक परिवार का हर सदस्य चित्रकारी जानता है और पिछवाई बनाने में सहयोग देता है।

पिछवाई की कला का जन्म भी मथुरा और वृन्दावन में हुआ। पिछवाई पर श्रीनाथ जी का चित्राकन काफी समय से होता चला आ रहा है। श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए आए हुए तीर्थयात्री कागज अथवा कपड़े पर अंकित श्रीनाथ जी का चित्र सीगात के तौर पर ले जाते रहे हैं। मथुरा में आजकल भी पिछवाई का काम कहीं-कहीं होता है। पिछवाई मंदिरों में श्रीनाथ जी की प्रतिमा के पीछे दीवार पर लटकाने के काम में लाई जाती है। नाथद्वारा के मंदिर में दैनिक द्रष्ट-दर्शन के समय श्रीनाथ जी की मूर्ति के पीछे लटकाई जानेवाली पिछवाई दिन में आठ बार बदली जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी की बनी कुछ पिछवाईयों पर राजस्थान की चित्रशैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्थियों की आकृतियों पर बुंदी चित्रशैली का प्रभाव है। पुरुषों की आकृतियाँ कोटा-कलम से मिलती-जुलती हैं, जबकि औरों की बनावट पर किशनगढ़-कलम का प्रभाव है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बनी एक पिछवाई में श्रीनाथजी के चारों ओर भक्तिभाव में ओत-प्रोत भक्तियों का समूह चित्रित किया गया है।

यद्यपि किशनगढ़ और नाथद्वारा की चित्र-शैलियों का विकास वल्लभाचार्य के दर्शन के प्रभाव से हुआ, तथापि इन दोनों कलमों की विषय-विवेचना सर्वथा भिन्न है।

श्रीनाथ जी के मंदिर में आजकल भी लाखों रुपए मूल्यवाली पिछवाईयों का प्रयोग किया जाता है। ये पिछवाईयें अपनी कलात्मकता के कारण बहुत मूल्यवान हैं।

पिछवाई की कला नाथद्वारा के चित्रकारों की अपनी विशेषता है, लेकिन संभवतः संरक्षण के अभाव के कारण बढ़िया किस्म का काम धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है।

—सुभाषिणी अग्र्य

इस प्रकार राजपूत-कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति से फूटकर निकली है। उसमें जीवन-साधन, सौंदर्य और धार्मिकता है। उसमें शृंगार का छुट भी है, परन्तु मुगल-शैली के सदृश भोग और उल्लास नहीं है।

कहते हैं कि मुगल और राजपूत-कलमों के मेल से पहाड़ी कलम निकली । कुछ लोगों का मत है कि राजपूत-कलम के दो क्रीडा-क्षेत्र थे—एक हिमालय की तराई में तो दूसरा राजस्थान के मैदान में । कांगडा-शैली में पहाड़ी कलम परिपक्व हुई, तो जयपुर-शैली में राजपूत-कलम ।

इस प्रकार मूर्ति-पूजा के प्रचार के परिणाम-स्वरूप भारतीय चित्रकला के अनुसार रामायण, महाभारत और भागवत-पुराण की घटनाओं के आधार पर अनेकों नयनाभिराम चित्र बनाए गए । वर्तमान काल में रवि वर्मा का चित्र लोकप्रिय हुआ । बौद्ध-धर्म के भिक्षुओं द्वारा बौद्ध-धर्म-प्रचार की तरह विष्णु और उनके अवतारों की लीलाओं के रूप में चित्रकला प्राचीनकाल में धर्म-प्रचार का आवश्यक अंग मानी जाती थी ।

लेपाक्षी मंदिर की भित्ति-कला—भारत में भित्ति-चित्रों के निदर्शन बहुत कम पाए जाते हैं । अजंता के गुफा-मंदिरों के प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों तथा श्रीर सद्गुप्त छिट-फुट स्थानों के भित्ति-चित्रों को छोड़कर भारत में और कहीं भी भित्ति चित्रों का अस्तित्व जनसाधारण की जानकारी में नहीं है । हाल ही में तमिलनाडु में लेपाक्षी देवी का अपूर्ण और उपेक्षित पड़ा हुआ मंदिर प्रकाश में आया है, जिसकी ओर पुरातत्त्ववेत्ताओं और कला-पारक्षियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है । वहाँ अद्भुत पूणता है, कीशल और ताजगी से ओत-प्रोत भित्ति-चित्रों का अंकन है, महाविष्णु और भगवान शिव के अनेक अवतारों तथा रामायण और महाभारत की कथाएँ इन चित्रों का प्रधान विषय हैं । इतिहास, संस्कृति, कला-शिल्प और श्रु गार-प्रसाधन के विद्यार्थियों को इन चित्रों में प्राचीन भारत की वेशभूषा, रीति-रिवाज, जीवन-चर्या, श्रु गार, अलंकार, गृह सज्जा, सामाजिक जीवन आदि विषयों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री मिल सकती है ।

यह मंदिर तमिलनाडु में गु तकल-बंगलोर रेलवे-पथ पर हिन्दूर स्टेशन से दस मील की दूरी पर लेपाक्षी नामक ग्राम में पाया गया है । कूर्मशैली नामक एक पहाड़ी पर यह बना हुआ है । आज इसके गोपुर, परकोटे आदि ध्वस्त हो चुके हैं । लोगों का ध्यान इस मंदिर की कला की ओर पहले आकृष्ट नहीं हुआ था । सन् १९३५ ई० में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद वहाँ गए थे और वहाँ के कला-शिल्प से बहुत प्रभावित हुए थे ।^१

१. लेख 'बर्मयुग', ८ अक्टूबर, १९५९) : एम० एस० राव ।

मूर्तिकला

यह दिखाई देनेवाला जगत परमात्मा का स्थूल रूप है। यह अमूर्त ही मूर्तरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ के चर-अक्षर में भी वह सूक्ष्म रूप में समाया हुआ है। स्थूल जगत अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी ईश्वर के स्थूल रूप को दिखाने के लिए बनाई गई हैं। अर्थात् जिस तरह जगत को देखने में उसके रचयिता ईश्वर की याद ताजा हो जाती है, उसी तरह मूर्ति के सामने आते ही उसके सूक्ष्म रूप का स्मरण हो आता है। कलाकार जिस मूर्ति का निर्माण करता है, वह तो वास्तव में उसके मन और हृदय में रहती है। वह तो केवल उसकी भावना का प्रतीकात्मक रूपान्तर-मात्र है।

“विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों का निर्माण भी इस बुद्धिमत्ता से किया गया है कि उनसे समस्त कथावस्तु का बोध हो सकता है, उनकी आकृति अध्यात्म के गुह्य रहस्यों को खोलनेवाली सिद्ध होती है। वैद-शास्त्रों में विष्णु के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वही रूप हमारे सामने व्यक्त में दिखाई देता है। मूर्तियाँ उसकी पूर्ण कथा का प्रातिबिम्ब मात्र हैं। इसलिए नारद-पुराण में इस जगत को विष्णु का मूर्तरूप कहा गया है। विष्णु-पुराण में भी इन विचारों की दृष्टि करते हुए कहा गया है कि सर्वव्यापी एवं निराकार विष्णु स्थूल रूप धारण करके देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों आदि के विविध रूपों में यहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

“विष्णु की मूर्तियों में उनके विराट रूप के दर्शन होते हैं। पिंड में ब्रह्माण्ड की भावना को व्यक्त करना ही पुराणकारों की विशेषता रही है।”

“गुप्तकालीन विशाल मंदिर, जो अलंकृत हैं तो, मृण्मय मूर्तियों एवं फलकों द्वारा निर्मित हैं, आज भी कला के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—कान्यूर के निकटस्थ भीतरगाँव का मंदिर, सोरपुर का लक्ष्मण-मंदिर, सारनाथ का छोटा मृण्मय स्तूप, पहाड़पुर का बृहद स्तूप, जिसके अलंकरण में सहस्रों मृण्मय मूर्तियाँ लगी हैं। महास्थान की कलायुक्त मृण्मय मूर्तियाँ प्रस्तर-शिला-युक्त मूर्तियों

से किसी प्रकार कम नहीं है। अहिच्छत्रा के शिव-मंदिर में प्रयुक्त मिट्टी के फलक उन्नत कला के परिचायक हैं। सिंध के मीरपुर खास में स्थित विशाल स्तूप के भग्नावशेष मृण्मय मूर्तियों का कलात्मक सोप्टब प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार गुप्त-युगीन ईंटे तथा मिट्टी की मूर्तियाँ गंगाघाटी में बिखरी पड़ी हैं।
 अहिच्छत्रा के शिव-मंदिर से लगी हुई गंगा-यमुना की बृहद् मृण्मय मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त राजघाट से अनेक गुप्त-युगीन मृण्मय मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक में भूना भूलती हुई युवती का अकन है तो दूसरी मुवंग-वादन करती हुई सुन्दर नारी-मूर्ति है।¹

भारतीय मूर्तिकला के विकास के संबंध में विख्यात विद्वान डॉ० राधा कमल मुखर्जी का विचार है—“भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के आरम्भिक वर्षों में, लगभग एक साथ गांधार और मथुरा में बुद्ध, शिव और कृष्ण की प्रतिमाओं के विकास के रूप में प्रारंभ हुआ। भारतीय कला के सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। कला का विकास इन्हीं प्रतिमाओं के साथ ६०० ई० तक लगभग तीन शताब्दियों तक हुआ। इन मूर्तियों में एक ओर तो मानव की उत्कृष्ट नैतिक भव्यता की अभिव्यक्ति हुई तथा दूसरी ओर, मानव शरीर की लय एवं सुन्दरता की। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटों के समय सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना।”

उसी समय सार्वभौम कल्पनाओं और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओं में हुई। यह सवेदनशील, धर्म-निरपेक्ष और सगुणवादी कला थी; किन्तु सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति भी इसमें हुई।

अश्वघोष, कालिदास और भारवि के धीरोदात्त नायक-नायिकाओं की लक्षणाओं और विविध कल्पनाओं में रूपधारो की आध्यात्मिक भव्यता, और विविधता गुप्त-कालीन मंदिरों के देवी-देवताओं की मूर्तियों में भी मौजूद है।

भारतीय मूर्तिकला में पहले के लोकप्रिय प्रतीकों के समन्वय की स्पष्ट अभिव्यक्ति क्लासिकी प्रवृत्ति के कारण हुई। यह समन्वय-युग की नवीन

1 प्राचीन भारत की मृण्मयी मूर्तियाँ ('कादंबिनी', अगस्त, १९६७) :

साहित्यिक एवं शास्त्रीय खचित्तों और परंपराओं के बल पर संभव हो सका था । यथुरा के वैदिका-स्तंभों की यक्षिणियों की भासल कामुकता को गुप्त-मूर्तिकला की विमोहक कन्याओं तथा चाँवरधारिणी कुमारिकाओं के त्रिशंग-मुद्रात्मक प्रतीकों में पुनः प्रस्तुत किया गया ।

गुप्त-कालीन साहित्य के समान, गुप्त-कला में भी मानव के शारीरिक नहीं, बरन् आध्यात्मिक सौंदर्य के प्रतिमान स्थापित किए गए हैं । ... गुप्त-काल में निर्मित नारों की अनेक नग्न मूर्तियाँ लयात्मक दैहिक सौंदर्य से कपित, किन्तु फिर भी निर्मल और संयत हैं ।

तांत्रिक मूर्तियों में न तो डेम में विषयासक्ति है और न काम को लेकर शक-भौ हो सिकोड़ी गई है । उसमें नर-नारों असंख्य प्रकार के आलिंगनों में दिखाए गए हैं, जो ईश्वर में हो रही आत्मा के परमानन्द के प्रतीक हैं ।

तांत्रिक परंपरा का, विशेषतया उसके सहज रूप का, भारतीय कला पर जो प्रभाव पड़ा, उसका सर्वश्रेष्ठ रूप उत्तर-मध्ययुग (ईसवी सन् की लगभग ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी) के पूर्वी भारत की शिव और उमा की संयुक्त प्रतिमाओं में मिलता है । उसमें लालित्य और शक्ति का, मानवीय स्वेदनशीलता और आत्मिक भावमग्नता का, शारीरिक कोमलता और कमनीयता तथा आकार-मातृका और रूप के कड़े सयम का अद्भुत संयोजन हुआ है ।

इससे बहुत पहले हमें उमा-सहित प्रतिमाएँ गुप्तकालीन देवगढ़-मंदिर के द्वार मार्ग और सुदूर इण्डोनेशिया में लगभग छठी शताब्दी के समय की मिलती हैं, जिनपर पल्लव-कला का प्रभाव है । तांत्रिकवाद ने भी पूरे देश में एक रोमांटिक अभिव्यजनवादी कला को जन्म दिया था । तांत्रिक कला में सुर-सुन्दरी, अप्सरा या नायिका की मूर्ति के प्रतीको द्वारा विश्वमोहिनी माया की अभिव्यक्ति आकर्षक ढंग की हुई । मध्ययुगीन मंदिरों के हर आले, दीवारों या कोने में इस कला के चित्र हमें मिलते हैं ।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति एलिफैंटा की गुफा (ई० सन् की आठवीं शताब्दी) में शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक मूर्ति में हुई है । इस प्रतिमा में बीच का मुख स्वयं-प्रभावित, निरपेक्ष और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है; दायाँ मुख उग्र, शुकुटी ताने हुए तथा वैराग्य और विनाश की भावना से उधृत अक्षर और धार का है, और

बायाँ मुख है शिव की सगिती, परम सौंदर्यमयी, आभूषण-युक्त उमा का ।

इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूप में, प्रशांत योगी के रूप में सदाशिव तो मध्य में हैं, किन्तु दाईं ओर हैं खप्पड से रक्त-पात करते हुए महा-काल तथा बाईं ओर एक दर्पण में प्रतिबिंबित ब्रह्माण्ड के रूप में अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया । यह शिव-त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विषय-वस्तु का अद्वितीय और व्यापक प्रतीक है ।¹

अतः प्राचीन भारतीय कला की शाश्वत स्थिति के भीतर केवल मानव की चिर-भावनाओं का मूर्त रूप ही नहीं है, बरन् उसकी आध्यात्मिकता की आधार-शिला भी सन्निहित है । सौंदर्य ही ईश्वर है, वही सत्य है, भद्रापन ही तो पाप है, चाहे वह भद्रा आचरण हो, भद्रा भाव या रूप । कला आर मस्तिष्क की अचेतन अवस्था के आंतरिक सुप्त तारों को भ्रूत करती है और उनकी भावना को प्रकट करती है । इसलिए भारतीय कला में मानव की आध्यात्मिक कल्पना की सिद्धि का ही रूपान्तर मिलता है । भारतीय कला धार्मिक संस्कृति और नैतिक आदर्शों का वाहन रही है और समाज के विभिन्न अंगों को उत्तेजित करती रही है । यह कहना अत्युचित नहीं होगी कि यथार्थ कला समाज की आत्मकथा है, उसके जीवन और आत्मा का प्रतिबिंब है । कला की श्रेष्ठता के लिए यह जरूरी है कि उसे देखकर दशक के हृदय और मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकार की छाप पड़े । भारतीय कला सदा धर्म की सहचरी रही है । आय या हिन्दूधर्म की अद्भुत सहिष्णुता और संस्कृतियों ने विशिष्ट गुणों को आत्मसात करने में योग्यता दिखाई है, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू, बौद्ध तथा जैन-कला को साथ-साथ पनपन का अवसर मिलता रहा । भारतीय आचार्यों और दार्शनिकों ने इस स्थूल सत्य को भी मान लिया कि अधिकतर सभी व्यक्तियों का बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास एक-सा नहीं होता, किन्तु अपन निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक व्यक्ति की एक ही अभिलाषा उचित और प्रशंसनीय है । इसलिए हिन्दू-धर्म में अपने-अपने अधिकार और योग्यता के आधार पर धर्मपथ की विभिन्न पगडंडियाँ निर्धारित की गईं अथवा मान ली गईं । एक स्तर के धर्माधिकारियों के लिए जहाँ मूर्ति की आवश्यकता

1. भारतीय कला-प्रतीक और प्रतिमान ('नवनीत', नवम्बर, १९६०):

अनिवार्य है, वहाँ पहुँचे हुए अध्यात्मवादियों के लिए मूर्ति का सहारा अत्यन्त आवश्यक है ।

हिन्दू-धर्म भक्ति-प्रधान धर्म है । भक्तिपथ के आरम्भ और विकास का इति-हास सिद्धादग्रस्त है, जैसाकि हम पञ्च ग्रंथ के पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं । भक्ति-पंथ का मूलाधार व्यक्ति की अत्यन्त विशेष इष्टदेव पर अटूट श्रद्धा है और वह अपने देवता में ही सब गुणों और सभी शक्तियों का अस्तित्व मानता है । वह अपने देवता की मूर्ति में इसी भाव और शक्ति की प्रतिच्छाया देखना चाहता है । इसलिए भगवान् के अद्भुत रूप और अगणित पौराणिक चमत्कारों का सादृश्य प्रकट करने के प्रयास में अनेक देवी-देवताओं के अनेक रूपों की मूर्तियाँ बनने लगी ।

यूनानी कला से तुलना—यह सत्य है कि मानव-समुदाय मूलतः एक है, फिर भी मानव-जाति की प्रत्येक शाखा ने अपनी संस्कृति और अभिव्यक्ति के साधन और तरीकों को विभिन्न रूपों में अपनाया है । इसी कारण भारतीय और यूनानी कला एक-दूसरे से दूर हैं । यूनानी मूर्ति-कला की विशेषता है प्राकृतिक सौंदर्य का यथार्थ दिग्दर्शन । यूनानी देवी-देवताओं की नग्न मूर्तियों में हम शारीरिक सौंदर्य, सुषड और आकर्षक चेहरे और पूर्ण विकसित मांसल प्लुट शरीर की वस्तु निर्वोष आकृतियाँ देखते हैं । आँखों का सुन्दर और आकर्षक लगनेवाला ये मूर्तियाँ इतनी वास्तविक हैं कि इनके कलाकारों की प्रशंसा करना स्वाभाविक है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यूनानी कला यथार्थवादी (Objective) है । इसके विपरीत भारतीय कला में यथार्थ-वादिता कम और भावनात्मकता (Subjectiveness) पूर्ण रूप से विकसित है । इसीलिए कहीं-कहीं भावना को पूरी तरह प्रदर्शित करने के लिए काल्पनिक रूपों का भी सहारा लिया गया है, जिसके कारण यथार्थता गौण से गौणतम होकर रह गई है । इसी के फलस्वरूप आज के भौतिकतावादी युग में भारतीय कला का मखौल भी उड़ाया जाता है । पर प्राचीन भारतीय कला का आदर्श और उसकी परंपरा दूसरी है । भारतीय कलाकार यथार्थ और प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति-मात्र को ही अपना इष्ट नहीं मानते थे । वे मूर्तियों में सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों को सुन्दर और पवित्र मानकर उन्हें मूर्ति के रूप में

प्रकाशित कर अपनी कृति को सफल मानते थे । चार हाथवाले विष्णु, अष्ट-भुजी दुर्गा, नटराज शिव, योगासन में बैठे बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा अथवा तीर्थ-करों के शान्त रूप में हम आंतरिक भावों की अदभुत झलक देखते हैं । हाँ, यह आवश्यक है कि मूर्ति में प्रकट किए गए भावों को समझने के लिए मूर्ति-कार-सी आँखें और उनके-सा मस्तिष्क भी होना चाहिए । भारत में मंदिरों के पुजारी मूर्ति के दशनाथियों को मूर्ति के भावों को समझाते पाए जाते हैं । इस प्रकार भारतीय और यूनानी कला में बहुत बड़ा अंतर और भेद है । पहले में आत्मा की प्रधानता है तो दूसरे में मस्तिष्क की । यूनानी उदाहरणों में हम आंतरिक सौंदर्य से विलग होकर शारीरिक कमनोयता और उसके अंगों की दृष्टता के चकाचौध में ही पड़कर रह जाते हैं और मूर्ति के भीतर छिपी आत्मा को पहचान ही नहीं पाते । हमारी दृष्टि और हमारा दिमाग मानव-शरीर की इस विलक्षण बनावट पर ही स्थिर होकर रह जाता है । पर भारतीय कला द्वारा बनाई गई मूर्ति को देखने के साथ ही शरीर-रचना में हटकर उसमें अभिव्यक्त भावों, आदर्शों एवं आध्यात्मिकता की ओर हमारा मन अग्रसर हो जाता है । बाह्य दृष्टि में अधिक हमारी आंतरिक दृष्टि को तृप्ति मिलती है । यहाँ की मूर्तियों के दशन करने पर हमारा चंचल मन निमल और शान्त हो जाता है और हमें आध्यात्मिक प्रेरणा मिलनी शुरू हो जाती है । प्रतिमाएँ दशक और भक्त को ध्यातावस्था और आत्मिक तत्त्वों के ज्ञान की ओर ले जाती हैं । बल्कि वे ये प्रतिमाएँ तो मूक हैं, मानव-निर्मित हैं और निजीव हैं । पर सत्यता यह है कि कलाकार उन प्रतिमाओं में ऐसा हाव-भाव भर देता है कि दर्शक भूल जाता है कि वह एक मूक तथा निजीव मूर्ति के सम्मुख खड़ा है, बल्कि वह तो अपने दृष्ट की शरण में अपने को पाता है, जो उसके दुःख दर्द को मिटाने में समर्थ है, जो उसकी कामनाओं को पूर्ण करने में अपनी सारी ममता को उडेलता मालूम पड़ता है, जो उसे पारलौकिक सुख का आश्वासन देता है । यूनानी मूर्ति-कला में भावात्मक तत्त्व का बड़ा अभाव है । 'मेरी माँ' की प्रतिमा में 'पवित्र मेरी' सिर्फ एक निर्दोष नारी दीख पड़ती है । किन्तु बुद्ध की मूर्ति में आध्यात्मिक उडान के द्वारा ईश्वर की अगोचर महिमा का साक्षात् किया जा सकता है । आध्यात्मिकता में अनुप्राणित कला का महत्त्व देश और काल से परे है ।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला के कुछ प्रमुख स्थान

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मंदिरों में मूर्ति-कला एवं स्थापत्य-कला का ज्वलंत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमें (१) कोणार्क, (२) खजुराहो, (३) एलोरा, (४) दिलवारा, (५) रामेश्वरम्, (६) जैसलमेर, (७) बोधगया, (८) अश्वमेधगोल, (९) मीनाक्षी, (१०) शिवसारी, (११) कुम्भकोणम्, (१२) बेलूर, (१३) त्रिपुरी, (१४) एकलिंग, (१५) चिदम्बरम्, (१६) ग्वालियर, (१७) आमेर, (१८) वृन्दावन, (१९) दशपुर, (२०) क्रिष्ण, (२१) एलिपेटा, (२२) डिपचली, (२३) नेपाल और (२४) सांची और भरहुत प्रमुख हैं।

१. कोणार्क—कोणार्क का सूर्य-मंदिर भारतीय वास्तुकला के इतिहास का एक स्वर्णिम तथा शाश्वत पृष्ठ है। उड़ीसा में चंद्रभागा नदी के तट पर स्थित यह अनुपम मंदिर भारतीय जीवन, संस्कृति, दर्शन और समाज के साथ प्रणय और बिरता का प्रतीक है।

बारहवीं शताब्दी में निरंतर सोलह वर्षों तक इसके निर्माण में श्रम किया और तत्कालीन राजा ने अपने राज्य का बारह वर्ष का लगान इसमें खर्च किया। इसमें लगा धन, श्रम और समय व्यर्थ नहीं गए। कोणार्क की भव्यता, विशालता, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति, सज्जा, यथार्थ दर्शन एवं कल्पना-शक्ति पिछले सात सौ वर्षों से कला-विशेषकों और सामान्य दर्शकों का समान रूप से मुग्ध करती आई है।

सूर्यदेव का यह विशाल मंदिर अन्य मंदिरों से इस बात में भिन्न है कि इसमें कोई मूर्ति नहीं है। फिर भी उड़ीसा के जन-जीवन में आज भी इसका आवत स्थान है। वर्ष में एक बार माघ-शुक्ल सप्तमी को कोणार्क के प्राण में अति-आव से भरे नर नारियों की विशाल भीड़ एकत्र होती है। इस तरह इस दिन यह मंदिर अपरिमित भीड़ द्वारा सूर्य देवता के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से मुखरित हो उठता है। इसकी जोड़ी दीवारों से सूर्य भगवान के जय अकार तथा स्तोत्रों एवं मंत्रों की ध्वनियाँ टकराकर गूँज उठती है और सच्चे हृदयों एवं आब कंपित कंठों से निकले भजन इसके विशाल प्राण को भक्तिरस की लहरों से प्लावित कर देते हैं।

मंदिर के रथ के पहिए, उसमें गुंते सात घोड़े और उसपर सारथि के बैठने का स्थान कलात्मक दृष्टि से बने हैं। इसीलिए यह सूर्य-मंदिर अपने

कला के लिए विश्व का सर्वश्रेष्ठ मंदिर कहे जाने का अधिकारी है। इसकी स्थापत्य-कला अद्भुत है। नवग्रह की मूर्तियाँ, जो एक ही असंख्य शिला में हैं, दर्शकों को आश्चर्यित कर देती हैं। मंदिर के चारों ओर निम्न भाग में घोंड़े-हाथी सद्गृह पशुओं तथा भयंकर युद्धों के सुन्दर तथा आकर्षक दृश्य अंकित हैं। इन दृश्यों के देखने से सबत्र विजय, शौर्य और आत्म-विश्वास का उत्साह दृष्टिगोचर होता है। युद्ध का ऐसा सजीव और सशक्त दृश्य उड़ीसा के किसी अन्य मंदिर में देखने को नहीं मिलता। कुशल हाथों द्वारा निर्मित इस शिल्प-कृति के अवशेषों को देखकर आज भी दर्शक आश्चर्य में स्तब्ध हो उठते हैं और उनका हृदय शिल्पियों के प्रति प्रशंसा से भर उठता है और वे इस अलौकिक कला को देखकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोणार्क-मंदिर का प्रमुख आदर्पण इसकी प्रणय-मूर्तियाँ हैं। प्रेमार्पण की विभिन्न उल्लसित मुद्राओं, सुख-विनिमय के सम्मोहक क्षणों और प्रणयी मन की संवेदनशीलता को इस कुशलता से अंकित किया गया है कि दर्शक दौड़ते-तले अगुली दबाकर रह जाते हैं, मानो इन मूर्तियों का निर्माण मानव-शिल्पियों ने नहीं, वरन् महान् प्रेमी आत्माओं ने किया होगा।

शिल्पियों की कुशलता एवं रस-सृजन-क्षमता चुम्बन आदि शृंगारिक विषयों में नहीं, अपितु सैनिकों की पत्नी और पद्मिनी विद्याई, गायत्री एवं गोतज्ञों का उल्लास आदि विषयों में भी अपूर्व रूप से प्रकट हुई है। प्रभात, मध्याह्न और सायंकाल के सूर्य की तीन मूर्तियाँ अपने भाव-सौंदर्य का आभूषण दशकों पर छोड़ती हैं। पशुओं तथा पक्षियों का चित्रण भी उत्तनी ही भावनाशालता के साथ किया गया है। हाथियों का अंकन इसका नमूना है।

मंदिर के बाहर 'संसार' नाम की एक मूर्ति है, जिसमें लौकिक जीवन से सबधित प्रत्येक वस्तु को अंकित किया गया है। प्रणय के प्रत्येक बंधन और उसकी आकांक्षा की इसमें जीवत् तथा समर्थ अभिव्यक्ति है।

वस्तुतः संपूर्ण मंदिर उस युग के स्थापितियों के इंजीनियरी-कौशल का द्योतक है। मंदिर में सौ फुट से लेकर चार सौ फुट तक की ऊँचाई के अनेक शिला-खंड लगाए गए हैं। आधुनिक क्रेनो और वाहनों के बिना इतने अत्यन्त भारी सामान वहाँ किस तरह उठाकर लाए गए तथा दीवारों में जोड़े गए, यह कल्पनाशील और बिस्मय से पूर्ण है।

आकार, श्रम, शिल्प और कला—सभी दृष्टियों से कोणार्क महान है। कला ही इसे काल के क्रूर और कठोर प्रहारों के बावजूद आज तक अमर बनाए हुई है।

कोणार्क पुरी से ५४ मील और भुवनेश्वर से ४४ मील की दूरी पर है। मंदिर से ग्राम ४ मील पर है। यहाँ ठहरने की सुविधा नहीं है। अतः यात्री उसी दिन पुरी या भुवनेश्वर चले आते हैं। भारत-सरकार के पर्यटन-विभाग की ओर से एक सुन्दर विश्रामालय बनवाया गया है। इसमें ठहरने और भोजन, दोनों की सुव्यवस्था है, पर इसका व्यय इतना अधिक पड़ता है कि सपन्न यात्रियों को छोड़कर शेष इसका उपयोग करने में असमर्थ होते हैं। इस मंदिर से समुद्र-तट एक मील दूर है।¹

(२) खजुराहो—खजुराहो या खजरहा मध्य-भारत के छत्तरपुर जिले में एक छोटा-सा गाँव है, जो पन्ना-छत्तरपुर-मार्ग से ७ मील दूर उत्तर की ओर स्थित है। एक हजार वर्ष पूर्व यह एक विस्तृत नगर था। इसका एक द्वार दो खजूर-वृक्षों से अलंकृत होने के कारण यह खजुराहो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नगरी में कुल मिलाकर ८५ मंदिरों का निर्माण हुआ था, जिनमें अब लगभग २५ मंदिर बच गए हैं। आठ मील के क्षेत्र में फैले खजुराहो के मंदानों में, खेतों में, खलिहानों में, कुओं, बावलियों एवं मकानों में अनगिनत मूर्तियाँ सुरक्षा के अभाव में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

खजुराहो के मंदिरों का निर्माण-काल दसवीं और ग्यारहवीं सदी है। उस समय च्चेल-वशवालों का वहाँ प्रभुत्व था। भारतीय इतिहास में यह उत्तर-मध्यकाल कहा जाता है। इसको हम यदि मंदिर-युग कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग में कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, आबू, हालोविद, तंजोर, प्रभास-पट्टनम, गिरनार, शत्रुजय, भेडाघाट, अमरकंटक, ग्वालियर, उदयपुर आदि स्थानों में भी भिन्न-भिन्न शैलियों के मंदिरों का बड़ी संख्या में निर्माण-कार्य प्रारंभ हुआ। खजुराहो की मंदिर-निर्माण-शैली उत्कृष्ट और अनुपम है। ये मंदिर शिखर-शैली के अनूठे और विशुद्ध नमूने हैं। यहाँ के मंदिर विशाल होने पर भी बहुत कलात्मक बने हैं। इनकी शैली उत्तर भारतीय ङंग की, पर विकसित रूप में है। मदन-निर्माण-कला की दृष्टि से यह अद्वितीय है। प्रत्येक

1. मंदिरों में निम्नलिखित शैली ('संस्कृति', अमरकंटक, १९६७) :- सुशोभा खजुरा

मंदिर काफी ऊँची कुर्सी पर स्थित है और उसका बाहरी भाग उमरी हुई नक्काशी से अनकृत है। अकले कषारिया मंदिर में ही ५६० के स्थाभग चित्रकारिया हैं।

हिन्दू, जैन और बौद्ध—तीनों धर्मों के मंदिरों का निर्माण खजुराहो में हुआ। च्चदेल-वशी राजे शिव थे और उनकी कुलदेवी मनिया थी। स्वभावतः यहाँ शैव और शाक्त संप्रदायों की कृतियों की अधिकता और प्रमुखता थी। अद्ध-मंडप, मडप, महामंडप, अतराल, विमान, गर्भगृह और शिखर—इन मंदिरों का शैली-वैशिष्ट्य है। कंठघरिया महादेव का मंदिर इन सब मंदिरों में मुख्य है। यह खजुराहो का सबसे विशाल और सबसे सुन्दर मंदिर है और पचायत-शैली पर बना है। जमीन से ११६ फुट ऊँचा उठकर जिस सुदृढ़ता से यह खड़ा है, बहु देखते ही बनता है। कारीगरो ने इसकी विनाल विस्तृत कुर्सी के नीचे भारी-भारी चबूतरे देकर इसकी शान और भी बढ़ा दी है। इसके क्रम से छंटे होते गए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य मालूम पड़ते हैं। इस कला में कलास-पर्वत की अभिव्यक्ति होती है। प्रक्षिणा-पथ में सुन्दर-सुन्दर स्तम्भ हैं तथा चारों तरफ भव्य ऊँचे झरोखे बने हैं। मंदिर का चप्पा-चप्पा अलंकारिक अभिप्रायो से परिपूरित मूर्तियों से ढका है। पूरे मंदिर की लंबाई १०३ फुट और चौड़ाई ६७ फुट है।

लक्ष्मण वर्मन द्वारा निर्मित लक्ष्मण-मंदिर दूसरा प्रमुख स्थान रखता है। यह विष्णु को समर्पित है। राजा लक्ष्मण सेन ने कन्नोज के राजा देवपाल से विष्णु भगवान की प्रतिमा प्राप्त करके इसमें प्रतिष्ठित कराई थी।

मातंगेश्वर महादेव का मंदिर पवित्रतम माना जाता है। इसका निर्माण ग्यारहवीं सदी में हुआ था। तब से आज तक यह उसी प्रकार पुण्य और पूज्य है। आठ फुट ऊँचा और ३ फुट ८ इंच गोला शिवलिंग चमकीला और ओपदार है। चित्रपुत या भरत जो का मंदिर उतना ऊँचा और विशाल नहीं है, फिर भी शोभनीय है। भगवान सूर्य की पाँच फुट ऊँची प्रतिमा इसमें प्रतिष्ठित है। भगवान सूर्य सप्ताश्व-रथ पर सवार है और उनके पैरों में बड़े तथा ऊँचे जूते हैं। इसी तरह अल्मोड़ा के पास कठारमल में भी भगवान सूर्य ऊँचे जूते पहने दिखाए गए हैं।

विश्वनाथ-मंदिर का नंदी-मंडप अनुपम है। ३१ × ३१ वर्गफुट के विस्तृत मंडप में स्थित चमकीले ओपदार सजीव नंदी के दर्शन कर आँखें वही उलझी

रह जाती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि नदी महाराज अपने स्वामी विश्वनाथ के चरणों में सात और भाव-विभोर होकर बैठे हैं। इस प्रतिमा की ऊँचाई ६ फुट, और लंबाई सबा सात फुट है। इसमें भी अधिक कौतूहल और आश्चर्य की वस्तु है वहाँ स्थित वराह-प्रतिमा। यह भी एक ही पत्थर के खड से निर्मित है। इसकी माप २० १' X १६' है। उन्नत-प्रोव वराह के शरीर-भर में देवताओं की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं। हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का भक्षण कर लिया था और पृथ्वी के उद्धार के लिए विष्णु भगवान ने वराह का रूप धारण कर हिरण्याक्ष का वध किया था—वहो दृश्य यहाँ दर्शाया गया है।

छह पलंग दूर गाँव की दूसरी ओर जैन-मंदिरों का समूह है। इनमें आदिनाथ, पार्श्वनाथ और शातिनाथ के मंदिर मुख्य हैं। १५ फुट ऊँची शातिनाथ की मूर्ति की ध्यानस्थ अवस्था अतीव शांति प्रदान करती है। आदिनाथ और पार्श्वनाथ के मंदिर हिन्दू-शैली से मिलते-जुलते हैं। इनके बाह्य भाग भी उभरी हुई नक्काशी और सुन्दर मूर्तियों से भरे हैं। इन मूर्तियों में बलसातो अभिमा इतनी अतिरजित है कि वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता, पर उसमें आसक्तता छू तक नहीं गई है।

जैन-मंदिरों में अवलोकित मूर्तियों का कोई स्थान नहीं है, जबकि हिंदू-मंदिरों में उनकी भरमार है, क्योंकि तांत्रिकों का प्रभाव हिंदू-मंदिरों के निर्माण पर पड़ा था। इन तांत्रिकों ने अपने कुत्सित कर्मों को धर्म की आड़ में प्रथय देकर शिव और शक्ति के सभोग से ससार की उत्पत्ति के सिद्धान्त का जिस बीभत्स रूप में प्रदर्शन किया, उसमें आध्यात्मिक विचारवाले पुरुषों को क्या स्थिति रहेगी ?^१

(३) एलोरा—एलोरा पहले निजाम के हैदराबाद, राज्य में था, किंतु उसके भारत में विलीन हो जाने के पश्चात् अब यह महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले के अंतर्गत है। एलोरा जाने के लिए मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई रेल-गंय के मनमद रेलवे स्टेशन पर उतरना पड़ता है। यहाँ से छोटी लाइन द्वारा, जो सिकंदराबाद तक जाती है, औरंगाबाद तक जाना होता है। यहाँ से बस द्वारा बारुन, जो एलोरा का स्थानीय नाम है, जाना पड़ता है। मार्ग में दोलताबाद का किला पहाड के ऊपर दोख पड़ता है।

१. मंदिरों का समूह एलोरा नगर ('बम्बई', जुलाई, १९५३) : राजमन्दीर

एलोरा में आठवीं सदी में कैलास-मंदिर का निर्माण हुआ था, जो पूरा-का-पूरा पर्वत काटकर बनाया गया था। मंदिर का आँगन २६० फुट लंबा और १६० फुट चौड़ा है। इस आँगन के बीचोबीच एकलिंग देवालय है, जो ९६ फुट ऊँचा है। इसके आगे १६ खम्भों पर स्थित एक मंडप है। इसी के सामने एक पृथक् नदी-मंडप है, जो कम सुन्दर नहीं है। शिव की लीलाओं तथा विविध अवतारों की मूर्तियाँ, जो मंदिर के भीतर विद्यमान हैं, कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सबसे आकर्षक और महान यही गुफा-मंदिर है। इसके अलावा कतिपय हिंदू, जैन और बौद्धगुफा-मंदिर हैं।

एलोरा की गुफाओं की संख्या ३४ है। इनके पास पक्की सड़क बनाई गई है। पहाड़ पर एक बँगला बना है। नीचे ठहरने के लिए छोटी-छोटी गुमटियाँ बनाई गई हैं। सड़क पहाड़ पर स्थित बँगले तक गई है। यहाँ के दर्शनीय गुफा-मंदिर को देखने के लिए दूर-दूर से देश-विदेश के यात्री आते हैं। इन ३४ गुफाओं में एक से लेकर दस तक बौद्धों के अधिकार में हैं। उनमें बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवताओं की विशाल मूर्तियाँ हैं। ११ से २८ तक सनातन वैदिक धर्मावलंबियों के इष्टदेवों के मंदिर तथा मूर्तियाँ एवं गुफाएँ हैं। २९ से ३४ तक की गुफाओं में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। इन सबमें महान कैलास-मंदिर-गुफा है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। ये गुफाएँ पहाड़ काट-काटकर कितनी कठिनाई, परिश्रम और व्यय से बनाई गई होंगी, इसका अंदाज लगाना आसान नहीं है। पर आज, जन-शून्यता के कारण यहाँ भयकरता घोर रूप में निवास करती है। अकेले-दुकेले मनुष्य को इसमें घुसने ही भय आकात कर लेता है। इसके कुछ प्रमुख गुफा-मंदिरों का वर्णन इस प्रकार है—

(१) जगन्नाथ-गुफा—इसके प्रवेश-द्वार पर प्रायः तीन हाथ लंबी श्रीजगन्नाथ की ध्यानस्थ मूर्ति है। गुफा के भीतर दो घर हैं। भीतरवाले घर में १२ खम्भे हैं और नाना प्रकार की मूर्तियाँ हैं। इसका प्रवेश-द्वार ३ फुट ऊँचा है।

(२) आदिनाथ-गुफा—गुफा के ऊपर श्री लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति है और भीतर तीन हाथ ऊँची तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति है।

(३) इन्द्रसभा-गुफा—इसके भीतर और भी कई गुफाएँ हैं। यह बहुत सुन्दर गुफा है। यह गुफा पहाड़ काटकर मंदिर के रूप में बनाई गई है। बीच के विशाल पर भगवान् विष्णु की मूर्ति है। अर्धचंद्राकार एक हाथी और

तपस्वियों की मूर्तियाँ हैं। थोड़ी दूर पर ऐरावत हाथी की मूर्ति के ऊपर इन्द्र की मूर्ति है और उसके पास सिंह पर बैठी चार सखियों से युक्त इन्द्राणी हैं। इन्द्राणी की गोद में एक बालक है। इसमें १२ खमे हैं।

(४) परशुराम-गुफा—यह अतीव मनोहर है।

(५) कैलास या नीलकण्ठेश्वर-गुफा—इसमें प्रवेश-द्वार पर नंदीश्वर की मूर्ति और भीतर एक विशाल शिवलिंग है। इसके अतिरिक्त इसमें कालिकेय, गणेश, सरस्वती प्रभृति देव-देवियों की भव्य मूर्तियाँ हैं।

(६) श्री रामेश्वर-गुफा—इसके द्वार पर भी नदीश्वर-मूर्ति है। मूर्ति की बगल में एक जलपूर्ण कुंड है और भीतर गुफा में शिवलिंग है। इस गुफा के भीतर और भी आश्चर्यप्रद मूर्तियाँ हैं।

(७) जनबास-गुफा—इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वराहदेव और कुम्भकरण की एक भयंकर मूर्ति है।

(८) दशावतार-गुफा—इस गुफा में दशावतारों की लीला तथा गणेश, पार्वती, सूर्य आदि अनेक देवों की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्य में और ठीक स्थान पर होने के कारण हिन्दुओं के गुफा-मंदिर सबसे प्राचीन हैं। अनंतर बौद्ध और जैन-धर्मावलंबियों ने स्पर्द्धाविश अपने मंदिर बनाए थे। यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती है कि इन ३४ गुफा-मंदिरों में सबसे महान कैलास-मंदिर है और वह प्रायः मध्य में स्थित है। जहाँ-जहाँ जो जैन-मंदिर हैं, वे कला और सौंदर्य के दृष्टान्त नमूने हैं, किन्तु एलोरा के जैन-गुफा-मंदिर हिन्दू और बौद्ध-गुफा-मंदिरों की तुलना में अपेक्षाकृत साधारण हैं। ज्ञात होता है कि किसी समय यह स्थान कोई महत्त्व रखता था, जिसके कारण हिन्दू-मंदिरों के निर्माण के बाद बौद्धों और जैनियों ने भी यहाँ अपने-अपने गुफा-मंदिर बनवाए।

पास ही लगभग एक मील दूर श्री घुरमेश्वर ज्योतिर्लिंग तीर्थ है। यहाँ इनकी धूम्रेश्वर जी कहते हैं। किन्तु कथानक से ज्ञात होता है कि इनका शुद्ध नाम घुरमेश्वर जी है। भगवान घुरमेश्वर जी का मंदिर पत्थर का बहुत सुदृढ़ बना हुआ है। यह रानी अहल्याबाई की सुकीर्ति है। मंदिर बस्ती से बाहर है और चारों ओर सामान्य जंगल-सा है। मंदिर की बनावट सुन्दर है। सभा-मंडप में गन्ध पर कच्छप-मूर्ति है। भगवान घुरमेश्वर जी की मूर्ति एक हाथ से कुछ अधिक ऊँची है।

(४) बिलवारा—अहमदाबाद-दिल्ली रेल-मार्ग पर आबू रोड है। वहाँ से लगभग १८ मील दूर पहाड़ पर माउण्ट आबू नामक पहाड़ी नगर है। नगर सुन्दर, स्वच्छ और दर्शनीय है। यहाँ से सूर्यास्त का दर्शन बड़ा ही मनोहर होता है। इस दृश्य के अवलोकन हेतु दूर-दूर से लोग यहाँ आते हैं। लेकिन, यहाँ आकर एक जगत्प्रसिद्ध जैन-मंदिर देखन का प्रलोभन नहीं रोक सकते।

माउण्ट आबू से डेढ़ मील पर दिलवारा गाँव है। यही पर वह जगत्प्रसिद्ध जैन-मंदिर है। इस मंदिर की कारीगरी को देखकर मन विस्मय विभोर हो उठता है। ताजमहल को छोड़कर भारत में अन्यत्र पूरा सगमरमर का बना कोई भवन या मंदिर कारीगरी में इस मंदिर की स्पर्द्धा नहीं कर सकता। यहाँ की सगमरमर पर की गई पक्कीकारी अद्भुत है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि किस तरह इतने ऊँचे पहाड़ पर पत्थर के विशाल भारी-भरकम टुकड़े पहुँचाए गए! अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इस मंदिर के निर्माण में कितनी धन-राशि का व्यय किया गया होगा। किसी भी संप्रदाय के लोग बेरोक-टोक इस मंदिर के भीतर जाकर दर्शन कर सकते हैं।

बिमलसाह-जिनालय में तीर्थंकर आदिनाथ की अत्यन्त भव्य मूर्ति है। मूर्ति की आँखों की पुतलियाँ जवाहरात की हैं और गले में बहुमूल्य रत्नों का हार है। मंदिर के ठीक सामने एक बड़ा सभा-मंडप है। इसके खंभों पर सुन्दर कारीगरी तथा पक्कीकारी की गई है। मानो कठोर पत्थर को भी मोम की भाँति मुलायम बनाकर बारीक काम किए गए हैं। इन कामों को मंत्रमुग्ध होकर देखनेवाले दर्शकों का घटो का समय कब बीत गया, पता नहीं चलता। वास्तव में भारत की स्थापत्य-कला का यह एक अनोखा नमूना है। इस मंदिर के चारों तरफ बावन छोटे-छोटे मंदिर हैं, जो एक समान दिखते हैं। भिन्नता केवल मूर्ति की पालथी के निचले भाग से प्रकट होती है। एक हाथी है, जिसमें प्रस्तर की दस हाथी-मूर्तियाँ हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन कारीगरी में कितना अंतर है, यह दीवारों पर जगह-जगह की गई मरम्मत से स्पष्ट हो जाता है, मानो नए कपड़े में पुराना पेबड़ लगा दिया गया हो। बड़े मंदिर के बनवाने में छप्पन लाख रुपए खर्च हुए थे।

यहाँ का दूसरा प्रसिद्ध मंदिर श्री नेमिनाथ भगवान का है। इस मंदिर में देवरानी और जेठानी के 'गाँव' बहुत प्रसिद्ध हैं। सिर्फ इसी की कारीगरी में सवा लाख

रूप खर्च हुए थे। इसका कला-शिल्प उच्च कोटि का है, जिसकी प्रशंसा विदेशी यात्री भी खूब करते हैं।

(५) रामेश्वरम्—रामेश्वरम् भारत के अंतिम छोर समुद्र के दक्षिण-पूर्व तट पर है। मद्रास से गाड़ी सोघे रामेश्वरम् जाती है। भगवान शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में ग्यारहवाँ ज्योतिर्लिंग रामेश्वरम् में स्थापित है। यह मद्रास से दक्षिण ४१८ मील की दूरी पर है।

यहाँ का शिव-मंदिर विशाल है। मंदिर के चारों ओर एक ऊँचा परकोटा है। इसमें गोपुर (प्रवेश-द्वार) बने हुए हैं। इन गोपुरों पर कलात्मक मूर्तियाँ बनी हुई हैं। पूर्व का गोपुर सबसे उत्कृष्ट और १२९ फुट ऊँचा है। मुख्य मंदिर का घेरा १,००० फुट लंबा, ६०० फुट चौड़ा और १०० फुट ऊँचा है।

मंदिर की परिक्रमा के लिए चारों ओर विशाल बरामदा है। इसके दालानों में चालीस-चालीस फुट ऊँचे खंभे लगे हैं, जो पर्यर के एक ही टुकड़े के बने हैं। इन खंभों पर रंग-विरंग के देवताओं और जानवरों के चित्र बने हैं। इसके बरामदे की लंबाई ससार में अपनी बराबरी नहीं रखती। इस मंदिर के सम्मुख एक स्वर्ण-मंडित खम्भा है और उसके पास ही सोने में अलंकृत सफेद पत्थर का नदी है। यह एक विशाल मूर्ति है, जो ८ फुट लंबी, ९ फुट चौड़ी और १३ फुट ऊँची है।

स्वयं रामेश्वर की मूर्ति एक बहुत सुन्दर स्फटिक लिंग के रूप में है। यह स्फटिक धूप-पारदर्शी भी है। हिन्दुओं का महान तीर्थस्थान होने के अतिरिक्त यह भारतीय स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(६) जैसलमेर—दसवीं सदी में यवनो के आक्रमण से यदि उत्तर-भारत का कोई राज्य विनष्ट नहीं हुआ, तो वह जैसलमेर था। यह जैसलमेर के साहसी एवं वीर निवासियों के दृढ़ सकल्प का ही परिणाम था कि वे विदेशियों के चंगुल में विमुक्त रहे। फलस्वरूप वहाँ की प्राचीन संस्कृति और कला अक्षुण्ण रह गई। यह नगर जैन-मंदिरों और जैन-संप्रदाय का केन्द्र रहा है। यहाँ के जैन-ग्रंथ तालपत्रों पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में लिखे गए थे, जो संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

अपनी शिल्प-कला के लिए जैसलमेर प्रसिद्ध है। जैन-मंदिरों, राजभवनों, नगर की हवेलियों तथा किलों में पत्थरों पर जो बारीक कारीगरी की गई है, वह इतने ऊँचे दर्जे की है कि उसने भारत की कला-कृतियों में चार चाँद लगा

दिया है। यहाँ के पत्थरों पर की गई उत्कृष्ट खुदाई का सागोपाग वर्णन 'इंडियन ऐण्टिक्वेरी' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक में किया गया है। जैन-मंदिरों के तोरणों, स्तंभों, प्रवेश-द्वार आदि पर लगे पत्थरों पर जो बारीक खुदाई पंद्रहवीं सदी में की गई थी, वह अद्वितीय है और उसकी प्रशंसा जितनी की जाए, थोड़ी ही होगी। इस कला में सोदर्य के साथ-साथ गाम्भीर्य का भी यथेष्ट मात्रा में मिश्रण है। इसी कारण एक मंदिर में एक हजार मूर्तियों के रहते हुए भी दृश्य में सघनता अथवा अव्यवस्था नहीं मालूम पड़ती। जांबा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों में, जिनका संबंध भारत के साथ अति प्राचीन है, पुरातन भारतीय शिल्प-कला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं, वे जैसलमेर की शिल्प-कला के साथ सादृश्य रखते हैं।

जैसलमेर से चार मील दूर अमर सागर के मंदिर के मकरानी-पत्थर पर निर्मित जालियाँ शिल्पकला की दृष्टि से श्लाघनीय हैं। यहाँ से दस मील दूर लाडवा नगर में प्राचीन भारत का विश्वविद्यालय था। यहाँ शिव-पार्वती के ८०० वर्ष पुराने मंदिर हैं, जिनकी बनावट भव्य एवं विलक्षण भी है। इनमें तोरण-शैली का व्यवहार प्रचुरता के साथ किया गया है। यहाँ मेहराव दीख नहीं पड़ते। मंडप की छत पद्मों में विभाजित है। विभिन्न मुद्राओं में निर्मित मूर्तियाँ मानव-जीवन की उच्चतम प्रेम-भावना को प्रकट करती हैं। खोबीस तीर्थंकरों की जीवन-गाथा उनकी प्रतिमाओं की विभिन्न मुद्राओं में पढ़ी जा सकती है। यहाँ के स्तंभों, छतों एवं शिखरों के एक-एक पत्थर छोटे-छोटे मंदिरों के दृश्य उपस्थित करते हैं। मंदिर का भाग होने पर भी यहाँ के तोरण अपने-आप में एक पूरा इमारत हैं। यहाँ के भवन सुन्दर होते हुए भी इतने मजबूत हैं कि ८०० वर्ष पुराने होने पर भी ये अच्छी स्थिति में हैं।

यहाँ का किला सन् १२१२ वि० में निर्मित हुआ था। उसमें एक हजार गृह बने हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इस विशाल मरु-प्रदेश में, जहाँ पानी तथा आवागमन के साधनों की बड़ी कठिनाई है, स्थापत्य-कला का इतना उत्कृष्ट नमूना क्योंकर निर्मित हो सका। आज के भारतीयों के लिए यह अच्छा उदाहरण है कि संघर्ष तथा अभाव के बीच में भी रहकर मनुष्य परिश्रम के द्वारा ऊँची-से-ऊँची चीज प्राप्त कर सकता है। जैसलमेर ने स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भारत का गौरव कितना बढ़ाया, यह देश-विदेश के पर्यटकों के मुख से उसकी उत्कृष्टता की प्रशंसा से ही मालूम पड़ता है।

जैसलमेर राजस्थान के उत्तर-पश्चिमो छोर पर स्थित है। पाकिस्तान की सीमा इससे मिलती है। पश्चिमो रेलवे के पोकारन स्टेशन से यह ५० मील दूर है।

(७) बोधगया—बोधगया बौद्धों का सबसे महान तीर्थ है। यही पर सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। बोधगया गया में १० कि० मो० पश्चिम है। यहाँ का बुद्ध-मंदिर अति प्राचीन है। इसमें भगवान बुद्ध की एक भव्य मूर्ति है। विशाल काले पत्थर के एक टुकड़े को तराश-तराश कर भगवान बुद्ध के रूप में उसे परिणत कर दिया गया है। उस दिन जो पत्थर काल के अंतराल में छिपा पड़ा था, उसे भारतीय कारीगरों ने अपने कुशल हाथों से एक पवित्र मूर्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसके श्रद्धापूर्ण दर्शन के लिए क्या दूर और क्या नजदोक, सभी जगहों से यात्री नित्य आया करते हैं, और उस स्थान का गौरव बढ़ा रहे हैं। किसी तीर्थ की महत्ता वहाँ पर बने मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति के कलात्मक स्पर्श से कई गुनी बढ़ जाती हैं। बोधगया का मंदिर तथा उसमें बुद्ध की मूर्ति भारतीय स्थापत्य-कला का एक नमूना-मात्र है, परंतु उसमें बौद्धसत्त्व की भावना इतनी अधिक है कि वहाँ पर दर्शनार्थियों एवं पर्यटकों की नित्य भीड़ लगी रहती है।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-बैदिकाओ (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्र उल्लेख्य हैं। इस पवित्र और प्रसिद्ध मंदिर में सूर्य का चित्र है, जो बार्मिक साहस्युत का परिचायक है। सूर्य का रथ चार घोड़ों द्वारा खोला रहा है। रथ एक पहिए का है। रथ पर बैठे सूर्य के पीछे एक चक्र-सी चीज उत्कीर्ण है। सूर्य के दोनों ओर एक-एक नारी-मूर्ति धनुष-बाण लिए हुई हैं, जो उषा और प्रत्युषा हैं। कुछ घायल इधर-उधर पड़े हैं। सूर्य के द्वारा अधिकार की शक्तियों के नाश का यह दृश्य है। घोड़ों की उठती टापी तथा मुद्रा से अबिराम गति, स्फूर्ति और शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तथा घायलों के द्वारा अधिकार पर प्रकाश की विजय प्रतिपादित होती है। उत्तर-भारत की अधिकांश सूर्य-मूर्तियों में धर से ठेढ़ने तक पीतादार बूट और कमर में अव्यङ्ग पड़ा है। यही बराहमिहिर द्वारा उल्लिखित उद्दीच्य-वेश है। यह पहनावा निश्चित ही ईरानी है। शक-कुषाण लोगों ने इस पहनावे का प्रचार भारत में किया। अभिव्य-पुराण से भी यही पुष्टि होती है कि शक-स्थान में विश्वकर्मा ने सूर्य की मूर्ति बनाई।

दक्षिण-भारत में सूर्य-मूर्ति-विज्ञान की एक अलग परंपरा है। बोधगया की मूर्ति भी उद्दीच्य-वेश में नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी पहनावे

में सज्जित सूर्य की मूर्ति बनाने के पहले ही भारत में अपनी एक खास परंपरा थी। बोधगया की सूर्य-मूर्ति में जुने चार छोड़े चार युग्मों का संकेत करते हैं। चार छोड़ों का रथ शक और यूनानी परंपरा में है, पर इस सादृश्य के अतिरिक्त भारतीय और विदेशी उदाहरणों में कोई मेल नहीं है। रथ का पहिया एक है, जिससे एक वर्ष का बोध होता है। " इस प्रकार मौर्य-कालीन पाटलिपुत्र की सूर्य-मूर्ति और गुप्त कालीन बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण सूर्य-मूर्ति उद्दीच्य-वेशधारी सूर्य-मूर्ति की विदेशी परंपरा से भिन्न और प्राचीन है। जान पड़ता है कि प्राचीनकालीन सूर्य-मूर्तियाँ भारतीय परंपरा के अनुसार बनाई गईं और बाद में ईरानी परंपरा के अनुसार, जब उत्तर-भारत में उसका बोलबाला हुआ। फिर भी दक्षिण-भारत में विगुद्ध भारतीय परंपरा ही जीवित रही।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-वेदिका के स्तंभों पर वृत्ताकार पद्म-सदृश कमलों पर राशियों की मूर्तिमान आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें मेष, वृष, मिथुन, कर्क, शिशिक, म्रनु, मकर, कुम्भ और मीन सहज ही पहचाने जा सकते हैं। प्राचीन पाषाण रेलिंग पर तुला, सिंह, कन्या, वृष और मकर स्पष्ट हैं। कन्या के लिए फूलों की माला पहने, पुष्प-मुकुट-युक्त कुमारी बाला का चित्र अत्यन्त आकर्षक है। एक मसनद के सहारे बैठे व्यापारी से तुला राशि का ज्ञान होता है। भृगु-शरीर वाले धनुर्धर से धनु-राशि का बोध होता है। स्त्री तथा पुरुष के प्रणयपूर्ण व्यवहार से मिथुन राशि की भावना व्यक्त की गई है। प्रकृति और मानव को एक ही सौहार्दपूर्ण भावना से देखना भारतीय कला की आध्यात्मिकता और महती उदारता का ज्वलन्त प्रमाण है। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण चित्रों से भी इन्हीं विशिष्ट गुणों की प्रति होती है। मिथुन राशि का बोध सिंह और सिंहिनी के प्रेमालाप के चित्र से किया गया है। सत्ताईस नक्षत्रों का भी चित्रण हुआ है। प्राचीन पाषाण वेष्टन-वेदिका पर अश्व और मृग के चित्र उत्कीर्ण हैं। इसी पर बौद्ध-देवी श्रीमाँ का भी चित्र उत्कीर्ण है। श्रीमाँ-देवता के पंर एक-दूसरे से सटे हैं। छुटने जमीन से कुछ ऊपर हैं। उसके बाये हाथ में कमल की खिलती कली है। इसी प्रकार हाथियों से अभिषिक्त देवी की मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं, जो गज-लक्ष्मी के प्रतिरूप-सी हैं। हिन्दू-लक्ष्मी की मूर्ति की कल्पना बौद्धों की श्रीमाँ देवता से हुई थी।"

1. भारतीय कला की बिहार की देन : डॉ० विन्सेश्वरी प्रसाद सिन्हा,
पृ० ८१—८३

(८) **श्रवणवेलगोल**—दक्षिण-मध्य रेलवे की बंगलोर-हरिहर-पूना लाइन पर आरसीकेरे स्टेशन से ४२ मील, मंसूर से ६२ मील और बंगलोर से १०२ मील तथा हासन से ३१ मील दूर श्रवणवेलगोल है। इन सब स्थानों से बसे जा जाती हैं। यहाँ अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने मरण-समाधि ली थी। यहाँ एक घरे के भीतर श्री भद्रबाहु जी की विशाल मूर्ति है। यह सत्ताईस फुट ऊँची दिगम्बर मूर्ति विश्व की सबसे बड़ी मूर्ति है। मूर्ति पर्वत-भिन्नर को काटकर बहुत सुडौल बनाई गई है। इस भव्य मूर्ति का निर्माण चामुण्ड राय नामक राजा ने कराया था।

यह स्था-दिम्बर त्रैलोक्य गोधमट-नीय है। अन्य मूर्तियों के अलावा यहाँ तीन तीर्थकरो—आदिनाथ, शान्तिनाथ तथा नेमिनाथ—की मूर्तियाँ हैं।

(९) **मीनाक्षी देवी**—मदुरा दक्षिण-भारत (तमिल-प्रदेश) के नगरी में एक है। यह मद्रास-गोमेस्वरम रेल-पथ पर स्थित है। यह मंदिर अपनी निर्माण-कला की भव्यता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है।

गौरु में प्रवेश करने पर पहले एक मंडप मिलता है, जिसमें फल-फूल की दुकानें रहती हैं। उसे नगर-मंडप कहते हैं। उसके आगे अष्ट-शक्ति मंडप है। इसमें स्तम्भों के स्थान पर लक्ष्मी की आठ मूर्तियाँ छत का आधार बन रही हैं। मंदिर के दाहिने सुब्रह्मण्यम् और बाएँ गणेश की मूर्तियाँ हैं। इसके आगे मीनाक्षी-नायकम् मंडप है। इस मंडप के पीछे अँधेरा मंडप मिलता है। अँधेरा मंडप के आगे स्वर्ण-पुष्करिणी सरोवर है। सरोवर के चारों ओर मंडप हैं। इन मंडपों में तीन ओर भित्तियों पर भगवान् शंकर की ६४ लीलाओं के चित्र बने हैं।

मंदिर के सम्मुख मंडप के स्तम्भों में पाँचों पाण्डवों की मूर्तियाँ (एक-एक स्तंभ में एक-एक) और सात स्तंभों में सिंह की मूर्तियाँ हैं। सरोवर के पश्चिमी भाग का मंडप कलिकुण्ड मंडप कहा जाता है। यहाँ एक अद्भुत सिंह-मूर्ति है। सिंह के मुख में एक गोला बनाया गया है। सिंह के जबड़ों में अंगुली डालकर घुमाने से यह गोला घूमता है। पथर में इस प्रकार का शिल्प-नैपुण्य देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

पाण्डव-मूर्ति मंडप को पुरुष-भृगु-मंडप कहते हैं; क्योंकि उसमें एक मूर्ति ऐसी बनी है, जिसका आधा भाग पुरुष का और आधा भृगु का है। इस मंडप

के सामने मीनाक्षी देवी के निज मंदिर का द्वार है। द्वार के दक्षिण छोटा-सा सुब्रह्मण्यम्-मंदिर है, जिसमे सुब्रह्मण्यम् तथा उनकी दोनों पत्नियों की मूर्तियाँ हैं।

कई इयोदियों को पार करने पर श्री मीनाक्षी देवी की भव्य मूर्ति है। बहुमूल्य वस्त्राभरणों से देवी का श्याम विग्रह सुभूषित रहता है। निज मंदिर के परिक्रमा-मार्ग में ज्ञान-शक्ति तथा बल-शक्ति की मूर्तियाँ हैं। मीनाक्षी-मंदिर की परिक्रमा करने के बाद सुन्दरेश्वर-मंदिर मिलता है। दोनों मंदिरों के बीच गणेश जी का मंदिर है।

सुन्दरेश्वर-मंदिर के प्रवेश-द्वार पर द्वारपाल की मूर्तियाँ हैं। सुन्दरेश्वर-मंदिर के सम्मुख पहुँचने पर पहले नटराज के दर्शन होते हैं। उन्हें कैलियम्बलम् (चाँदी से मढ़ा हुआ) कहते हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए भगवान् शिव की यह मूर्ति चिदम्बरम् के नटराज की मूर्ति से बड़ी है।

मुख छोड़कर सर्वांग चाँदी के आवरण से ढका है। चिदम्बरम् के नटराज का वाम पद ऊपर उठा है, पर यहाँ दाहिना पद।

सुन्दरेश्वर-मंदिर के सामने भी स्वर्ण-मण्डित स्तंभ है और मंदिर का शिखर भी स्वर्ण-मण्डित है। कई इयोदियों के भीतर अर्धे पर सुन्दरेश्वर सुशोभित हैं। उनके भाल पर स्वर्ण का त्रिशुण्ड है, जो अत्यधिक आकर्षक है।

मंदिर के बाहर जगमोहन में आठ स्तंभ हैं, जिन पर भगवान् शंकर की विविध लीलाओं की अत्यन्त सजीव मूर्तियाँ हैं। इसका शिल्प-नैपुण्य अद्भुत है। यही पर चार स्तंभोवाला एक मंडप है, जिसमे पत्थर की शृंखला बनाई गई है। इस शृंखला की कड़ियाँ लोहे की शृंखला के समान घूम सकती हैं। यहाँ वीरभद्र एवं अचोरभद्र की विशाल उग्र मूर्तियाँ हैं। इस मंडप में भगवान् शंकर के ऊर्ध्व नृत्य की अद्भुत कलापूर्ण विशाल मूर्ति है। ताण्डव नृत्य करते हुए शंकर का एक चरण ऊपर कान के समीप तक पहुँच गया है। पास ही काली की एक बड़ी मूर्ति है। इसी मंडप में एक ओर कारकौल अम्मा नामक शिवभक्त की मूर्ति है। नवग्रह-मंडप में नवग्रहों की मूर्तियाँ हैं। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम उत्सव-मंडप में श्री मीनाक्षी, सुन्दरेश्वर, गंगा और पार्वती की स्वर्ण-मूर्तियाँ हैं। परिक्रमा में पश्चिम की तरफ एक चन्दनमय महालिङ्ग है।

मंदिर के सम्मुख एक मंडप में नंदीमूर्ति है। यहाँ से सहस्र-स्तम्भ मंडप का मार्ग है। यह नटराज का सभा-मंडप है। इस मंडप में मनुष्याकार से भी ऊँची शिव-भक्तों और देव-देवियों की मूर्तियाँ हैं। इनमें विराग-चारिणी सरस्वती की मूर्ति बहुत कलापूर्ण और सौम्य है। इस मंडप में श्री नटराज का श्याम-विग्रह प्रतिष्ठित है। भक्त कदाण्य की भी मूर्ति है। मंदिर के पूर्व गोपुर के सामने मंडप है। इसे वसन्त-मंडप कहते हैं। इसके प्रवेश-द्वार पर धुडसवारों तथा सेवकों की मूर्तियाँ हैं। भीतर शिव-पार्वती के पाणि-ग्रहण की पूरे आकार की मूर्ति है। पास ही भगवान् विष्णु की मूर्ति है। नटराज की भी मनोहर मूर्ति है। इस प्रकार संपूर्ण मंदिर की स्थापत्य-कला अत्यन्त सूक्ष्म और आकर्षक है।

(१०) शिवखोरी—सृष्टि के आदि में गुफाओं से आदिमानव का संबंध रहा है। गुफाएँ आज भी मनुष्यों में असीम कौतूहल जगाती हैं। लेकिन पिछले दिनों उन गुफाओं की विशेष चर्चा रही है, जो जमीन के अंदर मोलों तक चली गई हैं, और जिनमें लाखों वर्ष से प्रकृति के विविध परिवर्तनों ने अजब-अजब रहस्यों की सृष्टि की है। ऐसी एक गुफा काश्मीर के जम्मू अंचल में भारत-पाक युद्ध के दिनों में बहु-चर्चित अखनूर के पास है। यह आश्चर्य-जनक गुफा शिवखोरी है, जिसके अंदर पत्थरों की विचित्र बनावटें और जल के अद्भुत इन्द्रजाल हैं।

यह पवित्र गुफा लगभग छह फीट लंबी है और इसका मुखद्वार ३० फुट चौड़ा तथा ३० फुट ऊँचा है। गुफा में घुसते ही दाईं ओर दो कुण्ड दिखाई देते हैं। ये नरक-कुण्ड और स्वर्ग-कुण्ड के नाम से विख्यात हैं। नरक-कुण्ड में प्रवेश करने पर यात्री गर्मी अनुभव करता है, पर स्वर्ग-कुण्ड में प्रवेश करने पर वह शीतल वायु के स्पर्श से आनंदित हो मग्न हो जाता है। इसमें लगभग एक फीट आगे जाने पर तीन छोटी-छोटी सीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनके निकट बहुत बड़ा गहरा गुहा है। और आगे जाने पर गुफा का दूसरा भाग आरंभ होता है। यह अति सुन्दर है। यहाँ प्राकृतिक रूप से बने देवी-देवताओं के चित्र देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। पास ही शिवालिंग स्थापित है, जिसकी ऊँचाई लगभग छह फुट है। यह लिंग १०० फुट लंबे और ८० फुट चौड़े कमरे के बेलोनीय स्थित है। हमें यहाँ से गुजरते ही सुन्दर नक्काशी की छत है, जिसमें औपनिषदिक ज्ञान के ऐतिहासिक चित्रों के जम्पने हैं।

कहीं शिवजी ताण्डव कर रहे हैं और कहीं गणेश जी विराजमान हैं। कहीं श्री कृष्ण की बाल-क्रीडा के दृश्य हैं, तो कहीं रामावतार के चित्र हैं। यह चित्रकारी और नक्काशी किसी मूर्तिकार के कुशल हाथों द्वारा किए गए कठिन श्रम को स्पष्ट हो बता रही हैं। वास्तव में ऐसा कुछ है नहीं, यह सब तो प्रकृति की कलम की करामात है। दीवार के एक तरफ गजेन्द्र के पाँव और ग्राह का मुँह हैं, जो गज-ग्राह-युद्ध की ओर इशारा करते हैं।¹

शिवलिंग के ठीक ऊपर कामधेनु का मुख है। इसके चारों स्तनों से बारी-बारी से शिवलिंग पर एक-एक बूँद दूध या जल हमेशा टपकता रहता है। कामधेनु के स्तनों के जरा ऊपर विष्णु भगवान की मूर्ति है, जिसके मुख से भी एक-एक बूँद जल शिवलिंग पर निरंतर टपकता रहता है। अनन्त काल से लिंग को स्नान कराने की दोनों क्रियाएँ होती चली आ रही है। यह दृश्य इतना प्रभावोत्पादक है कि थोड़ी ही देर के लिए सही, दर्शक का शीश स्वतः झुका से नत हो जाता है।

शिवछोरी गुफा में बाबा रामभरोसे रहते हैं। हर शिवरात्रि को यहाँ एक बड़ा मेला लगता है। पूजा यहाँ सारी रात चरती रहती है। 'जय शिव-शंकर, जय भोले बाबा' के नाद से घाटी गुँजने लगती है।²

(११) कु'भकोणम्—तमिलनाडु (मद्रास) में कु'भकोणम् एक प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ कु भेश्वर, शाङ्गपाणि, नामेश्वर, चक्राणि और रामस्वामी के मुख्य मंदिर हैं।

रामस्वामी मंदिर में श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर में श्रीराम के राज्याभिषेक-काल की अपूर्ण लीलाओं के तिरंगे चित्र दीवारों पर बने हैं। खम्भों पर विविध लीलाओं का व्यक्त करनेवाली बहुत सुन्दर एवं कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं। मंदिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है।

(१२) बेलूर—मैसूर राज्य के तीर्थों में बेलूर का एक विशिष्ट स्थान है। यह बंबई-हरिहर-पूना रेल-पथ के बाणावर स्टेशन में १८ मील दक्षिण-पश्चिम है। ह्यालोविद से बस बेलूर जाती है। यह स्थान विभिन्न स्थलों से आनेवाली बसों का केन्द्र है।

1. अविम-मुक्ता-यात्रा ('धर्मयुग', दीवाली-अंक, १९६६) : राज

2. शिवछोरी की गुफा ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान') : आशा रानी. बीन.

चैन-केशव मंदिर यहाँ का मुख्य मंदिर है। विष्णुवर्धन हायसल ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। मंदिर नक्षत्र की आकृति का है। भगवान की मूर्ति लगभग ७ फुट ऊँची और चतुर्भुज है। उनके साथ उनके दाहिने भूदेवी और बाएँ लक्ष्मी देवी और श्रीदेवी हैं।

यह मंदिर एक ऊँची दीवार के घेरे में चबूतरे पर स्थित है। यहाँ की मूर्ति-कला अद्भुत है। मंदिर की पिछली एवं बगल की भित्तियों में जो मूर्तियाँ अंकित हैं, वे सजीव-सी लगती हैं। इतनी सुन्दर मूर्तियाँ अन्यत्र कठिनाई से मिलती हैं। मंदिर के जगमोहन में बहुत बारीक खुदाई का काम है। पूरा मंदिर कला-नैपुण्य का एक श्रेष्ठ प्रतीक है।

(१३) त्रिपुरी—जबलपुर से लगभग ८ मील पश्चिम की ओर स्थित आज का तेवर नामक छोटा-सा ग्राम ईसवी-पूर्व तीसरी सदी से लेकर १३वीं सदी तक त्रिपुरी के नाम से एक प्रसिद्ध वैभवशाली नगर था। कलचुरी-वंश के राजाओं को यहाँ राजधानी थी। त्रिपुरी में हिंदू-प्रतिमाओं के साथ-साथ जैन और बौद्ध-धर्म की प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि कलचुरी राजे धर्म-सहिष्णु थे और उनके राज्य में जैन, बौद्ध तथा शैव—तीनों धर्मों का अबाध प्रचार था।

पाशुपत शैवों की वाममार्गी साधना का ज्वलंत प्रतीक यहाँ चौंसठ योगिनी का मंदिर है। इसके आगन में स्थित बौद्धनाथ-मंदिर स्थापत्य-कला का अनुपम उदाहरण है। यह मंदिर तांत्रिक प्रयोगों द्वारा बनाया गया है। चौंसठ योगिनियों की मूर्तियों के बीच बना गौरी-शंकर का मंदिर 'मत्त-मयूर' शैली का कहा जाता है। इस मंदिर के भीतर शिव-पार्वती की एक सजीव चातुस्रपूण प्रतिमा पाई जाती है। शिव और पार्वती नंदी पर सवार हैं। मूर्ति के नीचे खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि वह बटेश्वर की मूर्ति है। मूर्ति के नीचे की आकृतियों के देखने से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति नाचते हुए आनंद-विभोर मुद्रा में दिखाई दे रहे हैं। गौरी के हाथ में आरती है और वह शंकरजी की ओर निहार रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह दूल्हे के रूप में भगवान शंकर की मूर्ति है। इसमें विवाह के बाद गौरी-शंकर के लीटने का दृश्य अंकित है। बटेश्वर के आसपास तारा, हरगौरी, गणेश, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ हैं।

इस स्थान के पास ही संसार-प्रसिद्ध भेड़ाघाट जल-प्रपात है। भेड़ाघाट जल-प्रपात में कलकल मिनादिवी नर्माक्ष लगभग २५ फुट की ऊँचाई से गिरकर अपने

निर्मल अक्ष को धवल दुग्ध में परिणत कर देती है। आगे चलने पर बंदरकुदनी का अनुपम दृश्य मानव को अलौकिक आनंद प्रदान करता है। बंदरकुदनी में पुण्य-सलिला, प्रेम-प्रसविनी नर्मदा के दोनों तटों पर संगमरमर की भीमकाय बहुरंगी चट्टानें बड़ा सुन्दर प्रतीत होती है। श्वेत संगमरमर पर सूर्य की सप्तरंगी किरणें चाँदी में परिणत हो जाती हैं और रेवा का गहरा नील जल बन जाता है। इसमें नृत्य करती हुई लोल लहर सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की अनुपम भाँकी प्रस्तुत करती हैं। कितने ही महामुनियों और ऋषियों के आश्रम यहाँ विद्यमान हैं।

(१४) एकलिंग—उदयपुर में उत्तर १४ मील की दूरी पर विद्यमान एकलिंग का शिवालय, मेवाड़ का ही नहीं, समूचे भारत के प्रमुख देवस्थानों में है। यह स्थान पहले मेवाड़ की प्राचीन राजधानी नागदा की सीमा में था। नागदा के सास-बहू के मंदिर की अद्भुत शिल्पकला को देखकर पर्यटक का चित्त चकित हो उठता है।

शिल्प-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान महाराणा कुंभकरण (कुंभा) के समय में एकलिंग जी के मंदिर का पुनरुद्धार हुआ। यहाँ महाराणा कुंभा का बनाया हुआ शिल्पकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक वैष्णव-मंदिर भी विद्यमान है, जो मुख्य मंदिर के पास उत्तर की ओर है और उसे मोराबाई का मंदिर कहते हैं।

एकलिंग के मंदिर से दक्षिण की ओर एक सबसे प्राचीन लकुत्तीश शिव-मंदिर है। इस मंदिर के सामने सुन्दर तोरण एक के बाद एक क्रम में बनाए गए हैं। इन मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ (नागदा) के जैन-मंदिर की भी मनोहारी शिल्पकला है।

(१५) चिदंबरम्—यह प्रसिद्ध शैव-तीर्थ मद्रास-रामेश्वरम् रेल-पथ पर स्थित है। यहाँ नटराज शिव का मंदिर ही प्रधान है। इस मंदिर का घेरा करीब सौ बीघे में है। इस मंदिर के पाँच घेरे हैं। दूसरे घेरे का गोरुर (प्रवेश-द्वार) नौ-मंजिला है। उसपर नाट्यशास्त्र के अनुसार निर्मित विविध नृत्य-मुद्राओं की मूर्तियाँ हैं।

तीसरे घेरे के द्वार पर गणेश जी का मंदिर है। गोरुर के सामने छत्तर की ओर एक मंदिर में नंदी की विद्याल मूर्ति है। इसके आगे नटराज के निम्न मंदिर का घेरा है, जो पाँचवें घेरे के अंदर है। सामने नटराज का स्वयं-मंडप है। आगे एक स्वयं-मंडप स्थित है। नटराज के सामने-मंडप के स्तंभों में सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हैं। आगे एक बाग़ के अन्तर्गत नंदी के आगे पक्षर-पक्षर

श्री नटराज का निज मंदिर है। इसके शिखर पर स्वर्ण-पत्र चढ़ा है। मंदिर में नृत्य करते हुए भगवान शंकर की बड़ी सुन्दर स्वर्ण-मूर्ति है। श्री नटराज की माँकी बहुत ही भव्य है।

श्री नटराज की दाहिनी ओर काली भित्ति में यंत्र खुदा है। वहाँ सोने की मालाएँ लटकती हैं। यह नीला शून्याकार आकाश-तत्त्व ही लिंग माना जाता है। इस स्थान पर प्रायः पर्दा पड़ा रहता है। लगभग ११ बजे दिन में अभिषेक के समय तथा रात्रि के अभिषेक के समय इनके दर्शन होते हैं। यहाँ सभुट में रखे दो शिवलिंग हैं, जिनमें एक स्फटिक का और दूसरा नीलम का है। इन दोनों प्रतिमाओं को क्रमशः चन्द्रमौलेश्वर तथा रत्न-सभापति कहते हैं। इस प्रकार का लिंग एकमात्र चिदंबरम् में ही है।

(१६) ग्वालियर—ग्वालियर मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई-मार्ग पर स्थित है। इसका प्राचीन किला एक नगरी ही है। किले के कुछ स्मारकों को पुरातत्त्व-विभाग ने काफी सुरक्षित कर रखा है। सास-बहू के दो मंदिर ऐसे ही स्मारक हैं। इन दोनों मंदिरों में फर्क यही है कि एक बड़ा है और दूसरा छोटा। स्थापत्य-कला की दृष्टि से सास-बहू के मंदिर अति सुन्दर हैं। यहाँ महाबलि-पुरम् के मंदिरों के समान रथाकृति है। प्रवेश करने की सीढ़ों से लेकर भीतर प्रत्येक स्तम्भ, दीवार और कंगूरों पर बड़ी नाजूक नक्काशी की गई है। कहीं फूलों के और कहीं देवी-देवताओं के चित्र बने हैं। साराण यह कि मंदिर का कोई भी भाग चित्रों से शून्य नहीं है।

सास-बहू के मंदिर के दक्षिण तेलिका-मंदिर है। प्राचीन भारत में आने-जाने के साधन कम थे। फिर भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता था। तेलिका मंदिर में ऐसे आदान-प्रदान के नमूने मिलते हैं। 'तेलिका' का आदि-स्रोत 'तेलिगा' है। यह नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस मंदिर का गोपुर वैसा ही है जैसा दक्षिण-भारत में पाया जाता है। इस मंदिर का आयताकार आधार, आले और ऊपरी चपटे हिस्से यह सिद्ध करते हैं कि यह मंदिर एकदम दक्षिण-भारत की शैली का है। गाँपुर काफी कलापूर्ण है।

(१७) आमेर—आमेर जयपुर की पुरानी राजधानी है। यह रमणीय भव्य स्थान चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पहाड़ियों के प्राकृतिक दृश्यों के बीच यह स्थान स्फटिक मणि-सा लगता है। विशाल चट्टानों के मुख के पास इसकी स्थिति माँ के पास बैठे भोले शिशु की-सी लगती है। एक

बार इस दृश्य को देख लेने पर आँखें इससे दूर नहीं हटतीं और बार-बार इसी दृश्य का अवलोकन करने की इच्छा बलवती हो उठती है ।

यहाँ के प्रसिद्ध मंदिर दो हैं, जो वास्तुकला के बहुत ही उत्कृष्ट नमूने हैं । इनकी नक्काशी, पच्चीकारी तथा मूर्त-कला अति प्राचीन हैं । प्रथम मंदिर का नाम अम्बिकेश्वर है, जिसमें शिव की प्रतिमा है और बाहर की ओर चौर का बहुत सुन्दर चौखटा बना हुआ है । मंदिर के बाहर जो अष्टधातु का घंटा और घंटियाँ लगी हुई हैं, उनसे सहज ही पता लग जाता है कि यहाँ के कारीगर धातु-विज्ञान में भी कितने बड़े-बड़े थे । दूसरा मंदिर जगत-शिरोमणि जी का है, जो कोई देवता प्रतीत होते हैं । इस मंदिर के ऊपर का गुंबज दो बहुत ही प्राचीन पत्थरों से तराशा हुआ है । ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि वह एक ही पत्थर का बना हुआ है । इस मंदिर की नक्काशी बहुत प्राचीन एवं श्लाघनीय है । आमेर का पूर्व-वैभव और इसकी शान का पता इन मंदिरों के देखने से ही चल जाता है ।

आमेर के महलों के भीतर की नक्काशी की बारीकी और इसके अद्भुत सौंदर्य को देखते ही टकटकी-सी लग जाती है । राजपूत-वास्तुकला-शाली से रूबिद्ध महलों में ग्वालियर के बाद इसी का स्थान है । यहाँ के महलों के जालीदार झरोखे की नक्काशी और पच्चीकारी राजपूत कालीन कारीगरी की शान है । नक्काशी और मूर्तकला की तराशी सर्वथा सजीव है । वस्तुतः यह स्थान राजस्थान की प्राचीन कला का रंगम है ।

(१८) बुन्दावन—यह भगवान् कृष्ण की लीला-स्थली है । कृष्णभक्तों का तो यह पवित्रतम तीर्थ है । यहाँ हजारों मंदिर हैं । इन्में मंदिरों की नगरी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । इन मंदिरों में से कतिपय कलापूर्ण हैं और उनमें स्थापित मूर्तियाँ दर्शकों के मन को माह लेनेवाली हैं ।

यहाँ का प्रमुख और सर्वमान्य मंदिर श्री बिहारीलाल जी का है । इस राजा मानसिंह ने विक्रम-संवत् १६४७ में बनवाया था । यह लाल पत्थर का बना है । इसकी जोड़ाई देखकर आधुनिक इञ्जीनियर भी चकित रह जाते हैं । भारत की प्राचीन स्थापत्य-कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है । यहाँ की प्राचीन पूज्य मूर्ति औरंगजेब की असहिष्णु धार्मिक नीति के कारण जयपुर भेज दी गई । तब से वह वही विराजमान है । बुन्दावन के वर्तमान दर्शनीय मंदिरों में इसका विशिष्ट स्थान है । मान-सम्मान और कला की दृष्टि से भी इसका गौरव अधिक है ।

कला की दृष्टि से दूसरा दर्शनीय मंदिर ब्राह्म विहारालास जी का है । संपूर्ण मंदिर रंगमरमर का बना है । इसकी कारीगरी बलाघनीय है । रंगमरमर के टेढ़े बलदार स्तंभे यात्रियों को बरबस आकर्षित करते हैं । दस लाख रुपए की लागत से इस मंदिर का निर्माण हुआ है ।

(१६) दशपुर की अष्टमुखी शिव मूर्ति—शैव-दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से पहली शताब्दी की मथुरा की अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति, आठवीं शताब्दी की एलिफंटा की त्रिमूर्ति और दसवीं शताब्दी की चिदम्बरम् की नटराज-मूर्ति अनुपम हैं । अर्द्धनारीश्वर और नटराज की प्रतिमाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध हैं । एकमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी और पञ्चमुखी शिवलिंग भी देखने को मिलते हैं । इसमें सदेह नहीं कि प्रतिमाएँ भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा कलात्मक समृद्धि के परम प्रमाण हैं । डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने तो त्रिमूर्ति को भारतीय सस्कृति का परम प्रतीक माना है । नटराज की प्रतिमा सर्व-स्त्रिविद शिव-तत्त्व की लीलामयी अभिव्यजना प्रतीत होती है । डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने अपने 'The Dance of Shiva' नामक ग्रंथ में इस प्रतिमा की विविध व्याख्या की है । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अर्द्धनारीश्वर की वैदिक, दार्शनिक एवं पौराणिक व्याख्याएँ हिन्दी-विश्वकोष में पर्याप्त विस्तार से प्रस्तुत की हैं । इस तरह के न जाने कितने अनुपम रत्न भारतीय वास्तुश्रृंगार के कोष हैं, इन्हें कोन अस्वीकार कर सकता है । दशपुर की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा ऐसी ही अनुपम रत्नो में एक है ।

दशपुर नगर में विजय-स्तम्भों के अतिरिक्त अभयकूप, दुर्ग-स्थित तोरण-स्तम्भ, विशाल शिवमूर्ति एवं शिवना नदी से प्राप्त अष्टमुखी शिव-प्रतिमा आदि कई ऐतिहासिक एवं पुरातन अवशेषों से यह स्पष्ट है कि यहाँ चारों ओर शैवमत का प्रबल प्रचार था । उपासकों को साधना का प्रबल प्रतीक यहाँ की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा है, जो नगर की ऐतिहासिक ख्याति देने के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक तीर्थ की श्रेणी में लाती है । काल-कराल के कितने ही ध्वेदों से अविचलित यह प्रतिमा इसे गरिमामय स्थान दिलाने की क्षमता रखती है । शिवना नदी के रम्य तट पर अवस्थित यह विशालतम देव-प्रतिमा अमूर्ती, अद्भुत एवं दर्शनीय तो है ही, वास्तुकला की भी अन्यतम धरोहर है ।

यह प्रतिमा शैवमत की प्रतिपाद्य विकसित कला एवं दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक अद्वितीय है । शिवना के विशाल पाट में यह प्रतिमा

कब से और क्यों समाधिस्थ हुई, यह कोई नहीं जानता, किन्तु समय के प्रवाह ने इस अष्टमुखी प्रतिमा की समाधि को भंग किया। सवत् १९९७ वि० में इसे नदी से निकालकर वत्तमान महादेव घाट के समीप श्री शिवदर्शन साल अप्रवाल के खेत में रखा गया, जहाँ २० वर्षों तक यह अपने उठार की प्रतीक्षा करती रही। अतोगत्वा सवत् २०१८, मिति मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी को अष्टग्रही योग के समय इस भव्य प्रतिमा की स्थापना जनता के तन-मन-धन से सहयोग से तथा स्वामी प्रत्यक्षानंद जी की प्रेरणा से संभव हुई।

संपूर्ण भारत में तो क्या, संपूर्ण विश्व में भी ऐसी भव्य मूर्ति कहीं दृष्टिगत होना असंभव है। यह प्रस्तर-प्रतिमा एक ही पाषाण-खंड द्वारा निर्मित है, जिसका वजन १२५ मन है और जिसकी ऊँचाई सवा छह फुट तथा मोटाई ११ फुट है।

शिल्प, कला एवं भावामिव्यंजना की दृष्टि से भी यह प्रतिमा अद्वितीय है। प्रतिमा एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास एवं आशंका होती है कि कहीं शिला विविध रंगों से रजित तो नहीं की गई। यह आशंका इस शिला की वर्ण-रमणीयता का स्वतः प्रमाण है। वर्ण-सौष्टव इसमें सहज है। यह सचत. सुप्रसिद्ध है कि यह मूर्ति प्रधानतः गाढ़े रक्त वर्ण की है, साथ ही श्वेत तथा श्याम धारा एवं लहरियाँ इसमें विद्यमान हैं, जो साधारण शिवलिंग में होती हैं। फलतः डॉ० तिवारी के शब्दों में इस प्रस्तर-मूर्ति में 'श्वेत-श्याम-रत्नार' वर्ण की सन्तोहारी रमणीयता है।^१ इस वर्ण-विलास में केवल कला ही नहीं, दर्शन का गाम्भीर्य भी है, जो भारतीय कला का अपना वैशिष्ट्य है। दर्शन और कला का यह अद्भुत सौंदर्य सत्यं, शिवं और सुन्दर के अपृथक्त्व की सिद्धि है, जिससे यह साबित होता है कि इसका उद्गम एक ही परम तत्त्व के परिप्रेक्ष्य से है।

“यद्यपि यह अतीव रमणीय प्रतिमा मदनमार की है, तथापि किसी भाव-धनी शिल्पी ने इतनी अनिर्वचनीय शृंगार और सत्य की समृद्धि इस शिव की शिला-शकल में संवरित की है कि यह भी संशय होने लगता है कि यह मदनमार की प्रतिमा है या मदनमोहक की।

1. शिव की अष्टमुखी मूर्ति : डॉ० रामचन्द्र तिवारी

हिन्दू-विश्व, अक्टूबर, १९६७)

सत्रमुच कार्तिक की पूर्णिमा के अवसर पर विशेषतः कमनीय वर्ण-भरण विन्यासमयी इस मूर्ति की अनोखी भाँकी देखकर महाकवि कालिदास के ये प्रश्न मचल उठते हैं—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।

शृंगारकरसः स्वयं नु भवनो मासो नु पुष्पाकरः ॥

—अर्थात् इसकी रचना प्रजापति ने की या रसरूप दाता विवु ने की या शृंगाररस-प्रधान भवन ने की या सुमन-सम्पत्तिवाले वसंत ने ?

ऐसा लगता है, मानो यह प्रतिमा शिव का, सौंदर्य-रूपी शिवा के साथ, शिलामय अवतार हो। एलिफेंटा की त्रिमूर्ति में पार्वती की रचना अलग से वाम भाग में करनी पड़ी, किन्तु यहाँ वह सुन्दरी स्वयं व्यजित है। अर्द्ध-नवरी से भी पार्वती प्रियतम के साथ एक न हो सकी। प्रियतम भी प्रियतमा के अणु-परमाणु में अर्द्धत-भाव से न आ सका। किन्तु डॉ० तिवारी का कथन है कि इस अष्टमुखीप्रतिमा में शिव और सौंदर्य का ऐसा अर्द्धत है, मानो शृंगार के व्याज से शिवा भाँकती है, जैसे मुक्ता का लावण्य भलकता है।

वैसे ही शिवा या शक्तिशृंगार-समृद्ध इस ६ फुट ऊँचे विजय-स्तम्भ के सदृश ठोस चट्टान से निर्मित शैवालिंग की कला से व्यजित होती है। ऐसी विशाल और कला तथा दर्शन की गूढ़ व्यंजनाओं से भरपूर लिंग-प्रतिमा विश्व में अन्यत्र नहीं है।

प्रतिमा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षात् ब्रह्मा भी इतनी सरसता, इतनी सजीवता तथा इतनी मोहकता व्यक्त नहीं कर सकते। ऐसा आभास होता है कि मानो यह शिला स्वयं शिव के सौंदर्य-रूप शिवा के रूप में अवतरित हुई है। चारों बदनो की निमिति द्वैत और अर्द्धत के कितने ही मधुर संबंधों को स्पष्ट करती परिलक्षित होती है।

प्रतिमा के आठ मुख द्रष्टव्य हैं—चार मुख ऊपर तथा चार उन्हीं मुखों के लगभग एक फुट नीचे। नीचे के चार मुख अस्पष्ट हैं। ऊपर के चार मुखों की आकृति, भावाभिव्यक्ति एवं केश-सज्जा भव्य एवं सुस्पष्ट हैं। विभिन्न बदन भिन्न-भिन्न मंगिमाएँ प्रदर्शित करते हैं। सर्वप्रथम पूर्व की ओर उन्मुख मुख समाधिस्थ शिव की शान्त मुद्रा का दिग्दर्शन कराता है, जिसपर मालाओं के

बध हैं तथा जटाओं की कलात्मक ग्रंथियाँ हैं, गले में सर्प सुशोभित हैं तथा अधर मोन, मुख और विचार रहित है। किन्तु तृतीय नेत्र की अधिरक्तता प्रचण्डता का स्पष्ट संकेत करती है, मानो कामदेव को अनग करने को तत्पर हो। उत्तर मुख हास्यरस का व्यञ्जक है। भग की भगिमा का विलास दोख पड़ता है। लगता है, ओधर बाधा खिलखिला रहे हैं। फूले हुए गाल, केश-सज्जा में मोटी लटें, लंब-रूप से वृत्ताकार एवं कर्ण-रंध्रों में दुबके हुए सर्प, समस्त विशेषताएँ अलङ्कार-स्वरूपा दिखाती हैं। सृष्टि के महारक शिव का रौद्ररूप हमें पश्चिमी मुख में लक्षित होता है। यह मुख पूणतः रक्तम है तथा इसका तृतीय नेत्र अन्य मुखों के नेत्रों की अपेक्षा अधिक उभरा है। केश-सज्जा विषधरो की हल-चन द्वारा दर्शायी गई है। केवल इस मुख में केशों के मध्य 'ओम्' है, जिसके दोनों ओर दो सर्प अंकित हैं। सृष्टि के सहार के उग्रात परमतत्त्व का दिग्दर्शन ओम् से होता है। आशुताप की रम्य एवं मनोहारी भाव-भंगिमाओं की अभिव्यक्ति दक्षिण मुख से होती है। शक्ति को समाहित किए शिव की केश-सज्जा अत्यंत सुन्दर बनी है, जिसे द्वितीया के चाँद से सुशोभित किया गया है। विषधर रहित यह मुख विजुरी षोडशी कला का सुन्दरतम स्वरूप लिए है। शृ गार-रस का पूर्ण परिपाक है, जो मानव-मन को मोह लेता है। इस प्रकार प्रत्येक मुख जीवन के चार परम तत्त्वों को दर्शाता है, जिनसे शृ गार, शात, रौद्र और बीभत्स व्यङ्गनाओं का सामुख्य होता है। कहा जा सकता है कि इन चारों रसों का अद्भुत समन्वय इस भव्य प्रतिमा में अद्भुत कौशल का परिचायक है।

डॉ० तिवारी का कथन है कि "विशुद्ध दर्शन, कला और धर्म की दृष्टि में यदि हम देखें तो निष्पक्षतया यह कहना पड़ता है कि यह अष्टमुखी मूर्ति आज तक सब कला और दर्शन की दृष्टि से अद्वितीय है।"

(२०) क्रिष्ची—जम्मू नगर में चालीस मोन दूर क्रिष्ची नामक स्थान पर पाँच भव्य कलात्मक पाषाण-मंदिर हैं। सुन्दर नक्काशी एवं कलापूर्ण प्रतिमाओं से सज्जित ये मंदिर अतीत में उत्तर तथा दक्षिण के सांस्कृतिक संबंधों के साक्षी हैं। अबतक यह ज्ञात नहीं हो सका कि क्रिष्ची-जंघे निर्जन स्थल पर ऐसे श्रेष्ठ कलापूर्ण देव-मंदिर कैसे निर्मित हुए और इनके शिल्पी कौन थे।

चतुर्दिग नदियों द्वारा घिरे एक निर्जन पठार में स्थित इन देवालयों में पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा कलाप्रेमियों के लिए अन्वेषण योग्य बहुत सामग्री है।

१. देवाग्रिदेव पशुपति एवं वरापुर (हिन्दू-विश्व, मई १९६८) :

श्री कैलासचन्द्र शर्मा

इसमें कोई संदेह नहीं कि इनपर उत्कीर्ण विपुल नक्काशी तथा यहाँ की मूर्ति-कला उच्च कोटि की है ।

इन मंदिरों के स्थापत्य एवं मूर्ति-कला का निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि ये दसवीं सदी के हैं । बताया जाता है कि इसी सदी के लगभग बनार के भव्य मंदिर बनाए गए थे, जो क्रिस्वी से २० मील दक्षिण-पूर्व में हैं ।

क्रिस्वी के देव-मंदिरों की नक्काशी मास्कर्य-विद्या का मनोहर नमूना है । प्रत्येक नमूना दो-दो, चार-चार पाषाण-खंडों पर उत्कीर्ण किया गया है । क्रिस्वी के बड़े मंदिर में तो विशेष रूप से ऊपर से नीचे तक ऐसी ही विस्तृत नक्काशी है । इसके अंदर की दीवारों पर बहुत सी नक्काशियों पर पत्थर लगे हैं । इनमें से प्रत्येक पत्थर स्वयं ही पूर्ण मंदिर के रूप में प्रतीत होता है । इनके शिखरों पर पूर्ण विकसित कमल या सूर्य की आकृतियाँ पाषाण की ही बनी हैं । क्रिस्वी के ये मंदिर मधुमक्खियों के छत्रों की भाँति दिखाई देते हैं ।

जितनी मूर्तियाँ अब तक उपलब्ध हो सकी हैं, उनसे प्रतीत होता है कि उनके शिल्पकार बहुत ही निपुण और प्रवीण थे । श्री सूरज प्रसाद ने दो प्रतिमाएँ स्वयं इधर-उधर बिखरे पत्थरों के बीच से निकाली हैं । उनका कथन है कि इनमें से एक तो विष्णु के वराह-अवतार की है, जो सुन्दर रमणी-रूपी पृथ्वी को राक्षस रूपी सागर से बचाने के लिए अपने कंधे पर उठाए हुए है और राक्षस को अपने पैरों-तले रौंद रहे है । दूसरी, एक मनुष्याकार शिव-प्रतिमा है । ये मूर्तियाँ शिल्प कला के उज्ज्वल उदाहरण हैं ।

बड़े देवागार में टाकर-भाषा में लिखित एक शिना-लेख भी है । किन्तु यह आज तक पढ़ा नहीं जा सका । इसके पढ़े जाने पर मंदिरों के निर्माण काल पर प्रकाश पड़ेगा ।

(२९) एलिफेंटा—धागादूरी द्वीप, जो एलिफेंटा के नाम से प्रसिद्ध है, बंबई से ४ मील दूर समुद्र में है । रविवार को इस द्वीप के भाउच्छा-धकू बंदरगाह पर स्टीमर जाती है । स्टीमर-घाट से लगभग एक मील पर पहाड़ को काटकर गुफा में प्रतिमा, स्तंभ, मंदिर आदि बनाए गए हैं, जो अद्वितीय हैं ।

यहाँ की गुफाओं में त्रिमूर्ति-गुफा मुख्य है । यह एक विशाल गुफा है । यहाँ पास-पास ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की विशाल मूर्तियाँ हैं । एक कमरे में १४ फुट ऊँची अर्द्धनारीश्वर शिव-पार्वती की मूर्ति है । इसके दाहिने ब्रह्मा जी तथा बाएँ गरुड़ पर विराजमान विष्णु जी हैं ।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक त्रिमूर्ति में हुई है। इस प्रतिमा के बीच का मुख स्वयं प्रभावित, निष्क्रिय और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है। दायीं मुख अग्रभूकुटी ताने हुए तथा वैराग्य एवं विनाश की भावना से उद्धत अघोर भैरव का है। बायाँ मुख है शिव की सागिनी, परम सौंदर्यमयी आभूषण-युक्त उमा का।

“भारतीय संस्कृति में उमा अथवा शक्ति, जिनके हाथ में सदैव कमल रहता है, अर्थ और काम अर्थात् संपत्ति, सौंदर्य और जीवन-सौख्य की देवी हैं। अपनों अंगुलियों में साँप लपेटे अघोर भैरव धर्म और मोक्ष के प्रतीक हैं। आत्मलीन पुरुष के लिए सृजन और सहार, क्रिया और ज्ञाति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है, जो जनमती, बढ़ती और अन्य सभी माया की आकृतियों की भाँति तत्पुरुष में ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपों में प्रणाल योगी की भाँति सदाशिव मध्य में ही है, किन्तु दाईं ओर खण्ड से रक्त-पान करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दण्ड में प्रतिबिम्बित ब्रह्मांड के रूप में अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया।”

(२२) **डिचपल्ली का मंदिर**—आंध्रप्रदेश के निजामाबाद जिले में एक गाँव है डिचपल्ली। उसके पास एक पुराना मंदिर है। यह है तो छोटा, पर बड़ा ही सुन्दर है। यह मंदिर ४५ कदम लंबा, २८ कदम चौड़ा तथा ३० कदम ऊँचा है। मंदिर में गुलाब और कमल की खुदाई इतनी खूबी से हुई है, मानो बहुत ही कुशल कारीगरों ने की हो। इस मंदिर के नक्शे और निगार को देखकर श्री गुलाम अहमद काशाना चकित हुए थे। एक कारीगर ने कैसे पत्थर को मोम समझकर तराशा है।

मंदिर का बरामदा बड़ा ही दिलकश है। खम्भों और कंगूरों पर अजीबो-गरीब नक्काशी की हुई है। अंदर की रचना एलोरा के मंदिर की शैली की है। इसके पास एक और मंदिर है और पहाड़ी पर तीसरा। तीनों ही मंदिरों में कोई मूर्ति श्री काशाना को नजर नहीं आई। बहुत खोज करने पर आपको पता चला कि सीताराम नामक एक राजपूत सरदार ने मंदिर और मकान बनवाया था।

दीवार पर चारो ओर मँथुन-मुद्रा की मूर्तियाँ हैं। इन्हें देखकर श्री काशाना चकित हुए कि परमात्मा से मन लगाकर तप करने के स्थान पर ये मूर्तियाँ क्यों ? किंतु उन्हें एक स्थान पर एक तपस्वी लोहे के कडे में पाँच फँसाकर उलटे लटका हुआ देख पड़ा। नीचे आग जल रही थी। साथ ही नजर पड़ी मँथुन-मूर्तियों से भरी दीवार पर। उनकी पहली सुलभ गई। 'हिंदू-धर्म तपस्वी से कहता है कि तुझे सारी मोह-माया और प्रलोभनों में रहकर तप करना है, अपने को इनसे ऊँचा उठाना है। यदि तेरी इद्रियों ने जरा-सी भी बदबवाहिस की तो तेरा सारा किया-कराया तप नष्ट हो जाएगा।' इस दृश्य को देखकर काशाना महोदय कहते हैं—'किस कदर ऊँचा है हिंदू-धर्म का शब्दत और दृढ़ निश्चय का किलासपा ! कितनी ऊँची है उसकी अजमत और शान !!'

(२३) नेपाल की अद्भुत शिल्पकला—हिमालय की गोद में बसे हुए स्वतंत्र हिंदू राज्य के इस घोंसले में तीन राजधानियाँ ऐसी ही हैं, मानो तीन अडे रखे गए हो। अत्यंत प्राचीन राजधानी ललितपट्टन, उसके बाद की भादगाँव, और आज कल की है काठमांडू या काष्ठमंडप। नेपाल के मंदिरों की बनावट हिंदुस्तान के के मंदिरों की बनावट के समान नहीं है। मंदिर की छत से जहाँ बरसात के पानी को धाराएँ गिरती हैं, वहाँ नेपाली लोग छोटी-छोटी घाटियाँ लटकाकर रखते हैं, और बीच में लटकनेवाले लोलक में पीतल के पतले पीपल-पात लगा दिए जाते हैं। जरा-सी हवा लगते ही वे नाचने लगते हैं। यह कला उन्हें सिखानी नहीं पड़ती। एक साथ अनेक घंटियाँ किन-किन की आवाज करने लगती हैं। यह मञ्जुल ध्वनि मंदिर की शांति में खलल नहीं डालती, बल्कि शांति को अधिक, गहरी और मुखरित करती है। भादगाँव की कई मूर्तियाँ तो शिल्पकला के अद्भुत नमूने हैं। शिल्प-शास्त्र के सब नियमों की रक्षा करते भी हुए कलाकार अपनी प्रतिभा को कितनी आजादी दे सकता है, इसके नमूने यदि देखने हो तो इन मूर्तियों को देख लीजिए। मालूम होता है कि यहाँ के मूर्तिकार कला को अतिमानुषी ही मानते हैं।^१

पशुपतिनाथ का मंदिर नगर से अधिक दूर नहीं है। वह ऐसा घोंसला है, मानों मंदिर के झुंड में बड़ा नंदी बंठा हो। निकट में ही बागमती बहती है।

1. दूटा मंदिर, बुलंद क्वाल ('नवनीत', नवम्बर, १९६७) :

गुलाम अहमद काशाना

2. जीवन-लीला : काका कालेसकर; पृ० १६३

गुह्येश्वरी और पशुपतिनाथ के बीच से यह धारा बहती है। इसी कारण उसकी महिमा है।

पशुपतिनाथ से सीधे पश्चिम की ओर शिबु-भगवान का दर्शन होता है। शिबु-भगवान की तलहटी में ध्यानी बुद्ध की एक बड़ी मूर्ति सूर्य के ताप में तपस्या करती है। टेकरी पर एक मंदिर है। उसमें तीन मूर्तियाँ हैं—पहली बुद्ध भगवान की, दूसरी धर्म भगवान् की और तीसरी सध भगवान की। हर एक के सामने घी का दीया जलता है; और एक कोने में लकड़ी के बनाए हुए चीखट में पीतल की एक पोली लाट रडो कर रखी है, जिसपर ऊँ मारने वाले द्रुम (ऊँ मणिपद्मेऽहम्) का पवित्र मंत्र कई बार खुदा हुआ है। बौद्ध-प्रार्थना का रूप है—बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघ शरणं गच्छामि। और ये तीन मूर्तियाँ इन्हीं तीन बुद्ध, धर्म, और शरण का प्रतीक हैं।

(२४) साँची, भरहुत और मथुरा की शिल्पकला—साँची, भरहुत, मथुरा, अजंता, एलोरा आदि की शिल्पकला में लक्ष्मी की अत्यंत सुन्दर एवं मनोहर मूर्तियाँ मिली हैं। साँची के शुग-कालीन स्तूप में एक स्थान पर लक्ष्मी की कमलालय-तप-मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। वह घने कमल-वन में खड़ी है और उनके दोनों हाथों में उ फुल्ल कमल के फूल हैं। तोरण-द्वार पर भी लक्ष्मी के विभिन्न रूप—राजलक्ष्मी, पद्मलक्ष्मी, पद्म श्री—अंकित हैं।

भरहुत की मूर्तियों में श्रीमाँ अकेली हैं। उनके उठे हुए दाहिने हाथ में कमल है। लक्ष्मी से संबंधित सौंदर्य और ऐश्वर्य की अवधारणा का भी उसमें अंतर्भाव है। स्तूप-वेदिका पर राजलक्ष्मी की आकषक आकृति उत्कीर्ण है।

मथुरा में प्राप्त लक्ष्मी की शिन्प-कृति सबसे अधिक कलात्मक एवं मनो-हारिणी है। इसमें लय और गति का सुन्दर समन्वय द्रष्टव्य है। कुशन शिल्पी ने उस भगवती सौंदर्य को प्रस्तर में मूर्तिमान कर अपनी कला-शक्ति का परिचय दिया है। यह मूर्ति लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। यह दूसरी सदी की कृति मानी गई है।

साँची-भरहुत-शैली का शिल्पाकन अमरावती में हुआ है। यहाँ एक रमणी की मनोहर मूर्ति है, जिसको श्रीमूर्ति कहा जाता है। इसके चारों ओर सघन कमल के वन हैं। एक कमल-पुष्प पर लक्ष्मी घुटने पर हाथ रखकर बैठी हैं।

दक्षिण-भारत में कदल-स्थान में क्षीरसागर में कमल-शैल्या पर लेटी हुई लक्ष्मी की मूर्ति कलात्मक और आकर्षक है ।

जयपुर में प्राप्त एक प्रतिमा में दो हाथियों के बीच लक्ष्मी उत्कीर्ण हैं । दोनों हाथी अपनी सूँढ़ों में कमल लिए अभिषेक कर रहे हैं ।

साँची की शिल्पकला की विशेषता :

भरहुत से एक कदम आगे बढ़कर साँची के शिल्प-चित्र में उभरी कला यौवन में मदमाती, लडखडाती चलती हुई रूपगविता नायिका की तरह अपनी सभी कलाओं से पूर्ण हो चुकी थी । जहाँ भरहुत के शिल्प-चित्र अधिक सपाट हैं, वहाँ साँची में वे विकासशील तथा सजीव नजर आते हैं ।

साँची के शिल्प-चित्रों में मानवीय जीवन के तीन स्तर दिखाई पड़ते हैं । एक स्तर उन महान वीनराग तपस्वी, संन्यासी एवं भिक्षु लोगों का है, जो इस ससार में रहते हुए इतर जगत में विचरते थे । उनके सामने ऐहिक सुख-सतोष और प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं था । वे एक महान प्रयत्न के लिए जीते थे—सासारिक अस्तित्व से मानवता को छुटकारा कैसे दिलाया जा सके । इस प्रकार के घनघोर तपस्या में रत तपस्वियों के दुर्लभ चित्र यहाँ देखने को मिलते हैं । इनमें एक बग अग्नि-पूजकों का था, जो शाश्वत अग्नि को हमेशा प्रज्वलित रखना चाहते थे । साँची के पश्चिमी द्वार के तोरण के बाएँ स्तंभ के भीतरी भाग में अग्नि-पूजन का एक विचित्र शिल्प अंकित है । चित्र में दो पर्णकुटियाँ बनी हैं । एक के सामने एक तपस्वी ध्यानलीन बैठा है । दूसरी कुटी में एक तपस्विनी है । दोनों कुटियों के बीच एक अग्नि-पात्र और हवन के लिए लकड़ी का चर्मच रखा है ।

जीवन का दूसरा स्तर राजाओं और श्रीमन्तो का था । एकांत के क्षणों में कामी राज-परिवार का चित्रण साँची के चित्रों में कई बार हुआ है । एक जगह चित्रण किया गया है कि राजा रानी के साथ बैठा है । राजा के हाथ में मदिरा का पात्र है और रानी हाथ में एक गोल बार्हना लिए बठी है । दाहिनी ओर राजा और रानी प्रेमालीन में बखबर हैं । दोनों दृश्यों के बीच एक वृक्ष बना है ।

तीसरा स्तर सामान्य जनता का है । जन-जीवन की भाँकी साँची के कुछ दुर्लभ शिल्प-चित्रों में मिलती है । पूर्वी द्वार-तोरण के बाएँ स्तंभ के भीतरी भाग में दो छोटे-छोटे मकान बने हैं, जिनकी बगल में एक ऊँची अट्टालिका

है। घर में मेवक कायं मे व्यस्त है। एक स्त्री ऊखल में अनाज डालकर दोनो हाथो से कूट रही है। दूसरी स्त्री कूटे हुए अनाज को सूप में पछारकर दाने को भूसी से अलग कर रही है। तीसरी स्त्री सिल पर मसाला पीस रही है। एक युवा मेवक बगल मे बंठा हुआ मसाला पीसनेवाली स्त्री का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा कर रहा है।

साँची के दाहिने द्वार-नोरण के दाहिने स्तंभ पर अंकित दृश्य अचानक ऋग्वेदिक अतीत की ओर खींच ले जाता है, जिसमे वर्णन है कि उषा लज्जा का परित्याग कर अपना वक्ष खोलकर वेश्या की भाँति नृत्य कर रही है।

साँची के पूर्वीय द्वार-नोरण पर अंकित एक दृश्य मे गुरु के अग्निहोत्र की व्यवस्था करते हुए शिष्य दिखाए गए हैं।

(२५) भुवनेश्वर—देवताओ की क्रीडा-भूमि उत्कल मे, भुवनेश्वर, जगन्नाथ-पुरी और कोणार्क के देवायतनों का महत्त्व प्रतिमा को लेकर है। आठवीं से बारहवीं सदी के बीच यहाँ विकसित होती हुई कला ने बड़े मनोहारी दृश्य उपस्थित किए थे। उस दुग के शिल्पो मे चित्रित काम-क्रीडा के दृश्य लबे असें से आधुनिक कला-मर्मज्ञो को चिंता के विषय रहे हैं। तमाम व्याख्याएँ दी गई हैं और उन्हे तर्क की कसीपी पर कसा गया है। डॉक्टर नीहाररजन राय ने इस विषय पर बड़ा ही रंगत मतव्य प्रकट किया है। इनके अनुसार जहाँ पढ़े-लिखे लोग देवायतनों के चित्रणो मे लज्जा अनुभव करने लगते हैं, वही एक सामान्य उडिया ग्रामीण पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नही होती।¹

जन-जीवन की भाँकियाँ सर्वाधिक मात्रा मे हमे परशुरामेश्वर, स्वर्ण-जटेश्वर, लिंगराज और राजा-रानी-मदिरो के अतिरिक्त यत्र-तत्र तथा भुवनेश्वर-सग्रहालय मे देखने को मिलती हैं।

राजपूत-काल मे भी जीवन का आधार और सामाजिक व्यवस्था का सेन्ध-बड परिवार ही था। परशुरामेश्वर-मदिर मे एक राज-दम्पती का बहुत ही भव्य चित्रण किया गया है। एक स्थान पर एक ही स्त्री छोटे बच्चे के

1. शिल्पो में आँकता जीवन—भुवनेश्वर (डॉ० राधचन्द्र बाजपेयी)

—मा० दिगुस्तान १९ मार्च १९६६

साथ मनोविनोद कर रही है। लिंगराज-मंदिर के एक शिल्प-चित्र में केश-प्रसाधन का दृश्य अंकित है। सेविका गृह-स्वामिनी के केशों को सँवारने में व्यस्त है। स्वामिनी के बाल सँवारती हुई सेविका का अलकगण और केश-विन्यास स्पष्ट कर देता है कि वह अपने काम में दक्ष और सुसस्कृत दासी है। लिंगराज-मंदिर में अलसाई हुई सु दरी का अंकन कलाकार की पत्नी दृष्टि का परिचायक है। स्मितवदना, सगीत की लय पर भ्रूमती तथा नृत्य करती सुंदरियाँ लिंगराज-मंदिर के दशक को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। राजा-रानी-मंदिर में दूध की डाल पकड़े हुए, शरीर से विपरीत दिशा में बिचित्र भगियो में खड़ी सु दरी की मांग पर खींच मारता हुआ मयूर और ऊपर ऊँचाई पर पेड़ की डाल पर बठा एक बदर नागरिक साष्ठव और वन्य शालोनता का अद्भुत सम्मिलन-स्थल है। सु दरी के अलकार, केश-विन्यास, भव्य जूडा आदि आनुनिमाओं को भी मात कर सकते हैं।

भुवनेश्वर के शिल्प-चित्रों में तीन मनोरम-दृश्य अंकित हैं। इनमें एक परशुरामेश्वर-मंदिर में है। इस शिल्प में एक व्यक्ति, कोई चीज टोकरी में भर रहा है। दूसरा व्यक्ति हाथ से कोई वजनी चीज उठाए हुए है। तीसरा व्यक्ति उसे एक हाथ से पकड़े है। इस शिल्प का सदमं दैनिक जीवन की छवि अंकित करने के अतिरिक्त भी कुछ है। एक शिल्प-चित्र लिंगराज-मंदिर में कृष्णलीला का परंपरागत चित्र प्रस्तुत करता है।

उपसंहार—कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हिंदू, बौद्ध और जैन-मंदिरों तथा स्तूपों का यहाँ सक्षिप्त वर्णन किया गया है, किन्तु ऐसे तो प्रायः समस्त प्रमुख जैन-मंदिर, मूर्तिकला, चित्रकला एवं स्थापत्य-कला की दृष्टि से उल्लेखनीय होने के कारण भारत के गौरव के प्रतीक हैं। अतः इसमें रुदेह नहीं कि प्रतीक-पूजा के प्रचार से भारत में चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य-कला के विकास में सहायता मिली है। इसी कारण हिंदू, जैन और बौद्ध-मंदिरों की कला की तुलना में गिरजाघर (चर्च) और मस्जिदों की कला फीकी पड़ गई है।

कुछ सहायक संदर्भ-ग्रंथ

१. ऋग्वेद-संहिता प० रामगोविंद त्रिवेदी
२. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३. ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : पं० युधिष्ठिर मीमांसक
४. ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : प० जयदेव शर्मा
५. ऋग्वेद-सायण-भाष्यावलम्बी अनुवाद : आचार्य श्रीराम शर्मा
६. यजुर्वेद-भाष्य ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा
७. " " : स्वामी दयानंद सरस्वती
८. " " : प० जयदेव शर्मा
९. " " : आचार्य श्रीराम शर्मा
१०. सामवेद-संहिता : स्वामी श्रीभगवदाचार्य
११. " " : प० जयदेव शर्मा
१२. " " : आचार्य श्रीराम शर्मा
१३. (क) अथर्ववेद-संहिता : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
- (ख) " " : प० जयदेव शर्मा
- (ग) " " : आचार्य श्रीराम शर्मा
१४. वेदवाणी का विश्लेषक : प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
१५. वैदिक संपत्ति प० रघुनंदन शर्मा
१६. ऐतरेय ब्राह्मण : पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
१७. Rigveda Samhita : H. Wilson
१८. Selections from Rigveda : V. G. Parinik
१९. Religion and Philosophy of Rigveda . Dr. N. J. Sharda.
२०. Pre-Historic Indus Swami Shankaranand
२१. Indus People Speak : " "

२२. Chips from a German workshop : Max Muller
२३. Vedic Mythology : Macdonel
२४. Elements of Hindu Iconography . " "
२५. Unpublished Upanishads : Adyar Library, Madras
२६. 100 Upanishads : " " "
२७. दशोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर
२८. श्वताश्वतर उपनिषद् : " "
२९. ईशावास्योपनिषद् : स्वामी विद्यानन्द
३०. छान्दोग्योपनिषद् : " "
३१. बृहदारण्यक उपनिषद् : " "
३२. दशोपनिषद् : महारमा नारायण स्वामी
३३. १०८ उपनिषद् : आचार्य श्रीराम शर्मा
३४. शैवमत : डॉ० यदुबक्षी
३५. भारतीय प्रतीक-विद्या : डॉ० जनार्दन मिश्र
३६. गणेश : श्री सपूर्णानन्द
३७. पाणिनिकालीन भारत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
३८. भक्ति का विकास : डॉ० मु श्रीराम शर्मा
३९. हिंदुत्व : श्री रामदास गौड़
४०. मानव-धर्मशास्त्र : श्री इन्दिरारमण शास्त्री
४१. पुराण-तत्त्व-मीमांसा : श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
४२. पूजा-तत्त्व : म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज
४३. वाम मार्ग : श्री बशीर शुकल
४४. वैष्णव-धर्म : प्रा० बलदेव उपाध्याय
४५. निर्गुण-साहित्य और सस्कृति की पृष्ठभूमि : डॉ० मोती सिंह
४६. बौद्धधर्म और बिहार : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सूदय'
४७. उत्तर-भारत की सत-परंपरा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
४८. राधास्वामी-योग (भाग १)

२८८] भारत में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरम्भ और विकास

४९. साधना के अनुभव	:	डॉ० चतुर्भुज सहाय
५०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला	:	श्री बदरीनाथ मार्तण्ड
५१. अजंता के चित्रकूट	.	रामकृष्ण दास
५२. मोहंजोदड़ो से काँगडा तक	:	श्री श्यामाप्रसाद चक्रवर्ती
५३. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप	:	डॉ० भमनलाल गीतम
५४. वाल्मीकि-रामायण	.	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
५५. ,, ,,	:	'वेदवाणी' का विशेषांक
५६. महाभारत	.	गीता प्रेस, गोरखपुर
५७. महाभारत-मीमांसा	.	श्री वैद्य

नोट—नवनीत, कादंबिनी, धर्मयुग, हिंदू-विश्व, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओं के कतिपय विद्वत्तापूर्ण लेखों से भी हमें सहायता मिली है। हम इन सबके लेखकों के प्रति आभारी हैं।



अनुक्रमणिका

अ

अवतार	नाम एवं सख्या	29, 126
अवतारवाद	सृष्टितत्त्व-विकास	123
अल्लाहोपनिषद्		40

उ

उपनिषद्	नाम एवं सख्या	39
उपनिषद्-काल	रुद्र का स्थान	42
उपनिषद् मे	उमा, इन्द्र	44

ग

गृह्यसूत्र मे	गणेश	67
गुरु	तीन प्रकार	147
गुरु	फक्कड़ गुरु पाने के साधन	150

च

चित्रकला	हिंदू	233
"	बौद्ध	237
"	अजंता की गुफाएँ	239
"	श्रीपुर	243
"	राजपूत-शैली	244
"	किशनगढ़-कला	248
"	नाथद्वारा की पिछवाहयों	246
"	लेपाक्षी मंदिर	248

ज

जल-प्लावन की घटना		122
जैन-तीर्थ		132
जैन-मंदिर को उधावकता		132

ब

दशोपनिषद् की भर्थादा	40
----------------------	----

ष

पाणिनि-काल के देवता	74
पाणिनि की अष्टाध्यायी	देव-मंदिर 74
पाणिनि-काल	मूर्ति-निर्माण के उद्देश्य 80
पाणिनि-काल	भागवत-धर्म 78
पुराणों के लक्षण	82
पुराणों का रचना-काल	83
पुराणों का उद्देश्य	84
पुराण : धार्मिक समन्वय	86
पाशुपत तन्त्र	88

भ

ब्राह्मण-काल	तंत्र 128
"	आर्य-अनाय-मिश्रण 23
वैदिक धर्म और भागवत धर्म	97
बौद्धधर्म और बौधिसूत्र	135
"	महायान संप्रदाय 135
"	मूर्तिकला 138
"	चित्रकला 239

म

महामृत्युंजय मंत्र	11
महाभारत	तीन संस्करण 52
महाभारत-काल	उपासना 55
मूर्तिकला	भारतीय 249
"	यूनानों कला से तुलना 253
"	कोणार्क 255
"	खजुराहो 259

सूक्तिकला	दिलवारा	262
"	रामेश्वरम्	263
"	जेलसमेर	263
"	बोधगया	265
"	श्रवणबेलगोल	267
"	मीनाक्षी	267
"	शिवसोरी	269
"	कुम्भकोणम्	270
"	बेलूर	270
"	त्रिपुरी	271
"	एकलिंग	272
"	चिदंबरम्	272
"	ग्यालियर	272
"	आमेर	273
"	बूँदावन	277
"	दणपुर	275
"	क्रिम्ची	278
"	एलिफेन्टा	279
"	डिबपल्ली	280
"	पशुपतिनाथ	281
"	साँची, भरहुत, मथुरा	282
"	श्रुवनेश्वर	284
रामायण	तीन पाठ	46
रामायण-काल	निर्णय	46
"	प्रक्षिप्त अंश	47
"	लिग-पूजा	49
ल		
लिग-पूजा	वेद मंत्र	45
लिग शब्द	वास्तविक सत्यार्थ	26

अ

बेद	पुरुषसूक्त -	16
-----	--------------	----

वेद में	गणेश	62
---------	------	----

इ

शाक्त धर्म	मधुर भावना	103
------------	------------	-----

"	मातृ उपासना	103
---	-------------	-----

"	तीन भाव	115
---	---------	-----

"	सात आचार	115
---	----------	-----

"	पंचमकार	116
---	---------	-----

शक्ति	उपासना	131
-------	--------	-----

शाक्ततंत्र		121
------------	--	-----

ए

सतीदाह	की वास्तविकता	38-39
--------	---------------	-------

सूत्रकाल और उपासना		60-61
--------------------	--	-------

सूत्रकाल	गणपति का विकास	61-62
----------	----------------	-------

संतमत में गुह का स्थान		145, 147
------------------------	--	----------

संतमत और निगुण उपासना		145
-----------------------	--	-----

संतमत और तीन प्रकार के गुह		145
----------------------------	--	-----

संतमत	सतनाम की महिमा	152
-------	----------------	-----

"	सुरत शब्द-योग	153
---	---------------	-----

"	सूफी से प्रेरणा	153
---	-----------------	-----

"	आदिगुह कबीर	154
---	-------------	-----

"	साहिब पंथ	157
---	-----------	-----

"	नागी संप्रदाय	158
---	---------------	-----

"	सत्संग	159
---	--------	-----

"	राधास्वामी-मत	163
---	---------------	-----

"	रामाश्रम-सत्संग	175
---	-----------------	-----

"	रहानी सत्संग	188
---	--------------	-----

"	सिक्ख धर्म	190
---	------------	-----

संतभक्त	स्वामी रामतीर्थ	193
”	महात्मा गांधी	193
ह		
हिंदू जनता	सात विभाग	195
हिंदू-व्रत	तीन व्रत	197
”	वैष्णव	198
”	शैव	193
”	विष्णु-शैव संयुक्त	198
”	देवी	198
”	सूर्य	198
”	गणेश	199
”	अन्य देवता	200
हिंदू तीर्थ		200
हिंदू उत्सव-त्योहार		202
हिंदू देव-देवी-समन्वय		203
हिंदू-देवता	शिव	204
”	राम	205
”	कृष्ण	207
”	राधा	209
”	विष्णु	210
”	गणेश	211
”	सुब्रह्मण्यम्	212
”	ब्रह्मा	212
”	सरस्वती	212
”	दुर्गा	213
”	सूर्य	215
”	हनुमान	220
”	नर-नारायण	220

हिंदू-देवता	कामदेव	220
"	विष्णुकर्मा	227
"	करणी देवी	223
"	रानी सती	223
"	नदी	226
"	केरल के देवी-देवता	228
हिंदू-धर्म	विशालता	231
"	रावण-मूर्ति	231
"	दुर्योधन-मूर्ति	231
हिंदू-मुस्लिम संयुक्त मंदिर-मस्जिद		225



